HINDI KAVITA MEIN ADIVASI JIVAN

(1990 SE AB TAK)

Thesis submitted in Partial Fulfillment of the Requirement for the degree of DOCTOR OF PHILOSOPHY in Centre for Dalit & Adivasi Studies And Translation

2019

Submitted By

HANUMAN SAHAI MEENA
12HDPH02

Under the guidance of
PROF. V. KRISHNA

Centre for Dalit & Adivasi Studies And Translation,
School of Humanities
University of Hyderabad
P.O. Central University, Gachibowli,
Hyderabad-500046
Telangana State, India

हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन

(1990 से अब तक)

हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (दलित और आदिवासी अध्ययन एवं अनुवाद केंद्र) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

वर्ष 2019

शोधार्थी

हनुमान सहाय मीना

12HDPH02

शोध-निर्देशक

प्रो. वी. कृष्ण
हिन्दी विभाग, मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500046

विभागाध्यक्ष

प्रो. आर.एस.सर्राजु
मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500046

DECLARATION

I, **HANUMAN SAHAI MEENA** hereby declare that the thesis entitled **"HINDI KAVITA MEIN ADIVASI JIVAN" (1990 SE AB TAK)** (हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन (1990 से अब तक) submitted by me under the guidance and supervision of PROF. V. KRISHNA is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga/INFLIBNET.

Date : 01/04/2019

Signature of the student

HANUMAN SAHAI MEENA

Regd. No. 12HDPH02

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"HINDI KAVITA MEIN ADIVASI JIVAN"** (1990 SE AB TAK) (हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन (1990 से अब तक) submitted by **HANUMAN SAHAI MEENA** bearing Regd. No. 12HDPH02 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in CENTRE FOR DALIT & ADIVASI STUDIES AND TRANSLATION is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any degree or diploma.

Parts of this thesis have been:

A. Published research paper in the following publications:

1. Hindi Adivasi kavita : itihaas aur pravruttiya" have been published in the Aravali Uddghosh traimasik patrika. April-september, 2018, ISSN: 2250-3080, Editor by Dr. Janak singh Meena published from Udaipur, Rajasthan.
2. Aadivasi Kavita itihaas aur vartman" have been published in the yuddhart aam aadami traimasik patrika, oct.-december, 2018, ISSN No-2320-0359, editor by Ramnika Gupta published from Ramnika faundeshan, new Delhi.

B. Research paper Presented in the following conference:

1. Aadivasi Asmita aur samkaaleen hindi kavita" presented at Jainarayan vyas University , Jodhpur, Rajasthan, National seminar, Dated on 8-9 march, 2014.
2. Hindi aadivasi kavita mein prtirodh ka svar" presented at BHU, Varanasi, U.P., National seminar, Dated on 3-4 December, 2017.

Further the student has passed the following courses towards fulfillment of coursework requirement for Ph.D. was exempted from doing coursework

(recommended by Doctoral committee) on the basis of the following courses passed during his M.Phil. Program and the M.Phil. Degree was awarded.

Course Code	Name	Credits	Pass/Fail
1. HN701	Research Methodology	4	Pass
2. HN702	Modern Thought	4	Pass
3. HN722	Philosophy of History Of Literature	4	Pass
4. HN723	Social Context of Hindi & Language Registers	4	Pass
5. HN780	Dissertation	16	Pass

Supervisor
Dept. of Hindi

Head of Department
CDAST

Dean
School of Humanities

भूमिका

("आदिवासी लोग भारतीय सभ्यता के निर्माता है। हिन्दू धर्म बहुत महान हो सकता है, परन्तु आदिवासी दर्शन प्रकृतिवाद और जीववाद की देन है । आदिवासी प्रकृतिवाद कोई जादू-टोना भर नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल आदिवासी ही इस देश को राष्ट्रीय आत्महत्या से बचा सकते हैं।"- जयपाल सिंह मुंडा)

साहित्य की सबसे अधिक प्रभावी और लोकप्रिय विधा कविता है। क्योंकि कविता में जो कहने की ताकत है वह अन्य विधाओं में नहीं है। इसमें काव्य की लोक प्रचलित भाषा का प्रयोग किया जाता है । कविता में कहने की शैली लोकगायन की रही है जो आम पाठक को सीधे तौर पर प्रभावित करती है। अत: कविता को आधुनिक काल की लोकप्रिय विधा के रूप में चुना गया है। इस प्रकार कविता में गीतात्मकता, संगीतात्मकता के काव्य गुण मौजूद है। प्रारम्भिक रूप में आदिवासी कविता का मूल उद्भव गीत के रूप में हुआ है। क्योंकि कविता की मूल प्रकृति ही गीत की रही है। आदिवासी साहित्य की मौखिक परम्परा कहानी-किस्से, गीत, पहेलियों, कहावतों के रूप में रही है।

विमर्शों के शुरूआती दौर में आदिवासी विमर्श एक हाशिये के विमर्श के रूप में सामने आया है। इस विमर्श के रूप में आदिवासी चिंतन का दर्शन प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ है। आदिवासी हमेशा से प्रकृति पूजक रहा है उसके दर्शन का आधार है- सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहभागिता, और विश्व-बंधुत्व की भावना रही है। इस दर्शन में ही आदिवासी साहित्य का चिंतन मानवीयता के साथ विश्व-समुदाय को

'वसुधैव-कुटुम्बकम्' के मूलसूत्र के साथ जोड़ता है। दरअसल आदिवासी साहित्य की मूल परम्परा लोक परम्परा के रूप में उनके लोकगीतों,लोकनाट्य के रूप में विद्यमान रही है। वैसे मौखिक रूप में लोकगीतों के माध्यम से आदिवासी दर्शन एक चिंतन के रूप में जुड़कर कविता के रूप में प्रकट हुआ है। उनकी कविता में लयात्मकता और संगीतात्मकता दोनों तत्वों का प्रभाव दिखाई देता है।

आदिम संस्कृति से लेकर आज तक का इतिहास, मिथक, लोककथाओं के इतिहास रूप में उपलब्ध है। आदिवासी इतिहास, प्राचीन परम्पराओं का द्योतक रहा है, जिसमें प्रकृति के विविध रूपों जैसे- नदी, पहाड़,जंगल, जमीन और उनके वाद्ययंत्र उनकी परम्पराओं के पोषक हैं। आदिवासी लोक में साहित्य सहित विविध कलाओं का विकास तथाकथित मुख्यधारा से पहले हो चुका था। लेकिन वहाँ साहित्य सृजन की परम्परा मौखिक रूप में रही जिसने आदिवासी साहित्य में परम्पराओं को पोषित करने की भूमिका का निर्वाह करने का काम किया। जंगलों से खदेड़ दिए जाने के बाद आदिवासी समाज ने लोक परम्परा को जीवित बनाए रखा जिसमें महत्त्वपूर्ण योगदान उनके लोकगीतों का रहा है। क्योंकि उनके गीतों में सामूहिकता और सहअस्तित्व की जीवन दृष्टि के सूत्र समाहित हैं। साहित्य की इस सृजन परम्परा में गैर-आदिवासी रचनाकारों ने भी बढ़-चढ़कर अपने लेखन में आदिवासी जीवन की परम्परा को समाहित किया। शोषण की प्रक्रिया में आदिवासी समाज का प्रतिरोध अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए रचनात्मक ऊर्जा के साथ साहित्य में प्रस्तुत हुआ। इसकी बानगी हमें आदिवासी कविताओं में सीधे तौर पर सकारात्मक रूप में देखने को मिलती है। इसी रचनात्मक ऊर्जा के साथ-साथ आदिवासी साहित्य की अवधारणा का नया भूगोल तैयार किया गया।

इसी दर्शन के साथ जमीन और जीवन को बचाने के हक़ में 'आत्मनिर्णय' के साथ आदिवासी प्रतिरोध के स्वर के साथ आगे बढ़ रहे हैं।

आदिवासी साहित्य विमर्श की अवधारणा अभी निर्माण प्रक्रिया में उपस्थित है। पिछले कुछ सालों से आदिवासी समाज, संस्कृति और भाषा पर चर्चा आदिवासी रचनाकारों ने नए प्रोत्साहन के साथ अपनी बात रखने की कोशिश की है। इस साहित्यिक आन्दोलन में पत्र-पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आदिवासी लेखन की परम्परा मौखिक रूप में रही है जिसे आदिवासी रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से आदिवासी चेतना से लैस होकर आदिवासी साहित्य में सकारात्मक उपस्थिति दर्ज की है। जिस तरह से स्त्री साहित्य और दलित साहित्य ने आत्मकथात्मक लेखन के माध्यम से अस्मिता के स्वर को मजबूती प्रदान की है। उसी तरह आदिवासी रचनाकारों ने कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक आदि विधाओं के रूप में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति आदिवासी दर्शन के रूप में प्रस्तुत की है।

वास्तव में आदिवासी साहित्य रचाव-बचाव की प्रक्रिया के साथ आगे बढ़ रहा है। विस्थापन की प्रक्रिया में आदिवासी समाज शोषण के खिलाफ आत्मचेतना के साथ मातृभाषा में प्रतिरोध दर्ज कर रहा है। क्योंकि आदिवासी साहित्य आदिवासी चेतना के मूलतत्त्व से जुड़ा हुआ है जो कि आत्मनिर्णय के साथ अपने अधिकारों के लिए लड़ रहा है। इसी आदिवासी चेतना से लैस होकर आदिवासी कविता आदिवासी भाषाओं में रचनात्मक ऊर्जा के साथ शोषण की प्रक्रिया में नई आधारभूमि तैयार कर रही है। आदिवासी लेखन की इस परम्परा में आदिवासी

साहित्य की मौखिक रूप में एक लम्बी परम्परा रही है । जिसमें आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी भाषाओं के साथ एक बड़ा आन्दोलन खड़ा किया जिसका व्यापक प्रभाव आदिवासी साहित्य में देखने को मिल रहा है । क्योंकि इसी प्रक्रिया में कविता लेखन की परम्परा शोषण के खिलाफ मुक्ति का स्वर छेड़ती हुई अस्मिता का प्रस्थान बिंदु बनाती है । वैसे देखा जाए तो आदिवासी कविता की वैचारिक जमीन आदिवासी लेखक आदिवासी चेतना के साथ तैयार हो रही है । इसी गेय परम्परा के साथ आदिवासी साहित्य दलित साहित्य की तरह सहानुभूति और स्वानुभूति के सवाल को नकार कर उसे अपनी अस्मिताबोध से जोड़कर देख रहा है।

शोध विषय का चयन

शोध-विषय का चयन अपने आप में महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। इस कार्य के लिए मैंने हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन (1990 से अब तक) के समय को केन्द्रित कर शोध विषय को अध्ययन का विषय बनाया है। मैंने देश के कई केन्द्रीय और राज्य स्तरीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग और दलित-आदिवासी केंद्र में हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन पर केन्द्रित शोध-कार्यों का अनुशीलन किया है । हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन से संबंधित विषय पर अब तक पीएचडी में कोई शोध-कार्य मेरी जानकारी में नहीं हुआ है , लेकिन इस विषय को लेकर वर्तमान में शोध-कार्य हो रहे हैं।

‘हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन (1990 से अब तक)” शोध-विषय को कुल पाँच अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय 'आदिवासी समाज : अवधारणा और विकास' में विषय की सैद्धांतिक रुपरेखा, आदिवासी समाज की अवधारणा और विकास को केंद्र में रखकर आदिवासी समाज के स्वरूप और उसके विविध पहलुओं को रेखांकित किया गया है। इस शीर्षक को कुल नौ उप-शीर्षकों में विभक्त किया है। पहला उप-शीर्षक 'आदिवासी शब्द का अर्थ एवं परिभाषा' से संबंधित है। प्रस्तुत उप-शीर्षक में विभिन्न विद्वानों, समाजशास्त्रियों का संदर्भ देते हुए 'आदिवासी' शब्द का अर्थ व्यापक रूप में दिया है। भारतीय ज्ञानकोश में आदिवासी को गिरिजन, जंगली, असभ्य आदि नामों से अभिहित किया है। विभिन्न विद्वानों के द्वारा 'आदिवासी' शब्द की परिभाषा अलग-अलग ढंग से बताने के प्रयास किया है।

दूसरा उप-शीर्षक- 'आदिवासी समाज की अवधारणा' से संबंधित है। इस उप-शीर्षक में आदिवासी समाज का परिचय दिया गया है। आदिवासी समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक पहचान को इस शीर्षक का विषय बनाया है। तीसरा उप-शीर्षक 'आदिवासी मिथक और इतिहास' से संबंधित हैं। इस शीर्षक में आदिवासी मिथक की परम्परा पर बात करते हुए उसके योगदान पर प्रकाश डाला गया है। आदिवासी समाज में मिथक की क्या भूमिका रही है ? उसके अवदानों का विवेचन किया गया है। चौथा उप-शीर्षक 'आदिवासी संस्कृति' से संबंधित है। इस शीर्षक में आदिवासी संस्कृति के स्वरूपों का विवेचन किया हैं। पाँचवा उप-शीर्षक 'आदिवासी धर्म' से संबंधित हैं। इस शीर्षक में आदिवासी धर्म की पुनर्व्याख्या आदिवासी मिथक से जोड़कर की है और भारतीय संदर्भ में आदिवासी धर्म की उपयोगिता के अवदानों पर भी प्रकाश डाला गया है। छठवाँ उप-शीर्षक

'आदिवासी दर्शन' से संबंधित है। इस शीर्षक में आदिवासी दर्शन की समग्रता को विश्वदृष्टिकोण के साथ दिखाने का प्रयास किया गया है। भूमंडलीकरण के इस दौर में आदिवासी- दर्शन पर पड़ने वाले नकारात्मक पहलुओं का भी विवेचन किया गया है। सातवाँ उप-शीर्षक 'आदिवासी विद्रोह' से संबंधित है। इस उप-शीर्षक के अंतर्गत मैंने आदिवासी विद्रोह के इतिहास, परम्परा का सविस्तार से विवेचन किया है। विद्रोह के क्रम में कोल -विद्रोह, बिरसा, मुंडा- विद्रोह, संथाल -विद्रोह और मानगढ़- विद्रोह के इतिहास का संक्षिप्त परिचय दिया है । आठवाँ उप-शीर्षक 'आदिवासी समस्याएँ एवं चुनौतियाँ' से संबंधित है। इस उप-शीर्षक के अंतर्गत मैंने वर्तमान समय में होने वाली आदिवासियों की समस्याओं से अवगत कराने का प्रयास किया है। जिसमें मूलभूत समस्या आदिवासी समाज में जल, जंगल, जमीन की रही है, जिसके लिए वह वर्षों से संघर्ष कर रहा है। हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने दस लाख आदिवासियों को जंगल से बेदखल करने का आदेश सुनाया। साथ ही जुलाई 2019 तक सरकारों से अपने-अपने पक्ष रखने की बात भी की है । सरकार भी आदिवासियों के हितों के संरक्षण करने की बजाय उनके अधिकारों का हनन करने में लगी हुई हैं। नवाँ उप-शीर्षक 'भूमंडलीकरण और आदिवासी' से संबंधित है। इस उप-शीर्षक के अंतर्गत भूमंडलीकरण के द्वारा आदिवासी समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया गया है। भूमंडलीकरण से जोड़ते हुए आदिवासी समाज के यथार्थ पक्षों को उजागर करने की कोशिश की है।

द्वितीय अध्याय 'हिन्दी की आदिवासी कविता : इतिहास और प्रवृत्तियाँ' के अंतर्गत इतिहास और प्रवृत्तियों का अध्ययन किया गया है। इस शीर्षक को शोध की दृष्टि से

मैंने मुख्य बिन्दुओं के माध्यम से दो रूपों में वर्गीकृत किया है। पहला उप-शीर्षक 'हिन्दी की आदिवासी कविता का इतिहास' पर अध्ययन करते हुए हिन्दी की आदिवासी कविता के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डाला है। आदिवासी कविता के इतिहास को तीन बिन्दुओं को आधार मानकर वर्गीकरण किया है। इस क्रम में आजादी से पहले, 1990 से पहले और 1990 के बाद की कविताओं को मुख्य विषय बनाकर आदिवासी कविता के इतिहास को बताने की कोशिश की है। दूसरा उप-शीर्षक 'हिन्दी की आदिवासी कविता की प्रवृत्तियाँ' से संबंधित है। इस उप-शीर्षक के अंतर्गत मैंने हिन्दी आदिवासी कविता की मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन बिन्दुवार करने का प्रयास किया है। इन बिन्दुओं के अंतर्गत मैंने प्रकृति से सहजात संबंध, सामुदायिकता की भावना, जल, जंगल, जमीन का सवाल, अस्तित्व और अस्मिता के प्रतिमान, इतिहास बोध, आदिवासी स्त्री अस्मितामूलक चुनौतियाँ, विकास बनाम विस्थापन, भूमंडलीकरण और पूँजीवाद को अध्ययन का विषय बनाकर सविस्तार से बताने का प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय 'हिन्दी की आदिवासी कविता: अस्तित्व एवं अस्मिता के सवाल' से संबंधित है। इस शीर्षक को मैंने दो उप-शीर्षकों के अंतर्गत रखकर शोध अध्ययन किया है। पहला उप-शीर्षक में हिन्दी की आदिवासी कविता अस्तित्व के सवाल को रखकर बिन्दुवार उनका अध्ययन-विश्लेषण किया है। इस उप शीर्षक में विकास के मॉडल के नाम पर विनाश, घुसपैठ की समस्या, मिथ व इतिहास, सांस्कृतिक अस्मिता और पलायन एवं विस्थापन को आधार बनाकर विवेचन करने का प्रयास किया है। दूसरा उप-शीर्षक में हिन्दी की आदिवासी कविता में अस्मिता के सवाल

से संबंधित हैं । इस शीर्षक के अंतर्गत पुरखों के प्रति दृष्टिकोण, आदिवासी स्त्री अस्मिता, प्रकृति के साथ रिश्ता, आदिधरम अस्मिता एवं भाषाई अस्मिता के सवालों को मुख्य विषय बनाया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'हिन्दी की आदिवासी कविता : आदिवासी जीवन-दृष्टि' से संबंधित हैं । इस शीर्षक को शोध की दृष्टि से दो उप-शीर्षकों में वर्गीकृत किया हैं । पहला उप-शीर्षक आदिवासी जीवन दृष्टि के मूल्य-बोध हैं । इसमें मैंने आदिवासी जीवन-दृष्टि के मूल्यबोध के रूप में समतामूलक समाज, आदिम समाज के मूल्यों में समानता एवं स्वतंत्रता, जनतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता, सामंतवादी मूल्यों का क्षरण तथा पूँजी/अर्थ प्रणाली का अभाव को मुख्य विषय बनाकर आदिवासी कविता की जीवन-दृष्टि को समझने की कोशिश की हैं । दूसरा उप-शीर्षक गैर-आदिवासी कविता लेखन : जीवन-दृष्टि से संबंधित हैं । इस शीर्षक के अंतर्गत गैर-आदिवासी कवियों की रोमानियत तथा यथार्थवादी दृष्टि को केंद्रित करके आदिवासी कविता का विश्लेषण किया हैं।

पंचम् अध्याय 'आदिवासी हिन्दी कविता : भाषा के विविध रूप' से संबंधित हैं । इस शीर्षक को मैंने शोध-विश्लेषण की दृष्टि से छ: भागों में विभक्त किया हैं । पहले उप-शीर्षक के अंतर्गत आदिवासी कविता के स्रोत तत्वों का वर्णन किया है । दूसरे उप-शीर्षक के अंतर्गत भारत के प्रमुख भाषा परिवारों का वर्गीकरण किया हैं । तीसरे उप-शीर्षक के अंतर्गत मिथक को रखा है, जिसमें आदिवासी लोक में मिथक परम्परा की उपयोगिता का वर्णन किया हैं । चौथा उप-शीर्षक में प्रतीक को रखा है , इसके अंतर्गत आदिवासी समाज के प्रतीकों का विस्तृत अध्ययन किया हैं । पाँचवा

उप-शीर्षक हिन्दी आदिवासी कविता में लोकभाषा का प्रयोग से संबंधित हैं। इस शीर्षक के अंतर्गत आदिवासी लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है।

शोध प्रबंध के अंत में आलोच्य रचनाकारों हरिराम मीणा, केदारप्रसाद मीणा, महादेव टोप्पो का साक्षात्कार लिया है जिससे मुझे इन रचनाकारों की रचना दृष्टि को समझने में सहायता मिली है। साथ ही इन साक्षात्कारों के माध्यम से आलोच्य रचनाकारों की आदिवासी समाज के प्रति रचना दृष्टि भी स्पष्ट हो जाती है।

मैंने अपनी शोध-प्रबंध रूपी साधना आदरणीय गुरुवर प्रो. वी.कृष्ण के सान्निध्य में रहकर की है। उन्होंने इस शोध प्रबंध हेतु विषय चयन में सहायता की, विद्वतापूर्ण निर्देशन दिया तथा शोध-प्रबंध के प्रत्येक चरण में शोध संबंधी उलझनों को दुरस्त करने का काम किया। इस शोध कार्य को सफल बनाने के लिए मैं उनका हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को सम्पन्न करने में एक पड़ाव आलोच्य रचनाकारों हरिराम मीणा, वंदना टेटे, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन का आता है। उन्होंने मुझे अपना बहुमूल्य समय देकर मेरी उलझनों को दूर करने का प्रयास किया। इसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ।

मैं आभारी हूँ मेरे परिवारजनों के प्रति, जिन्होंने मुझे उच्चतर शिक्षा हेतु प्रेरित किया तथा उचित वातावरण प्रदान किया। मेरे प्रेरणास्रोत मेरे पूज्य माता-पिता और मेरे प्रिय अनुज ओमप्रकाश, महेन्द्र कुमार, छोटी-सी प्यारी बहन मंजू जिन्होंने समय-समय पर मुझे हौसला देने का काम किया।

हिन्दी विभाग एवं सी-डेस्ट हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद के समस्त गुरुजनों, सी-डेस्ट के अध्यक्ष प्रो. आर.एस. सर्राजु एवं शोध सलाहकार समिति के सदस्य डॉ. भीमसिंह व डॉ. एम.एन. राजेश जी के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर इस शोध कार्य की सम्पन्नता में मेरा मार्ग निर्देशन किया। मेरे इस शोध-प्रबंध लेखन की यात्रा में आदरणीय सर डॉ. भीमसिंह का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने मेरी टंकण संबंधी अशुद्धियों को दूर करने का प्रयास किया।

दिनांकः 01/4 /2019 **हनुमान सहाय मीना**

अनुक्रमणिका

हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन (1990 से अब तक)

पृष्ठ संख्या

भूमिका i-x

प्रथम अध्याय - आदिवासी समाज : अवधारणा और विकास 1-50

1.1. 'आदिवासी' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

1.2. आदिवासी समाज की अवधारणा

1.3. आदिवासी मिथक और इतिहास

1.4. आदिवासी संस्कृति

1.5. आदिवासी धर्म

1.6. आदिवासी दर्शन

1.7. आदिवासी विद्रोह

1.7.1.कोल विद्रोह

1.7.2.बिरसा मुंडा विद्रोह

1.7.3. संथाल विद्रोह

1.7.4.मानगढ़ विद्रोह

1.8. आदिवासी समस्याएँ एवं चुनौतियाँ

1.9. भूमंडलीकरण और आदिवासी

द्वितीय अध्याय- हिन्दी की आदिवासी कविता: इतिहास और प्रवृत्तियाँ 51-120

2.1. हिन्दी की आदिवासी कविता का इतिहास

2.1.1.आजादी से पूर्व

2.1.2. आजादी से 1990 तक

2.1.3. 1990 से अद्यतन

2.2. हिन्दी की आदिवासी कविता की प्रवृत्तियाँ

2.2.1.प्रकृति से सहजात संबंध

2.2.2. सामुदायिकता

2.2.3.जल, जंगल, जमीन का सवाल

2.2.4. अस्तित्व और अस्मिता के प्रतिमान

2.2.5. इतिहास-बोध

2.2.6. आदिवासी स्त्री अस्मितामूलक चुनौतियाँ

2.2.7. विकास बनाम विस्थापन

2.2.8.भूमंडलीकरण और पूँजीवाद

2.2.9. अंधविश्वास एवं कुरीतियाँ

तृतीय अध्याय – हिन्दी की आदिवासी कविता : अस्तित्व एवं अस्मिता के सवाल 121-185

3.1.हिन्दी की आदिवासी कविता में अस्तित्व के सवाल

3.1.1. ‘विकास’ के मॉडल के नाम पर विनाश

3.1.2. घुसपैठ की समस्या

3.1.3. ‘मिथक’ व इतिहास

3.1.4. सांस्कृतिक अस्तित्व

3.1.5. पलायन और विस्थापन

3.2.हिन्दी आदिवासी कविता में अस्मिता के सवाल

3.2.1. पुरखों के प्रति दृष्टिकोण

3.2.2. आदिवासी स्त्री अस्मिता

3.2.3. प्रकृति के साथ रिश्ता

3.2.4. आदिधरम अस्मिता

3.2.5. भाषाई अस्मिता

चतुर्थ अध्याय- हिन्दी की आदिवासी कविता : आदिवासी जीवन-दृष्टि 186-264

4.1. आदिवासी जीवन दृष्टि : मूल्यबोध

4.1.1. समतामूलक समाज

4.1.2. आदिम समाज में समानता एवं स्वतंत्रता के मूल्य

4.1.3. जनतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता

4.1.4. सामंतवादी मूल्यों का क्षरण

4.1.5. पूँजी का अभाव

4.2. गैर-आदिवासी कविता लेखन : जीवन दृष्टि

4.2.1. रोमानियत दृष्टि

4.2.2. यथार्थवादी दृष्टि

पंचम् अध्याय - आदिवासी हिन्दी कविता : भाषा के विविध रूप 265-313

5.1. आदिवासी कविता के स्रोत तत्व

5.2. भारत के प्रमुख भाषा परिवार

5.2.1.आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार

5.2.2. चीनी -तिब्बती भाषा परिवार

5.2.3. द्रविड़ भाषा परिवार

5.2.4. अंडमानी भाषा परिवार

5.2.5. भारोपीय आर्य भाषा परिवार

5.3. मिथक

5.4. प्रतीक

5.5. बिम्ब

5.6. हिन्दी आदिवासी कविता में लोकभाषा का प्रयोग

उपसंहार 314-328

संदर्भ ग्रंथ सूची 329-340

1. आधार-ग्रन्थ
2. सहायक ग्रन्थ
3. पत्र-पत्रिकाएँ
4. कोश
5. वेब-सामग्री
6. पुस्तकालय

परिशिष्ट 341-375

1. आदिवासी रचनाकारों से लिए गए साक्षात्कार(हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, केदारप्रसाद मीणा)
2. प्रकाशित शोध-आलेख -1
3. प्रकाशित शोध-आलेख -2
4. राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र -1
5. राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र -2

प्रथम अध्याय

आदिवासी समाज : अवधारणा और विकास

1.1. 'आदिवासी' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

1.2. आदिवासी समाज की अवधारणा

1.3. आदिवासी मिथक और इतिहास

1.4. आदिवासी संस्कृति

1.5. आदिवासी धर्म

1.6. आदिवासी दर्शन

1.7. आदिवासी विद्रोह

1.7.1. कोल विद्रोह

1.7.2. बिरसा मुंडा विद्रोह

1.7.3. संथाल विद्रोह

1.7.4. मानगढ़ विद्रोह

1.8. आदिवासी समस्याएँ एवं चुनौतियाँ

1.9. भूमंडलीकरण और आदिवासी

प्रथम अध्याय

आदिवासी समाज : अवधारणा और विकास

प्रस्तावना-

आदिवासी समाज हमेशा से प्रकृति के सान्निध्य में रहता आया है। हमें आज आदिवासी समाज का मौखिक इतिहास बताता है कि वह प्रकृति पूजक रहा है। उसकी पहचान उसकी संस्कृति है । आदिवासी समाज में सहअस्तित्व और सहभागिता की भावना उसके मूल दर्शन के साथ जुड़ी हुई है । रूपचन्द्र वर्मा की पुस्तक 'भारतीय जनजातियाँ' में आदिवासी समाज की अवधारणा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है-"आदिवासी समाज के संदर्भ में यह आम धारणा है कि यह समाज 'मुख्यधारा' से अलग रहने वाला (अर्द्ध) मनुष्य-समूह है । आदिवासी समुदाय का अर्थ है जो आदिम युग से अपने मूल प्रदेश अथवा क्षेत्रों में, अपनी मौलिक स्थिति एवं परिस्थितियों के साथ निवास कर रहे हैं उन्हें मूलवासी, वनवासी, आदिम जन, जंगल-पहाड़ में रहने वाला आदि नामों से पुकारा जाता है । भारत के आदिवासी कबीलों को भारतीय संविधान के अंतर्गत अनुसूचित जनजाति के रूप में अधिसूचित किया गया है । सभी जनजातीय समाजों के आचार-विचार, रहन-सहन, संस्कृति, धार्मिक परम्पराएँ भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु भिन्नताओं के बावजूद भी इनके सामाजिक-सांस्कृतिक विकास में कुछ समानताएं नज़र आती हैं, जिनके आधार पर ही इन समुदायों को सम्मिलित रूप से आदिवासी कहकर पुकारा जाता है । मानव समाज

का एक विशिष्ट प्रवर्ग 'आदिवासी' है । भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आदिवासियों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी, आदिम समाज का सटीक उदाहरण माने जाते हैं । उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, कानून को समझकर हम यह जान सकते हैं कि आदिकाल के भारत के निवासी किस ढंग से रहते थे तथा उनके रीति-रिवाज क्या थे ? जनजातीय लोग आम भाषा में आदिवासी कहलाते हैं ।"[1]

मानवशास्त्री ऐसे लोगों को आदिवासी के रूप में पहचानते हैं, जिन्होंने अपना सदियों पुराना रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा सामाजिक संगठन उसी रूप में सुरक्षित रखा है जो समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करता है। विश्व समुदाय, खासकर भारतीय समुदाय में आदिवासी समाज एकमात्र ऐसा समूह है जो आज भी विकास और वैज्ञानिकता से अनभिज्ञ और अछूता रहकर अपनी वीरान दुनिया में सिमटा हुआ है । अस्मिता बोध रहित होने एवं शेष समाज से पृथक रहने के कारण आदिवासी समाज मुख्यधारा के मानव समाज के अन्दर आ रहे विचलनों से तो दूर रहा, लेकिन इसके चलते वह शेष समाज से कटता चला गया और एक समय ऐसा आया जब उसका अस्तित्व के संकट की कगार पर पहुँच गया । अपनी जीवन शैली की जिन खासियतों को सुरक्षित और संरक्षित रखने के लिए वह मुख्यधारा के समाज से दूरी बनाता रहा, उन्हीं विशेषताओं और संरचनाओं को विज्ञान तकनीकी और विकास ने तहस-नहस कर डाला। परिणामस्वरूप आज आदिवासी समाज का अस्तित्व और अस्मिता संकट में है ।

[1] भारतीय जनजातियाँ- रूपचंद्र वर्मा, भूमिका, पृ. 1

आदिवासियों का ही एक ऐसा समाज रहा है जो हमेशा से प्रकृति पर ही निर्भर रहा है। जहाँ तक अस्तित्व की बात की जाए तो आदिवासियों ने अस्तित्व के लिए जल, जंगल और जमीन को जीने का आधार माना है । इस प्रकार से आदिकाल से आदिवासी समाज की आजीविका जल, जंगल और जमीन पर आधारित है । आज आदिवासी समाज में आक्रोश इसलिए है, क्योंकि इस मुख्यधारा की व्यवस्था की संवेदनशीलता के कारण आदिवासियों के समक्ष उनकी अपनी अस्मिता और अस्तित्व का सवाल उभरकर आता है । यह सवाल आदिवासियों की सामाजिक बनावट और आजीविका के साधन जैसे-जल, जंगल और जमीन से भी जुड़ा हुआ है। सुमित गुहा आदिवासी अस्मिता को भारतीय आन्दोलन के संदर्भ में जोड़कर देखते हैं, जिसका विस्तृत विवेचन उनकी पुस्तक 'beyond Caste' में मिलता है-

'Any attempt to conceive of adivasi studies as an autonomous domain of research faces a paradox. Till British, the nationalists and even the communists in India. Saw in the 'tribe' an archaic embodiment of authenticity and radicality, which could generate a temporal imperative and a political aesthetic 'other' than the modern.[2] राष्ट्रवादियों ने आदिम सभ्यता को प्रमाणित रूप से मौखिक संदर्भ में आधुनिकता के साथ जोड़कर देखा है । उनका मानना है कि आदिवासी अपनी आदिम यानी पुरातन संस्कृति के पुरोधा है। उनकी संस्कृति प्रमाणित और वैश्विक है। भारतीय व्यवस्था ने गांधीवादी-नेहरूवादी मॉडल के चश्मे से आदिवासियों के विकास का पैमाना तैयार किया । गांधीवादी और कम्युनिस्टों के द्वारा आदिवासियों

[2] Sumit Guha, Beyond Caste : Identity and power in south asia, past and present, Leiden, 2013, p. no. 23

पर थोपा जाने वाला विचार एक तरह से आदिवासी दर्शन के मायने में पूरी तरह से फिट नहीं हो पाया। इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रो. वीर भारत तलवार लिखते हैं- "गांधीवादी ऊँची जातियों की सवर्ण मानसिकता के साथ आदिवासियों को सुसंस्कृत बनाने की कोशिश करते रहे। दूसरी ओर कम्युनिस्ट आदिवासियों को एक क्रांतिकारी वर्ग के हिसाब से देखते रहे जो उन लोगों द्वारा तय की गयी नयी जनवादी या राष्ट्रीय जनवादी क्रांति में अपनी भूमिका अदा करेगे। गांधीवादियों और कम्युनिस्टों, दोनों ने आदिवासियों पर अपनी चेतना थोपने और उन्हें वैचारिक ढांचे और कार्यक्रम में फिट करने की कोशिश की। दोनों ने आदिवासियों की चेतना को, उनकी विशिष्ट ऐतिहासिक और सामाजिक स्थिति को भीतर से समझने की कोशिश नहीं की। इस तरह से औपनिवेशिक काल में आदिवासी प्रश्न राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा से करीब-करीब बाहर रहा। आजादी के बाद जवाहरलाल नेहरु ने वेरियर एलविन से प्रभावित होकर आदिवासियों के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया, उसमें कथनी और करनी के बीच कोई मेल नहीं था।"[3] इस तरह से व्यावहारिक रूप से पूँजीवादी और व्यावसायिक ताकतों ने आदिवासी क्षेत्रों में शोषण किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि आदिवासियों की पारम्परिक स्वशासन व्यवस्था एक बेहतर राजनीतिक प्रणाली है। भारतीय कांग्रेसी उम्मीद कर रहे थे कि गांधीवाद का जादू आदिवासियों को अपने जंगल से विस्थापित कर देगा लेकिन इसके विपरीत हुआ। गांधीवाद ने आदिवासियों के बीच दिकुओं को पहले से कहीं ज्यादा संदेहास्पद बनाने का काम किया है। इससे वे जागरूक हुए हैं। आदिवासी आन्दोलन की ताकत की पहलू उनके स्वयं की आत्मरक्षात्मक चेतना है।

[3] झारखंड के आदिवासियों के बीच- वीर भारत तलवार, पृ. 111

1.1.'आदिवासी' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

'आदिवासी' शब्द 'आदि' और 'वासी' दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है भारत के मूलनिवासी जो कि आर्यों से पहले के हैं। 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'ट्राइब'(Tribe) के भारतीय हिंदी अनुवाद के पर्याय के रूप में होता है। अंग्रेजी भाषा का शब्द 'ट्राइब' मूल रूप से लैटिन भाषा के 'ट्राइब्स' से बना है। भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा आदिवासियों का रहा है। पुरातन लेखों में आदिवासियों को अत्विका और वनवासी कहा गया है(संस्कृत ग्रन्थों में) संविधान में आदिवासियों के लिए अनुसूचित जनजाति का प्रयोग किया गया है। भारत के प्रमुख आदिवासी समुदायों में संथाल, गोंड, मुंडा, खडिया, हो, बोड़ो, भील, गरासिया, सहरिया, मीणा, उरांव आदि है। आदिवासी विश्व के लगभग सभी भागों में निवास करते हैं। भारत में आदिवासियों की आबादी अफ्रीका के बाद सर्वाधिक है। आदिवासी लोग भारतीय प्रायद्वीप के मूलनिवासी हैं। मूलनिवासी होने के कारण ही इन्हें 'आदिवासी' कहा जाता है।

'आदिवासी' शब्द के महत्त्व और ऐतिहासिक पहलुओं पर दृष्टिपात करते हुए डॉ. रामदयाल मुंडा ने 'अनुसूचित जनजाति' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है- "महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरु एवं देश के दूसरे बड़े नेताओं ने देश के आदिवासियों को स्वतंत्रता की लड़ाई के ज़माने से ही इस नाम से संबोधित कर गौरवान्वित किया है, इस शब्द को संवैधानिक मान्यता नहीं है। संवैधानिक शब्द है, 'अनुसूचित जनजाति'। दूसरी ओर 'अनुसूचित-जनजाति' में यह इशारा साफ़ है कि यह 'अनुसूचित' होना एक अस्थायी स्थिति है और शेष बचे 'जनजाति' के रूप में

भी आदिवासी, भारतीय जाति व्यवस्था का ही अंग है ।"[4] इसी क्रम में भारतीय समाज व्यवस्था में आदिवासियों के संवैधानिक मूल अधिकारों का हवाला देते हुए रामदयाल मुंडा 'जनजाति' शब्द की अवधारणा को भारतीय जनमानस की संकीर्णताओं का प्रतिफलन मानते हैं और उनके अनुसार 'आदिवासी' शब्द की अवधारणा सामूहिकता का जीवनानुभव होता है।

इसी क्रम में डॉ. कोशाम्बी के अनुसार 'भारतीय इतिहास के सभी कालखंडो में हम देखते हैं कि आदिवासी तत्वों का समूचे भारतीय समाज में प्रचुर मिश्रण हुआ है। इस संदर्भ में वे जाति और जनजाति शब्द की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-

"The refusal to produce anything useful for general society beyond the tribe entails rough treatment as potentially criminal elements…….The different methods whereby the tribal elements were formed into a society or absorbed into pre-existing society are prime ethnic material for any real historian".[5]

इस संदर्भ में कोशाम्बी जाति और जनजाति की विशेषताओं का हवाला देते हुए वे आदिम अर्थव्यवस्था से समूची संस्कृति का प्रारूप बनाते हैं। लेकिन जाति और जनजाति के बीच के इसी सिद्धांत का प्रयोग वेरियर एल्विन ने भी किया था।

वास्तव में 'आदिवासी' शब्द अपने आप में अपनी अस्मिता का परिचायक है। आमतौर पर भारत में आदिवासियों को संवैधानिक रूप से जनजाति के रूप में जाना जाता रहा हैं। किन्तु सवाल यह उठता है कि वास्तव में आदिवासी किसे माना जाए

[4] आदिवासी अस्तित्त्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल- डॉ. रामदयाल मुंडा, पृ. 41-42

[5] D.D. Koshambi, An Introduction to the study of Indian History, Bombay, 1956, 25

और क्यों ? आदिवासी शब्द का प्रयोग उस समाज के लिए किया जाता है जो आदिकाल से यहाँ निवास कर रहा है। 'आदिवासी' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. विनायक तुमराम 'आदिवासी कौन?' शीर्षक लेख का हवाला देते हुए लिखते हैं- "वर्तमान स्थिति में 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में रहने वाले, विशिष्ट भाषा बोलने वाले, विशिष्ट जीवन पद्धति तथा परम्पराओं से सजे और सदियों से जंगलों-पहाड़ों में जीवनयापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभालकर रखने वाले मानव-समूह का परिचय करा देने के लिए किया जाता है और बहुत बड़े पैमाने पर उनके सामाजिक कष्टों तथा नष्ट हुए संसार पर दुःख प्रकट किया जाता है। उनके प्रश्नों तथा समस्याओं पर जी खोलकर बोला जाता है। अधनंगे रहने के कारण या लंगोटी पहने शिकार के लिए जंगल-जंगल भटकने से भी उन्हें 'वनवासी' या 'वन्य-जनजाति' के रूप में पहचाना जाना, मानो रूढ़ हो गया है। कोई उन्हें उपहास से जंगली' या 'लंगोटिया' के नाम से संबोधित करता है। कुछ लोग उन्हें 'भूमिपुत्र' या 'वनपुत्र' कहना भी समीचीन समझते हैं। भारतमाता की 'आदि संतान' के रूप में उन्हें पहचाना जाता है। आजकल 'आदिपुत्र' जैसे नामों का प्रयोग भी उनके लिए किया जा रहा है। जंगल के 'अनाभिषिक्त राजा' के रूप में भी उनका गौरवपूर्ण उल्लेख किया जाता है।"[6] इस प्रकार विनायक तुमराम विशिष्ट परिवेश, भाषा, संस्कृति के प्रति सचेत मानव समुदाय को आदिवासी के रूप में माना है, जिसने आदिवासियत की परम्परा को सदियों से बनाए हुए है। इस संदर्भ में पं. जवाहरलाल नेहरु का मत है-" आखिर ये आदिवासी हैं कौन? एक तरह से कहा जा सकता है कि ये लोग सीमान्तवासी हैं अथवा जो इसके आंतरिक भाग से दूर रहते हैं।

[6] आदिवासी कौन -संपा.रमणिका गुप्ता, (आदिवासी कौन, डॉ.विनायक तुमराम)- पृ. 26-27

जिस प्रकार पहाड़ों पर रहने वाले लोग मैदानों पर रहने वाले लोगों से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार सीमा पर रहने वाले लोग भी सीमा से दूर रहने वाले लोगो से भिन्न होते हैं। मैं तो मैदानों की अपेक्षा पहाड़ी लोगों को पसंद करता हूँ।"[7] उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी समाज का इतिहास भारत में आर्यों के आने से पूर्व का माना जाता है वे वर्षों से जंगलों में ही निवास करते रहे हैं , इसलिए उन्हें लोगों ने 'जंगली' 'वनवासी' आदि नामो से संबोधित किया । वस्तुतः आदिवासी समाज हमेशा से मुख्यधारा के समाज से कट कर रहा है, क्योंकि उसकी संस्कृति का सवाल अपनी अस्मिता से जुड़ा हुआ है , वे अपने आदिवासियत दर्शन को अपनी परम्परागत पुश्तैनी धरोहर के रूप में संजोए हुए हैं।

रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि "देश की महान आत्माओं ने जिस 'आदिवासी' शब्द को गौरवान्वित किया है भारत सरकार ने आज तक उस शब्द को सम्मान नहीं दिया है। 'आदिवासी' शब्द को संवैधानिक मान्यता नहीं है। भारतीय संविधान में आदिवासी को 'अनुसूचित जनजाति' (schedule Tribe) कहा गया है । आदिवासी के शाब्दिक अर्थ से ज्ञात होता है कि आदि निवासी यानी किसी स्थान पर निवास करने वाला या 'प्रथम निवासी', लेकिन भारत सरकार इसे गंभीरता से नहीं ले रही है। वह जानबूझकर इसे नकार रही है। सरकारी अभिलेखों में आदिवासी की बजाय अनुसूचित जनजाति शब्द का होना ही भारत सरकार का उपेक्षापूर्ण रवैया दर्शाता है। 'आदिवासी' शब्द आदिवासियों की भावनाओं के अनुरूप है । उन्हें अनुसूचित जनजाति कहने का एक ही अर्थ है- उन्हें समाप्त करना। अभी तक उन्हें

[7] आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य- रसाल सिंह बन्नाराम मीणा ,अनामिका पब्लिशर्स, पृ. 57

गिरिजन, वनवासी, दास, दस्यु तथा जंगली आदि कहा जाता रहा है। जिसकी चर्चा कई विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में की है। एस.सी. रॉय ने अपनी पुस्तक में इन्हें 'वानर' कहा है। 'रामायण' और 'महाभारत' काल से ही इन्हें इस तरह के अपमानजनक शब्दों का दंश झेलना पड़ा है जो आज तक जारी है।"[8] रमणिका गुप्ता 'आदिवासी' शब्द की व्याख्या आदिवासी अस्मिता,आदिवासी समुदाय के रूप में करती है। आज 'आदिवासी' की पहचान और नाम छीनकर उसे 'वनवासी' घोषित किया जा रहा है ताकि वह यह बात भूल जाए कि वह इस देश का मूलनिवासी यानी आदिवासी है-वह भूल जाए अपनी संस्कृति, भाषा और अपना मूल धर्म 'सरना'। आज अगर संवैधानिक तौर पर सबसे बड़ा खतरा है तो वह 'आदिवासी' शब्द की पहचान ख़त्म होने का है । क्योंकि राजनैतिक कारणों के चलते आज संविधान में आदिवासियों के मौलिक अधिकारों का हनन किया जा रहा है।

आदिवासी की परिभाषा मानवविज्ञान की प्रामाणिक पुस्तक 'नोट्स एण्ड कवैरीज ऑन एन्थ्रोपोलोजी' के अनुसार- "जनजाति एक ऐसा मानव समुदाय है जो राजनीति या सामाजिकता के आधार पर स्वायत्त होता है और किसी एक भू-भाग में निवास करता है या उस भू-भाग का निवासी होने का दावा करता है।"[9] समकालीन समय में 'आदिवासी' शब्द की अवधारणा का स्वरूप बदला है ,कुछ समाजशास्त्री मानते हैं कि आदिवासी शब्द को ही एक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। यह तभी संभव हो सकता है जब आदिवासी की परिभाषा सम्पूर्णता के रूप में प्रस्तुत की जाये। डॉ. ए .आर.एन. श्रीवास्तव अपनी पुस्तक 'जनजातीय भारत' में

[8] आदिवासी कौन- रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,संस्करण-2012, पृ. 36

[9] जनजातीय संस्कृति- ए.आर.एन. श्रीवास्तव, मध्यप्रदेश हिंदी अकादमी, पृ. 1

लिखते है कि- "जनजाति एक सामूहिक समूह है जिसकी संस्थाएँ एवं नियम परस्पर सम्बद्ध होते हैं तथा यह स्तरहीन सामाजिक व्यवस्था पर आधारित होती है । जनजाति के सांस्कृतिक तत्वों (भाषा, धर्म या लोक-विश्वास) में एकरूपता पायी जाती है जिस कारण वे अन्य समूहों से अलग अपनी विशिष्टता बनाये रखती है ।"[10] हिन्दी विश्वकोश के अनुसार- "आदिवासी' शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र के मूल निवासियों के लिए किया जाना चाहिए, परन्तु संसार के विभिन्न भू-भागों में जहाँ अलग-अलग धाराओं में अलग-अलग क्षेत्रों से आकर लोग बसे हो उस विशिष्ट भाग के प्राचीनतम या प्राचीन निवासियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।"[11] उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी शब्द की परिभाषा की अवधारणा की संकल्पना समाजशास्त्रियों ने अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत की है । संवैधानिक तौर पर 'आदिवासी' के स्थान पर 'जनजाति' शब्द का प्रयोग किया गया है । यह एक सोच समझकर की जाने वाली साजिश का हिस्सा हो सकता है जिसने आदिवासी समाज को मुख्यधारा के समाज से बिलकुल अलग रखा । सही मायने में आदिवासी शब्द के पीछे की अवधारणा का स्वरूप उसकी अस्मिता एवं संस्कृति से जुड़ा हुआ है । इस संदर्भ में रेमण्ड फर्थ ने कहा है- "जनजाति एक ही सांस्कृतिक श्रृखंला का मानव समूह है जो साधारणत: एक ही भू-खंड पर रहता है, एक ही भाषा-भाषी है तथा एक ही प्रकार की परम्पराओं एवं संस्थाओं का पालन करता है और एक ही सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है ।"[12] इस सम्बन्ध में भारतीय समाज

[10] जनजातीय भारत- डॉ. ए.आर.एन. श्रीवास्तव, मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी, पृ.3

[11] हिंदी विश्वकोश, खंड-एक-पृ. 370

[12] जनजातीय समाजशास्त्र- डॉ. श्रीनाथ शर्मा, पृ.2

व्यवस्था में 'आदिवासी' शब्द को संवैधानिक रूप से मुख्यधारा का भय दिखाकर नए सिरे से ख़ारिज करने की कोशिश की गई।

इसी क्रम में सुमित गुहा 'जनजाति' शब्द के संदर्भ को उपनिवेशवाद से जोड़कर देखते है, उनका मानना है कि ट्राइब की अवधारणा ब्रिटिश उपनिवेशवाद की देन है। भारतीय अवधारणा उसको जाति, वर्गों में बांटकर देखती है। इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं-

"*india as history of the evolution of 'society' out of complex interactions of diverse jatis, colonial sociological categories such as caste and tribe would appear quite inappropriate and British ideas regarding race, blood, birth and backwardness, ideas that were local to early modern and modern Europe. Guha shows that the operative categories of coporate existence in precolonial Indian society were not caste or tribe but a more complex range composed of jati, zat, qaum, khum and kabilah-categories that variously denoted people, lineage, religious denomination, political status, country, occupational grouping and so on."*[13]

सुमित गुहा अपनी पुस्तक 'beyond caste' में उपनिवेशवाद की सैद्धांतिकी को भारतीयता की अवधारणा से जोड़कर देखते हैं। वे कहते हैं कि हमारे भारतीय

[13] Sumit Guha, Beyond Caste : Identity and power in south asia, past and present, Leiden, 2013, p. no. 53

जनमानस में जाति और जनजाति की अवधारणा को एक वर्ग-समूह में बाँटकर देखने की परम्परा एक साजिश का हिस्सा मानी गई है।

'मूलवासी' शब्द की व्याख्या आदिवासी चिन्तक हरिराम मीणा पृथ्वी के किसी भू-भाग में रहने वाले आदिम मनुष्यों की प्रजाति से करते हैं । वे मूलवासी की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परम्परा को उसके रीति-रिवाजों से जोड़कर देखने की कोशिश करते हैं। इस संदर्भ का हवाला देते हुए वे लिखते हैं- "वर्ष 1983 में संयुक्त राष्ट्र संघ के स्तर पर 'मूलवासी' शब्द की व्याख्या करते हुए माना गया कि 'किसी भू-भाग पर प्राचीनकाल से रहने वाले मानव समुदाय के वशंज हैं जो नस्ल एवं संस्कृति के स्तर पर विशिष्टता रखते हों । भौगोलिक दृष्टिकोण से आस्ट्रेलिया महाद्वीप के मूलवासियों को आदिम (अबोरिजनल) और शेष दुनिया के मूलवासियों को 'इंडीजीनस' कहा जाता है । आदिम शब्द में मौलिकता जैसे सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक तत्व का तथा मूलवासी (इंडीजीनस) में भू-भाग विशेष में जीवन जीते रहने का भाव संकेतित होता है । आदिवासी समुदाय आदिम एवं मूलवासी समाज का वह हिस्सा है जो अभी भी मुख्य समाज से अलग-थलग प्रमुख रूप से प्रकृति पर आधारित जीवन जीता आ रहा है ।"[14] हमारा संविधान आदिवासियों के लिए मुख्यधारा की बात करता है, लेकिन सवाल यह है कि क्या भारत देश के लोकतांत्रिक विकास में उन्हें अपनी भूमिका निभाने के लिए हर तरह के अवसरों की खोज करना जरुरी है । सांस्कृतिक सहजीवन का माहौल बनाने के लिए रची गयी साजिश के चलते भारतीय समाज को अलग-अलग वर्गों में बांटने की कोशिश की

[14] आदिवासी दुनिया,-हरिराम मीणा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृ. 14

गई है। भारत में मूलनिवासियों और गैर-मूलनिवासियों में सबसे बड़ा अंतर जाति प्रथा को लेकर है, जिनका आदिवासी समाज ने अपने स्तर पर व्यापक विरोध किया है। इस सम्बन्ध में एशियाई आदिवासियों का मानना है कि इंडिजिनस पीपल्स पैक्ट, जाति यानी नस्लवाद का एक रूप है।

1.2. आदिवासी समाज की अवधारणा

आदिवासी समाज के संदर्भ में यह धारणा है कि यह समाज 'मुख्यधारा' से अलग रहने वाला (अर्द्ध) मनुष्य-समूह है। इस समाज में भोलेपन, सरलता, प्रेम की धारा स्वछंद नदी की तरह प्रवाहित होती रहती है। इस समाज में स्त्री को समान दर्ज़ा दिया जाता है, उनको समाज में पूरे अधिकार दिए जाते हैं। आदिवासी समाज में स्त्री -पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करती है। आदिवासी समाज हमेशा से ही प्रकृति-पूजक रहा है , वह प्रकृति को भगवान के रूप में पूजता है। यह समाज जंगलों में कंद-मूल खाकर गीत गाता हुआ जीवन को सौन्दर्यशाली बनाता है। आदिवासियों का समाज जंगलों में निवास करने वाला कृषक समाज रहा है। इस प्रकार आदिवासी समाज की आजीविका जल,जंगल और जमीन पर आधारित है। आदिवासी समाज अपनी आजीविका के लिए हमेशा जंगल पर ही निर्भर रहते हैं। आज आदिवासी समाज में आक्रोश और विद्रोह की भावना आयी है तो वह इस व्यवस्था की संवेदनहीनता के कारण क्योंकि इस व्यवस्था के कारण आदिवासी के सामने उसकी अस्मिता और अस्तित्व का सवाल उठ खड़ा हुआ है। यह सवाल आदिवासियों की सामाजिक व्यवस्था और उनकी आजीविका यानी जल, जंगल और जमीन के साथ गहरे रूप में जुड़ा हुआ है।

इक्कीसवीं सदी के दौर में आदिवासी अपने को असहज महसूस करता है, क्योंकि उसको अपनी संस्कृति को बचाने का खतरा दिखाई दे रहा है। इस क्रम में भारत में सबसे पहले आदिवासी समूहों की भूमिका को स्पष्ट करने के लिए हमें सर्वप्रथम इतिहास के रूप में सिन्धु घाटी की सभ्यता और भारत की भूमि पर आर्यों के आगमन पर विचार करना होगा। इस सम्बन्ध में "भारत में एक प्रचलित भ्रामक धारणा यह है कि इस देश में सभ्यता का प्रकाश आर्यों के आगमन के साथ ही आया। नए पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक तथ्य इस भ्रान्ति का खंडन करते हैं। उत्तर-पश्चिम से आर्य भाषा बोलने वाले समूहों की लहरें, एक के बाद एक, जब इस महाद्वीप में आ रही थी तब भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हो चुका था। यह सभ्यता 'सिन्धु घाटी सभ्यता' अथवा 'हड़प्पा सभ्यता' के नाम से जानी जाती है।"[15]

सभ्यता के इस दौर में आदिवासी समाज बाहरी लोगों की संस्कृति से कभी प्रभावित नहीं हुआ। इस समाज की संस्कृति को बाहरी यानी दिकु लोगों ने कई बार मिटाने का प्रयास भी किया। इस समुदाय पर विदेशियों ने हमले भी किये और उन्हें गुलाम बनाने की कोशिश की। लेकिन आदिवासी एकता और संघर्ष के आगे उनकी एक न चली। क्योंकि आदिवासी ही एक ऐसा समाज है जो अपने आत्मसम्मान के साथ जीवनयापन करता है। यह समाज कभी भी कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी प्रकृति को नष्ट नहीं करता। अपितु उसके सान्निध्य में रहता है, मुख्यधारा के समाज की भांति प्रकृति को नष्ट नहीं करता है। रमणिका गुप्ता आदिवासी समाज की स्त्रियों के ऐतिहासिक पहलुओं पर बात करती हुई अपनी राय रखती है-" आदिवासी औरतें

[15] परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति- श्यामचरण दुबे, पृ. 59

भी कभी इस संघर्ष में पीछे नहीं रही । चाहे हरिराम मीणा की 'भीलनी' हो या राजस्थान की वीरबाला 'कालीबाई' हो सभी ने अन्याय, आतंक एवं अत्याचार के प्रति विद्रोह का मार्ग अपनाया किन्तु व्यवस्था के समक्ष कभी भी समर्पण नहीं किया। उनके क्रांतिकारी इतिहास पर वासवी टिप्पणी करती है कि इतिहासकारों की इन नाइंसाफी के बावजूद विद्रोही औरतों का वजूद बना रहा तो सिर्फ इसलिए कि आदिवासी समाज की ऐतिहासिक धरोहर आज भी लोकगीतों और श्रुतिकथाओं में जीवित है।"[16]

दरअसल, धरती के प्रत्येक भू-भाग में सभ्यता का विकास समान गति से नहीं हुआ। आदिवासी समाज सभ्यता की रौशनी की झलक पाने की लालसा में थोड़ी दूर तो बढ़े किन्तु सभ्यता, आधुनिकता तथा विकास की चकाचौंध ने उन्हें निराश किया। इसी वजह से आज भारत ही नहीं अपितु विश्व पटल पर भी अनेक भागों में ऐसी आदिवासी जनजातियाँ मिल जायेगी जो संभवतः वर्तमान समय में भी 'आदिमयुगीन' ढर्रे पर जीने को विवश हैं । इतिहास के एक छोर पर जिस 'पाषाण युग' को हम सदियों पहले पीछे छोड़ आये ये समुदाय आज भी उसी 'पाषाण युग' में जी रहा है। इस संदर्भ के साथ रमणिका गुप्ता अपने सम्पादकीय में लिखती हैं- "आदिवासी समाज और साहित्य में नाभि-नाल का रिश्ता है । दोनों एक- दूसरे से अभिन्न हैं । आदिवासी साहित्य जानने से पहले, जितना आदिवासी समाज को समझना जरुरी है, उतना ही जरुरी है आदिवासी समाज को समझने के लिए उनके,वाचिक साहित्य को जानना । आदिवासी समाज क्या है, उसके मूल्य क्या हैं,

[16] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-संपा. रमणिका गुप्ता, खंड-2, पृ.11

यह उनके लोकगीतों, नृत्यों, लोक-कथाओं और शौर्य-गाथाओं में भरा पड़ा हुआ है।"[17] अत: इक्कीसवीं सदी के दौर में एक ओर आदिवासी अपनी अस्मिता और संस्कृति को बचाने के लिए संघर्षरत है तो दूसरी ओर अभिशप्त जीवन जीने के लिए मजबूर है क्योंकि सरकार की विदेश नीतियों ने आदिवासी समाज को निराश किया है।

1.3. आदिवासी मिथक और इतिहास

सृष्टि की उत्पत्ति को लेकर आदिवासी समाज में मिथकीय तत्वों का वर्णन मिलता है। सृष्टि में जितने भी तत्त्व होते है वे सब आदिवासी जीवन में विद्यमान रहते है। सभ्यता की इस ज्ञान परम्परा में प्रकृति के विविध तत्त्वों का आदिवासी समाज में मौजूद होना बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। सभ्यता को कठघरे में खड़ा करते हुए लेवी स्ट्रोस ने अमेरिका के आदिवासी मिथकों के बारे में बताया कि आदिवासी भी अमूर्त चिन्तन करते है। यानी उनका भी अपना एक ज्ञान-शास्त्र है जो कि उनकी मौखिकी ज्ञान परम्परा में मौजूद है। लेवी स्ट्रोस और रोला बार्थ ने मिथकों को तार्किक आधार मानकर मनुष्य और प्रकृति के बीच टकराव को नियम के आधार पर हल न करके कल्पना के आधार पर किया है। वास्तव में विकसित समाज की ज्ञान परम्परा की तरह आदिवासी समाज में भी मौखिक रूप में मिथकीय परम्परा का ज्ञान विद्यमान है।

मिथकीय परम्परा पर एक लंबी प्रक्रिया का अध्ययन हरिराम मीणा अपने तार्किक चिंतन के माध्यम से करते है वे भारतीय परिप्रेक्ष्य में मिथक परम्परा की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं- " सृष्टि से पहले की अवस्था में आदिवासी मिथकों में आधारभूत

[17] आदिवासी समाज और साहित्य-रमणिका गुप्ता, सम्पादकीय पृष्ठ से उद्दृत

तत्वों का जिक्र मिलता है। जब हम पूर्वोत्तर भारत की बात करते हैं तो अरुणाचल परदेश में जल, अंडा, बादल, चट्टान,, लकड़ी जैसे आधारभूत तत्त्वों को सृष्टि सृजन में सहायक माना गया है। इन तत्वों का सृष्टि से पूर्व स्वत: अस्तित्व बताया गया है। ये सब प्रथम सोपान के सृष्टिक्रम माने गए हैं। दूसरे चरण में पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि एवं अन्य सजीव रचनाओं को शामिल किया गया है। तीसरे चरण में रंग, दिशा, रूप, गंध माने गए हैं तथा चौथे चरण में विवेक को शामिल किया गया है सृष्टि से पहले की अवस्था के बारे में पूर्वोत्तर भारत के आदिवासियों की यह मान्यता रही है कि पृथ्वी पर सर्वत्र जल ही जल था। ..एक मिथक कथा यह भी चलती है कि ब्रह्माण्ड में आरम्भ में केवल दो अंडे थे। वे नर्म तथा सोने की तरह चमकने वाले थे। वे एक जगह टिकने की बजह चक्कर लगा रहे थे। अंततः वे आपस में टकराये और फूट गये। एक अंडे से पृथ्वी और दूसरे अंडे से आकाश का सृजन हुआ। यह दोनों पत्नी और पति के रूप में सामने आये। दोनों के संभोग से वनस्पतियों तथा अन्य प्राणियों की रचना हुई।"[18] इस तरह की परम्परा आदिवासी समाज में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध को लेकर पायी जाती है जिसका जिक्र उनके तार्किक चिन्तन में देखने को मिलता है। सृष्टि में हवा, पानी, आग, पृथ्वी, आकाश इन पाँचों तत्वों का जिक्र हमें आदिवासी समाज की ज्ञान परम्परा में मौजूद है।

सृष्टि की इस लंबी प्रकिया के अध्ययन स्वरूप हरिराम मीणा अंडमान से लेकर मध्य भारत, दक्षिण भारत और पश्चिमी भारत के आदिवासियों की मिथकीय परम्परा की बात करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अंडमान के आदिवासियों

[18] आदिवासी दुनिया- हरिराम मीणा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, पृ. 33-34

में यह मिथक प्रचलित है कि 'पुलुगा' नामक ईश्वर ने सृष्टि के समस्त प्राणियों एवं तत्वों की रचना की। उसी प्रकार मध्यप्रदेश एवं महाराष्ट्र के विदर्भ में रहने वाले कोरकू आदिवासियों में सृष्टि के सम्बन्ध में , यह मिथक प्रचलित है कि प्राचीन काल में रावण नामक एक शक्तिशाली राजा रहता था। इसी तरह गौंड आदिवासियों में एक मिथक है कि कमल के पत्तों पर 'बड़ादेव' बैठा हुआ था, तभी उसके मन में सृष्टि की रचना का विचार आया। दुनिया रचने के लिए उसे मिट्टी और जल चाहिए था उसने उसे छाती पर रगड़ा और दुनिया की रचना की। उसी तरह भीलों की उत्पत्ति की सारी किवदंतियां भगवान शिव के मिथक से जुड़ी हुई हैं। भारत के सारे भील समुदाय भगवान शिव की आदि देव के रूप में पूजा करते हैं। इसी तरह बैंगा आदिवासी मानते हैं कि सबसे पहले ईश्वर ने एक पुरुष व स्त्री की सृष्टि की रचना की। मुंडा आदिवासियों में भी एक मिथक प्रचलित है कि मुंडाओं के परमेश्वर सिंगबोंगा जिसे सूर्य देवता भी कहा जाता है ने भी एक युवक और युवती का सृजन किया। इसी तरह कोया आदिवासी मिथक के अनुसार आदि-पुरुष की उत्पत्ति जल से हुई।

आदिवासी समाज का इतिहास बहुत प्राचीन रहा है, आर्यों और द्रविड़ों का मूल इतिहास भारत की संस्कृति का परिचायक है। आदिवासी समाज का इतिहास पौराणिक मिथक से भी जुड़ा हुआ है, जिसका इतिहास में इतिहासकारों ने जिक्र नहीं किया है। आदिवासी इतिहास का संदर्भ बन्नाराम मीणा की पुस्तक 'आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य' में बखूबी दिया गया है। आदिवासी जनजातियाँ संसार के लगभग सभी भागों में पायी जाती हैं। भारतवर्ष में आदिवासियों की आबादी अफ्रीका के बाद सबसे ज्यादा है। वे लिखते हैं कि- "यद्यपि द्रविड़ों का मूल

इतिहास अनिश्चित है किन्तु वे भी यह मानते हैं कि द्रविड़ों का एक ही समय समुद्र मार्ग से भारत आगमन हुआ। धीरे-धीरे ये लोग दक्षिण में जम गये और वहाँ के मूल निवासी उत्तर-पश्चिम और दक्षिण भारत से मध्य भाग के जंगलों और पहाड़ियों में खदेड़ दिए गये और वे ही भारत के आदिवासियों के विभिन्न रूपों में हैं।"[19] इस तरह आदिवासी समाज के इतिहास का लम्बा काल रहा है जिसका इतिहास में कहीं भी जिक्र नहीं मिलता है। भारत के आदिवासी आर्यों के आगमन के समय से संघर्षरत हैं। कभी मैदानी सभ्यताओं में जीवनयापन करने वाले इन शांत प्रकृति के आदिवासियों को आर्यों ने आकर उनकी जमीन से बेदखल कर दिया। वहाँ से खदेड़े जाने के बाद धीरे-धीरे वे जंगलों की तरफ बढ़ने लगे, वहाँ भी उन्हें स्थायी रूप से नहीं टिकने दिया गया। बाद के वर्षों में ये जंगलों को साफ़ कर खेती और पशुपालन करने लगे। उदाहरण के रूप में संथाल 'हूल' का देश के सम्पूर्ण आदिवासी विद्रोहों में सबसे अलग स्थान रहा है। इसके बाद भी बहुत सारे आन्दोलन हुए जिनमें समाज की महती भूमिका रही है जिसका जीता-जागता उदाहरण आदिवासी साहित्य में वर्णित हुआ है।

भारत आने वाले प्रमुख प्रजातीय तत्त्वों में अंतिम भारतीय आर्य थे जिन्होंने इसकी संस्कृति और समाज पर गहरा प्रभाव डाला। उत्तर पश्चिम से आर्य भाषाएँ बोलने वाले समूहों की लहरें, एक के बाद एक, जब इस उपमहाद्वीप में आ रही थीं तब भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हो चुका था। जिसे सिन्धु घाटी सभ्यता या हड़प्पा सभ्यता के नाम से जाना जाता है। किन्तु विद्वानों का एक वर्ग आर्य

[19] आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य , बन्नाराम मीणा, पृ. 60

आक्रमण की धारणा पर पुनर्विचार करते हुए मानता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता आर्यों और भारत के आर्यपूर्व निवासियों की कृति है। नए पुरातात्विक साक्ष्य और प्राचीन भारत के इतिहासकारों के आलोचनात्मक अनुसन्धान से यह स्पष्ट होता है कि- "हड़प्पा संस्कृति की मूलभूत विशेषताएं वैदिक ग्रंथों में वर्णित उन विशेषताओं से मेल नहीं खाती जो हिन्द-आर्यभाषियों की संस्कृति से जुड़ी है। वैदिक ग्रन्थों में वर्णित संस्कृति के बारे में अधिकाधिक लग रहा है कि उसने स्थानीय आचारों और विश्वासों को अपनाया था, जिनमें से कुछ तो हड़प्पा संस्कृति से था उसके भी पहले से आए थे और इसका लगभग कोई प्रमाण नहीं मिलता कि पश्चिमोत्तर में भारत पर सीमा-पार से किसी प्रभुत्वशाली संस्कृति ने आक्रमण और उसको विजय किया होगा।"[20] इस तरह आर्यों ने भारत पर आक्रमण नहीं किया क्योंकि इस देश के निवासियों के साथ उनके प्राचीन समय से ही परस्पर वस्तुओं और विचारों के आवागमन के साक्ष्य मिलते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि भारत के मूलनिवासी आदिवासी बिलकुल असभ्य, जंगली, गँवार और जटिल थे, दरअसल यह मानसिकता अहं भाव व औपनिवेशिक मानसिकता की सोच की उपज है। जबकि वास्तविकता यह है कि मूलनिवासियों की सभ्यता आर्यों की सभ्यता से किसी तरह कम नहीं थी। इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आदिवासी संस्कृति ही इस देश की मूल संस्कृति रही है, जिसका इतिहास आर्यों से भी पहले का माना जाता रहा है। आर्यों और अनार्यों का इतिहास भारतीय संस्कृति का उद्धोतक रूप रहा है जिसका परिचय हमारे इतिहास ग्रन्थों में देखने को मिलता है।

[20] आर्य : मिथक और यथार्थ, रोमिला थापर, पृ. 59

1.4. आदिवासी संस्कृति

भारत को विभिन्नताओं का देश कहा जाता है क्योंकि यहाँ अलग-अलग समुदाय, प्रदेश की संस्कृति भिन्न-भिन्न है। आदिवासी समुदाय एक ऐसा समाज है जिसने प्राचीन भारत की संस्कृति को अभी तक जीवित रखा है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के दौर में हमारी संस्कृति विलुप्त हो रही है क्योंकि उसको उपयोग करने वाला आज का युवा वर्ग असंवेदनशील हो रहा है। रमेश चन्द्र मीणा की पुस्तक 'आदिवासी विमर्श' में आदिवासी संस्कृति का सवाल मुखर रूप से उभर कर सामने आया है। जब परम्परागत आदिवासी संरक्षण का प्रश्न उठाया जाता है तो यह भी कहा जाता है कि विकास की धारा में मौलिक संस्कृति में परिवर्तन होना अनिवार्य है। यह सवाल मौलिक संस्कृति के संरक्षण का नहीं, अपितु इसका है कि विकास का पैमाना क्या होना चाहिए ? जब हम आदिवासी संस्कृति की बात करते हैं तो उसका सीधा रूप मौलिकता पर निर्भर करता है। आदिवासी संस्कृति का रूप हमें लोकगीतों ,मिथकों आदि में देखने को मिलता है। इस सम्बन्ध में आदिवासी समाज और संस्कृति पर प्रश्न करते हुए डॉ. श्यामचरण दुबे का कथन सही प्रतीत होता है कि "आदिवासी (सांस्कृतिक) परम्परा सतत् विकसित मूल्य बोध है। पीढ़ी- दर- पीढ़ी इसमें कुछ नया जुड़ता रहता है।" इसी संदर्भ में संजय सुमन आदिवासी संस्कृति: दशा और दिशा' में लिखते हैं -"प्रकृति पूजा, मेला, उत्सव, हाट-बाज़ार के साथ सामूहिक रीति-रिवाजों का ईजाद आदिवासी संस्कृति से ही संभव हो पाया है। आदिवासी परम्परा में पूर्वज पूजा और जन्म देने वाली देवियों और देवताओं की पूजा का उदाहरण स्त्री-पुरुषों के जननांगों के चिन्हों की पूजा के लिए होने वाले प्रयोगों को

देखकर बताया जाता है। महाश्वेता देवी ने तो काली, दुर्गा, कृष्ण और गणेश को आदिवासियों का हिस्सा बताया है। आदिवासियो में शिव की पत्नी के रूप में उर्वर देवी और अनेक जंगल देवताओं की पूजा का प्रचलन रहा है, जिसे भारतीय समाज में सर्वत्र देखा जा सकता है। कहने के लिए तो यह सब कुछ उदाहरण हैं मगर देखने पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति के हरेक क्षेत्र में आदिवासी संस्कृति की छाप को स्पष्टत: देखा जा सकता है।"[21] उपरोक्त संदर्भ के आधार पर कहा जा सकता है कि आदिवासी संस्कृति का जुड़ाव जीवन, प्रकृति, तथा श्रम से रहा है। इस तरह आदिवासी संस्कृति में प्रकृति, जीवन के गान, गीत, त्यौहार, देवी-देवता, कहावत-पहेली मुहावरे आदि चीजों का समावेश रहता है। आदिवासी अपनी संस्कृति एवं परम्पराओं, मान्यताओं में आस्था, विश्वास, स्नेह रखता है और इनके अनुपालन में संतोष का अनुभव करता है। इसकी झलक संस्कारों, लोकपर्व, मेले, कलाओं में देखने को मिलती है।

आदिवासी संस्कृति के संरक्षण पर लक्ष्मण गायकवाड़ के द्वारा दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने संस्कृति को विशिष्ट मानकर मुख्यधारा से अलग बताया है- "भारत में आदिवासी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और आज आदिवासियों की संस्कृति के अलावा हमें कोई दूसरी संस्कृति देखने को नहीं मिलती है। आदिवासी संस्कृति में शोषण-मुक्त समाज की स्थापना हुई है। इसलिए आदिवासियों की संस्कृति सबसे अलग संस्कृति है। यह मातृ-प्रधान संस्कृति है। इस समाज में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज अनेक जगह हम देख रहे हैं कि स्त्रियों का शोषण

[21] आदिवासी विमर्श, रमेश चन्द्र मीणा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 37

किया जा रहा है। आदिवासी समाज में दहेज़ प्रथा नहीं है, यहाँ दहेज़ लड़की वालों को देते हैं। लेकिन अन्य समाज में दहेज़ के कारण स्त्रियों को प्रताड़ित किया जाता है। इसलिए आदिवासी समाज अन्य समाजों से अलग है तथा अपनी संस्कृति को वे बरकरार रखना चाहते हैं।"[22]

वस्तुतः आदिवासी समाज की घोटुल परम्परा को वेरियर एल्विन गर्भधारण के अपवाद के रूप में स्वीकारते हैं। वे बताते हैं कि जहाँ घोटुल परम्परा होती है वहाँ तलाक की समस्या पैदा नहीं होती है। उनका मानना है कि आदिवासी समाज में घोटुल वैवाहिक संबंधों में प्रगाढ़ता लाता है। इस संदर्भ में डी. एन. मजूमदार लिखते हैं-

"while ideas about the sanctity of tribal discipline, approbation, social justice, reciprocity of obligation, law and order in society, as well as the relation between effort and reward, between crime and punishment are inculcated through stories and anecdotes which graphically describe individual doings and their repercussions on the social life of the community."[23]

आदिवासी समुदाय एक सामुदायिक जीवन का समाज है जो सबको साथ लेकर चलने की भावना रखता है। "आदिवासी समाज में विवाह जैसी सामाजिक, सांस्कृतिक आदर्शवादी परम्पराएँ विद्यमान नहीं थीं। उन्मुक्त यौन संबंधों पर कोई सामाजिक प्रतिबंध नहीं था, कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री को अपनी भार्या बना

[22] साक्षात्कारों में आदिवासी, संपा.-दुर्गाराव बाण वतु , डॉ. भीमसिंह, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृ. 12

[23] Mjumdaar, d.N. Races and Cultures of India, Bombay 1961, pp 278-9

सकता था । इस तरह आर्य संस्कृति के अनुरूप ही आर्येतर (आदिवासी समाज, दैत्य, असुर, राक्षस) आदि से भी विवाह जैसी संस्कारिक मान्यताओं का प्रचलन नहीं था । वैदिक ग्रन्थों के साथ-साथ मनुस्मृति ने विवाह को संस्कारगत, संस्थागत स्वरूप प्रदान किया। आदिवासी लेखक दीपक कुमार केसरवानी की पुस्तक 'आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला)' में विवाह के प्रकारों का वर्णन किया गया है । जैसे कि एक विवाह, बहु विवाह, अपहरण विवाह, खरीदकर विवाह, सेवा विवाह, विनिमय द्वारा विवाह, परीक्षा विवाह, पलायन विवाह, हठ विवाह, सर्वसम्मत विवाह आदि विवाहों के बारे में बताया है और उन्होंने गीत, नृत्यों के माध्यम से होने वाले विवाहों की भी चर्चा की है ।"[24] इस तरह उन्होंने गीतों, लोकनृत्यों के द्वारा आदिवासी जीवन शैली को बखूबी से उकेरा है , आदिवासी समाज में लोकगीतों का विशेष महत्त्व रहा है क्योंकि लोकगीत उनकी संस्कृति का मुख्य आधार रहे हैं।

आदिवासी समाज की लोककला अन्य कलाओं से बहुत अलग है, उनकी कला उनकी संस्कृति, गीत, नृत्य, चित्र आदि में देखी जा सकती है । प्रत्येक आदिवासी जातियों की कला परम्परा उनके अनुष्ठानों, सामाजिक कार्यों में भलीभांति देखी जाती है । इसी सम्बन्ध में लेखक दीपक कुमार केसरवानी ने अपनी पुस्तक 'आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला)' के माध्यम से विस्तृत रूप में बताने का प्रयास किया है। जैसे कि –"करमा जो सोनभद्र के उत्तर-दक्षिण में निवास करने वाली उरांव, चेरों, घसिया, खरवार एवं होली व अन्य संस्कारों के अवसर पर

[24] आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला), दीपक कुमार केसरवानी, पृ. 91

करमा नृत्य का आयोजन करती है। इसी तरह कोल दहकी है जिसमें कोल दहकी नृत्य कोल जनजाति के लोग ढोल-मंजीरे की धुन पर करते हैं। डोमकच नृत्य में घसिया जनजाति के लोग मादल, डफला, टइया की धुन पर नाचते हैं। पुरुष गीत की एक पंक्ति गाते हैं और स्त्रियाँ दोहराती हैं। इसी तरह अन्य और अगहरी, शैला नृत्य, गोदना, कलैया नृत्य, रीना नृत्य, सरहुल नृत्य इत्यादि लोककला के विभिन्न रूप हैं।"[25] इस तरह से आदिवासी समाज की लोककला की परम्परा को दिखाया गया है। वनों पर निर्भर रहने वाली आदिवासी जातियों का जीवन लोकमय है। प्रत्येक व्रत, त्योहारों, संस्कारों के अवसर पर आदिवासी स्त्रियाँ एवं वेगा विभिन्न प्रकार के चित्रों का अंकन दीवारों व भूमि पर करती हैं। इसी सम्बन्ध में लेखक दीपक कुमार केसरवानी ने अपनी पुस्तक 'आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला)' में लिखा है कि- " अनुष्ठानिक लोककला के अंतर्गत आदिवासी समुदाय की स्त्रियाँ जीवितपुत्रिका व्रत के अवसर पर पुत्रवती स्त्रियों द्वारा पुत्र के दीर्घायु हेतु व्रत रखती हैं। किसी जलाशय, नदी, ताल, पोखरा के किनारे गोबर की सहायता से जीमूतवाहन का प्रतीकात्मक चिन्ह बनाती है। इसी तरह अलंकारिक लोकचित्रकला के अंतर्गत मेंहदी चित्रण, महावर, गोदना, भिती-चित्रण, चौक लीपने की कला, घरों को सजाने की कला, बांस की कला, बीनने की कला, धातु कला, वाद्ययंत्र बनाने की कला, मिट्टी की कला आदि का चित्रण किया गया है।"[26] इस तरह से आदिवासी लोक कलाओं के महत्त्व को लेखक ने बखूबी ढंग से बताने का प्रयास किया है। आदिवासी समाज की सर्वमान्य न्यायिक संस्था 'पंचायत' है। पंचायत का एक

[25] आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला), दीपक कुमार केसरवानी, पृ. 97
[26] आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला), दीपक कुमार केसरवानी, पृ. 125

वरिष्ठ व्यक्ति ही इसका मुखिया होता है और इसके अलावा अन्य सदस्य भी होते हैं। इन सबका निर्वाचन जनता द्वारा ही किया जाता है। समाज का जो कोई भी फैसला होता है, इन सबका निपटारा पंचायत के ही द्वारा किया जाता है। आदिवासी समाज में प्रथाएँ ही कानून का कार्य करती हैं और इस समाज का मानना है कि प्रथाएँ, गोत्र, पूर्वज या ईश्वर की देन हैं। जान-बूझकर किए जाने वाले अपराध के लिए कठोर दंड का प्रावधान है। धन एवं अन्न की चोरी, वनों एवं खेतों में आग लगाने को आदिवासी पंचायत संगीन जुर्म मानती है। इन सबका निपटारा पंचायत के द्वारा ही किया जाता है।

1.5. **आदिवासी धर्म**

आदिवासी समाज में धार्मिक परम्पराएँ लोकजीवन में विद्यमान हैं। आज भी आदिवासी समाज में टोने-टोटके, व जादू मंत्रों का प्रभाव है। क्योंकि यह परम्परा पूर्वजों के समय से शुरू हो जाती है। जिसका प्रभाव सामाजिक मनुष्य के जीवन में पड़ता है। धर्म केवल मनुष्य के जीवन और लक्ष्य का चिंतन मात्र ही नहीं वरन यह जीवन मूल्य को सुरक्षित रखने का साधन भी है। धर्म के अंतर्गत आदिवासी समाज विभिन्न प्रकार की समस्याओं के निदान के लिए जादू टोने मंत्र का प्रयोग करते हैं। यह पारम्परिक रूप आदिवासी जीवन मूल्य को संरक्षित रखने में सहायक होता है जिसके चलते आज आदिवासी समाज अपने धर्म को बचाने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ लड़ रहा है। आदिवासी समाज की धार्मिक परम्पराएँ जीवन मूल्य की बात करती हैं।

इस संदर्भ में 'आदिवासी धर्म' की संकल्पना की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए रामदयाल मुंडा आदिवासी धर्म की वैचारिक व्याख्या करते हैं-"आदि धरम से हमारा तात्पर्य भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं के उस मूल स्वरूप से है, जिसे प्रकारांतर में एनिमिज्म, एनिमिस्टक रिलिजन,प्रिमिटिभिज्म, प्रिमिटिवभ रिलिजन, एबोरिजिनल, आदिवासी धर्म, जनजाति धर्म, सरनाइज्म, सरना धर्म, सारि धर्म, जाहिरा धर्म, बोंगाइज्म, दोनीपोलो, बाथौ इत्यादि नामों से विहित किया गया है।"[27] लेकिन आजादी से पहले बहुत से आदिवासियों का बहुतायत रूप में ईसाईंकरण किया गया। हम यह मान चुके हैं कि उनकी धार्मिक पहचान सकारात्मक है और वे विश्व के अन्य स्थापित धर्मों से अलग है। इस संदर्भ में रामदयाल मुंडा 'आदि धरम' किताब में आदिवासियों के धर्म की विशिष्टताओं को चिन्हित करते हैं-

1. "परमेश्वर(सिंगबोंगा, चांदोबोंगा)का समाजीकृत स्वरूप(पिता, पितामह) अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। परमेश्वर मनुष्य के साथ इसी नातेदारी में बंधा है।
2. प्रकृति के विशिष्ट अवयवों(पहाड़, नदी, जंगल) को ही परमेश्वर के प्रतीकात्मक 'घर' के रूप में स्वीकार करना।
3. मनुष्य के अमरत्व में विश्वास करना। यहाँ प्रतीकात्मक अमरत्व में प्रतिबिम्बित हुआ है।
4. आदिवासियों की धार्मिक व्यवस्था में मनुष्य पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक की अवधारणाओं से अपेक्षाकृत कम ग्रसित है।

[27] आदि धरम- रामदयाल मुंडा, रतनसिंह मानकी, राजकमल प्रकाशन, पृ-12

5. बिना किसी मध्यस्थता(पंडित, मौलवी) के परमेश्वर से सीधे जुड़ने की अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता । आदिवासियों के सभी अनुष्ठान न्यूनतम कर्मकाण्ड से सम्पन्न होते हैं।

6. सृष्टि के अन्य अवदानों(सजीव, निर्जीव) के साथ समानता और पारस्परिक सम्मान बोध के आधार पर सहअस्तित्व। इस चित्र की सारणी के द्वारा हम आदिवासी-दर्शन को समझ सकते हैं-

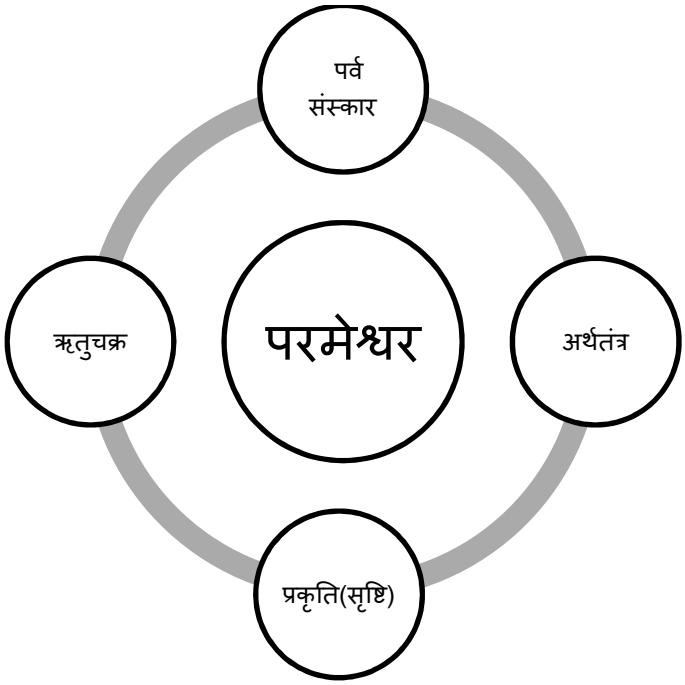

पर्व संस्कार अनुष्ठानों का उद्देश्य होता है सृष्टा-सृष्टि-संबंध और उसमें आदिवासी कि भूमिका को प्रतीकात्मक पुनरावृति द्वारा कायम रखना।"[28] आदिवासी समाज में धार्मिक परम्परा का विशेष महत्त्व रहा है, उन्होंने अपने पूर्वजों को ही देवता के रूप में माना है। जैसे कि "सोनभद्र में निवास करने वाली आदिवासी जातियों में हर मर्ज़ का इलाज ओझाई है। वे विभिन्न तंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक के माध्यम से हर समस्या का

[28] आदि धरम-रामदयाल मुंडा, रतनसिंह मानकी, पृष्ठ सं.-12-13

निवारण करते हैं। ओझा-सोखा नवरात्रि, दीपावली के अवसर पर सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। देवधर लगाते हैं , नीम, पीपल की पूजा करते हैं। पर्वतों की चढ़ाई पर घटवरिया बाबा की पूजा लकड़ी, पत्थर चढ़ाकर करते हैं।"[29] इसी तरह कैमूर क्षेत्र में निवास करने वाली आदिवासी जातियों पर संस्कृति, धार्मिक, मान्यताओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

आदिवासी समुदाय का कोई एक विशेष धर्म नहीं हैं, उसके धर्म की व्याख्या अलग-अलग समुदाय के प्रान्तों में अलग-अलग प्रकार से देखने को मिलती है । आदिवासियों ने अपनी परम्परा को संजोए रखा है । धर्म की व्याख्या को समाजशास्त्री दृष्टि से देखने की कोशिश रही है "युगों से वनवासी इन आदिवासियों ने अब तक अपनी जीवन-शैली, भाषा, रीति-रिवाजों और सांस्कृतिक परम्परा को कायम रखा है। प्रकृति उनकी सहचरी है। उनके पूर्वज ही उनके आराध्य होते हैं, जिन्हें बोंगा कहते हैं। उनके बोंगा के लिए कोई मंदिर, मस्जिद सरीखी स्थापना नहीं होती, वह (बोंगा) वृक्षों और चट्टानों में स्थान पाता है। सात सखुओं के वृक्ष इन आदिवासियों के पूजनीय सरना कहलाते हैं। इसी प्रकार अपने पूर्वजों की स्मृति में गायी गई अथवा पहले से मौजूद अगल-बगल की बड़ी शिलाएँ आदिवासियों का जाहरेथान या ससान कहलाते है।"[30]

प्रो. वीर भारत तलवार आदिवासी धर्म की अवधारणा को एक बिरसा धर्म के बुनियादी तर्कों से व्याख्यित करते हैं। वे बिरसा धर्म की सामाजिक, राजनैतिक पृष्ठभूमि की अवधारणा का जिक्र करते हुए बिरसा धर्म की व्याख्या करते हैं–"बिरसा

[29] आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला), दीपक कुमार केसरवानी, पृ. 110
[30] आदिवासी विमर्श, अवधारणा और आन्दोलन, कुमार कमलेश, तेज प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 22

ने मुंडाओं के बीच, आदिवासियों के बीच एक सांस्कृतिक क्रांति करने का प्रयत्न किया था। इसके लिए उन्होंने एक नया धर्म चलाया जिसे 'बिरसा धर्म' कहा गया। बिरसा ने आदिवासी धर्म के अन्दर जो कर्मकांड था, उसका विरोध किया । उन्होंने सैकड़ों बोंगाओं की पूजा करने को निरर्थक बतलाया और सिर्फ एक 'सिंगबोंगा' को मानने के लिए कहा । उन्होंने देवताओं और भूत-प्रेतों को खुश करने के लिए बलि देने की प्रथा का भी विरोध किया । आज चक्रधरपुर के पास रहने वाले कुछ मुंडा जिस रूप में बिरसा धर्म का पालन करते हैं, क्या बिरसा ने उसी रूप में अपने धर्म की कल्पना की थी ? बिरसा ने एक नये धर्म की आवश्यकता क्यों अनुभव की ? बिरसा-धर्म के आविर्भाव की सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि क्या थी?"[31] इन सारे सवालों के आधार पर हमें आदिवासी धर्म को सही दृष्टि से समझना होगा यानी हमें उसके साथ सही न्याय करना होगा । तभी हम आदिवासी धर्म के विभिन्न पहलुओं पर वैचारिक दृष्टिकोण रख सकते हैं।

1.6.आदिवासी दर्शन

झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा पत्रिका में ग्लैडसन डुंगडुंग ने अपने आलेख 'आदिवासी दर्शन के पास दुनिया को लौटना है' का हवाला देते हुए आदिवासी दर्शन के बारे में सारगर्भित रूप में बताया है कि "आदिवासी जीवन दर्शन क्या है? आदिवासी दर्शन है प्रकृति के साथ जीना सीखो । प्रकृति का उतना ही उपयोग करो जितना जीवन के लिए जरुरी है। लालच के लिए प्रकृति को नष्ट नहीं करो । यूरोप ने शायद यह कन्फेशन कर लिया है कि उसने लालच के लिए प्रकृति का

[31] झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, वीर भारत तलवार, पृ. 217

अत्यधिक दोहन किया है। उन्हें ऐसा अहसास अब हुआ है जब सबकुछ खत्म होने के कगार पर पहुँच गया है। जबकि आदिवासियों को यह सीख-समझ बहुत पहले ही मिल चुकी थी। इसलिए आदिवासी दर्शन कहता है कि प्रकृति को बचाओ। प्रकृति बची रहेगी तो तुम भी बचे रहोगे। वही एक दर्शन है प्रकृति के खिलाफ। जो अपने लालच को पूरा करने के लिए समूची प्रकृति को बेच डालने पर उतारू है। यह व्यक्तिवादी दर्शन है जो अपने सिवाय किसी और के बारे में नहीं सोचता। पर आदिवासी दर्शन सामूहिकता और सामुदायिकता में विश्वास करता है।"[32] उपर्युक्त संदर्भ के आधार पर कहा जा सकता है कि आदिवासी दर्शन समूचे जीवन दर्शन की व्याख्या करता है। इस दर्शन में पूरे समाज की बात विवेचित ढंग से रखी गयी है।

आदिवासी समाज के गीत आदिवासी जीवन और प्रकृति के साहचर्य और प्रेम से उपजी वह नैसर्गिक अभिव्यक्ति हैं जिसमें शब्द हैं, जीवन व प्रकृति की ध्वनियाँ और संगीत हैं। सृष्टि की लय है, धरती और सूरज का ताल है। प्रेम, रचाव और नि:शब्द शांति आदिवासी गीतों का स्थायी भाव है। इस तरह आदिवासी के जीवनदर्शन में श्रम की महता है। आदिवासियों के जीवन में नैतिकता है, न्याय है, सामूहिकता है, श्रम आधारित सामुदायिक एकता और समानता है। आदिवासियों की आजीविका श्रम पर आधारित रही है। चाहे वो खेत में हों, चाहे जंगल में हों। वो श्रम करके ही अपना जीवनयापन करते हैं। उनका दर्शन विश्व शांति और भाईचारे की बात करता है क्योंकि आदिवासी दर्शन में समग्रता के भाव विद्यमान हैं। विश्व में एक आदिवासी

[32] झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा पत्रिका,(संपा.-वंदना टेटे), राँची, पृ. 16

दर्शन ही है जो सबसे ज्यादा मानवीय है। आदिवासी दर्शन प्रकृति संरक्षण की बात करता है , आदिवासी समाज में प्रकृति ही उनका जीवन रक्षक है।

वरिष्ठ आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर लिखती है कि "आदिवासी समाज न अपनी औरतों का अपमान करता है और न ही उनके साथ हिंसा से पेश आता है। वह दुनिया में सह-अस्तित्व और सहजीविता का सबसे बड़ा पैरोकार है। लेकिन हिंसा और गैर-बराबरी के खिलाफ डटकर खड़े इस आदिवासी समाज को ही खत्म करने की कोशिश हो रही है। आदिवासी दर्शन को विस्थापित करके दुनिया को नहीं बचाया जा सकता है।"[33] इसी संदर्भ में झारखंड की कला-संस्कृति मंत्री गीताश्री उरांव ने कहा कि "आदिवासी समाज का जीवन दर्शन सामूहिकता,सहजीविता व प्रकृति के साथ सामंजस्य और उससे मिलने वाले आनंद पर आधारित है। नाच-गान इसका नैसर्गिक पहलू है। हमारे समाज में सजीव के साथ निर्जीव के साथ भी बराबर का सम्बन्ध होता है। जल , जंगल और जमीन आदिवासियों का आधार है और आदिवासी साहित्य के मूल तत्व भी यही होने चाहिए।"[34] इसी संदर्भ में डॉ. रोज केरकेट्टा लिखती हैं कि-" आदिवासी जीवन में श्रम की केन्द्रीय महत्ता है। उनका सम्बन्ध जल, जंगल, जमीन और पहाड़ों के साथ रहा है। श्रम से ही उनकी सहजीवी धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि का विकास हुआ । जिसके केंद्र में सहजीविता, समता और न्याय है। यह सब आदिवासियों की मौखिक साहित्यिक धारा में संरक्षित है।"[35] इसी के साथ आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन के तत्वों का होना है। जिस साहित्य में प्रकृति की लय-ताल और

[33] झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखडा (त्रैमासिक) , वंदना टेटे (सं.), मार्च –मई -2015 ,वर्ष -9 ,अंक -1 ,पृष्ठ सं. -8

[34] झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखडा (त्रैमासिक) , वंदना टेटे (सं.), मार्च –मई -2015 ,वर्ष -9 ,अंक -1 ,पृष्ठ सं. -8

[35] वही,

संगीत का अनुसरण हो, सम्पूर्ण जीव जगत के प्रति कृतज्ञता हो, जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार रहे, जहाँ सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर-संगीत विद्यमान हो और जो मूल आदिवासी भाषाओं में रचा गया हो वही आदिवासी साहित्य है।

1.7. आदिवासी विद्रोह

जब कोई सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन एक व्यापक परिदृश्य में आंदोलन का रूप ग्रहण करता है, वह किसी न किसी रूप में किसी वैचारिक अवधारणा एवं सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ जाता है। जैसा कि 'मानगढ़ आंदोलन' बाबा गोविन्द गुरु के विचारों से जुड़ा हुआ है। आदिवासी अस्मिता और संस्कृति की रक्षा के लिए जो भी आंदोलन हो रहे हैं, उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि गोविन्द गुरु, बिरसा मुंडा जैसे लोगों के ही विचारों से तैयार हुई है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में विद्रोह की परम्परा की एक लम्बी पृष्ठभूमि नज़र आती है, जिसमें आदिवासी विद्रोह का भी एक इतिहास रहा है , दुर्भाग्य की बात यह है कि इसका इतिहास में जिक्र नहीं मिलता है, यह इतिहासकारों की संकुचित मानसिकता का परिचायक है । यदि हम क्षेत्रों के आधार पर वर्गीकरण करें तो पूर्वोत्तर भारत में खासी विद्रोह, फुकन और बरुआ का विद्रोह, नागा संग्राम, भूटिया-लेप्चा विद्रोह आदि हैं । इस तरह मध्य भारत में पलामू विद्रोह, तिलका माँझी, संथाल क्रांति, बस्तर विद्रोह, ताना भगत, सिंहभूम का विद्रोह, कोल संग्राम, स्वतंत्रता संग्रामी बिरसा मुंडा, टंटया मामा का विद्रोह इत्यादि। इसी तरह पश्चिम भारत में जोरिया भगत, पालचितरिया, मानगढ़ बलिदान, भूला-बिलोरिया विद्रोह और दक्षिण भारत में वीर योध्दा-पझसी राजा, केरल के आदिवासी

किसानों की क्रांति, क्रांतिकारी अल्लूरि सीताराज राजू, नासिक विद्रोह आदि हैं। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि अपने अधिकारों के हनन होने के कारण आदिवासी समूहों की सहनशक्ति जवाब देने लगी, जिसके चलते मुंडा विद्रोह(1789-1901), संथाली विद्रोह (1855), भील विद्रोह (1879), बस्तर (1910), और गोंड विद्रोह (1940) आदि विद्रोहों का जन्म हुआ। इस तरह सन् 1778 में नागपुर की पहाड़िया सरदारों ने बगावत की। सन् 1784-85 में महाराष्ट्र में कोली विद्रोह, 1789-1794 में छोटा नागपुर में विद्रोह हुआ। इसमें तमार जनजाति के लोगों ने भी भाग लिया। सन् 1775-1800 तक बिहार में चेरो आन्दोलन, 1801 में बिहार में तमार विद्रोह, 1803 में आंध्र में पूर्वी गोदावरी एजेंसी के सपा क्षेत्र में कोवा विद्रोह, 1809-1828 में गुजरात में भील विद्रोह, सन् 1831-32 में महान कोल विद्रोह, 1832-33 में भागीरथ के नेतृत्व में खेड़ावार विद्रोह, 1835 में आसाम में दफलाओं द्वारा ब्रिट्रिश क्षेत्र की जनता पर हमला और ब्रिटिशों द्वारा बदले की कार्यवाही, 1839-43 में असम में बगावत, और 1846 में गुजरात में कुवर जीवो वसावे के नेतृत्व में भील विद्रोह, 1849 में असम में कदम सिगफो द्वारा ब्रिटिश गाँवों पर हमला और उसका पकड़ा जाना, 1850 में उड़ीसा में कौंध जनजाति के नेता चकविसोई का विद्रोह आदि है।

1.7.1. **कोल विद्रोह**

1831 से 1832 में महान कोल विद्रोह विद्रोह हुआ। सन 1831 से यह भयानक विद्रोह शुरू हुआ जिसकी चिंगारी छोटा नागपुर के इलाके में पूरी तरह से भड़क रही थी। इस विद्रोह की चिंगारी का मुख्य कारण ईचागुटु परगना के सिंगराय

के 12 गाँव व बडगांव के सुरगा मुंडा समाज की जमीन-जायदाद को जबरन दिकुओं के नाम करवा दिया गया, इससे समाज में असंतोष की भावना पैदा हो गई जिसके फलस्वरूप महान कोल विद्रोह हुआ। दिकुओं ने मानकी को केवल गाँव से बेदखल ही नहीं किया बल्कि उनकी दो बहनों के साथ बलात्कार भी किया। यही मामला सिंहभूम जिले के बंदगांव के ठेकेदार के विरुद्ध भी था। इसका परिणाम यह हुआ कि बंदगांव के सभी मुंडाओं को 11 दिसम्बर, 1831 के दिन तमाड़ में एकत्रित होने के लिए बुलाया गया । वहाँ पर मौजूद सभी मुंडा और उरांव समुदायों ने मिलकर अत्याचार के खिलाफ संकल्प लिया। जिसकी चिंगारी जनवरी 1832 में विद्रोह के रूप में उत्पन्न हुई। देखते-देखते इस विद्रोह ने भयानक रूप ले लिया और उन्होंने दिकुओं के घर जला दिए और उनकी हत्या भी कर दी। इस विद्रोह को दबाने के लिए कैप्टन विलिकंसन ने पूरी ताकत लगाकर विद्रोह की इस ज्वाला को शांत कर दिया।

कोल विद्रोह के ऐतिहासिक पहलुओं का जिक्र हरिराम मीणा तार्किकता के साथ करते हैं और बताते हैं किस प्रकार से छोटा नागपुर में कोल विद्रोह की क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ। वे लिखते हैं –"छोटा नागपुर इलाके के 'लरका हो' आदिवासियों के गाँव में जमींदार के आए दिन जुल्म हो रहे थे और उनकी सांठगाँठ ईस्ट इंडिया कंपनी से थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी इन जमींदार के मार्फ़त इस क्षेत्र में अपना प्रभाव फैला रही थी। परेशान होकर आदिवासियों ने 11 दिसम्बर, 1831 को कुमांग के जमींदार पर हमला कर दिया। इसके अतिरिक्त 29 दिसम्बर, 1831 को फिर एक बड़ा धावा बोला जिसमें जमींदारों के महलों को नष्ट कर दिया। यही विद्रोह आगे चलकर 'कोल

विद्रोह' के नाम से इतिहास में जाना गया।"[36] इस क्रांति का प्रभाव छोटा नागपुर में पूरी तरह से छा गया था।

1.7.2. **बिरसा मुंडा विद्रोह**

'बिरसा' 'उलगुलान' का समय 1895 से 1900 तक रहा है। यह आन्दोलन अंग्रेजों और जमींदारों के खिलाफ नहीं था बल्कि इसके पीछे मुख्य वजह यह थी कि मुंडा समाज की छिनी हुई जमीन वापिस ली जाए। और साथ ही साथ मुंडाओं का सामाजिक रूप से पुनर्संगठन हो। इस संबंध में कुमार सुरेश सिंह ने स्पष्ट लिखा है - "मुंडारी भूमि-व्यवस्था का विघटन मात्र आर्थिक घटना न थी। उससे पुरानी समाज व्यवस्था की जड़े तक हिल गयी थी। मुंडा जाति के इतिहास में पहली बार उसके सामाजिक ढांचे में लुटेरे तत्व मजबूती के साथ जम गए थे। वे फल-फूल रहे थे और उनकी तादाद बढ़ गई थी। गाँवों में शान्ति और एकता की भावना लुप्त हो चुकी थी। पुरानी भूमि-व्यवस्था के समाप्त होने के बाद जो नए प्रभुत्ता-संपन्न तत्व उभरकर सामने आये, उन्होंने ग्रामीण संगठन का भूमि आधार छिन्न-भिन्न कर दिया।...मुंडाओं की संस्थाओं 'पढ्हा' और पंचायत को क्षय रोग हो गया था। गाँवों के पुराने प्रधानों तथा अन्य सभाओं का स्थान छीन लिया था। इसका मतलब हुआ कि विवादों को सुलझाने के लिए मुंडा संस्था पढ्हा का अंत।"[37] इस तरह से बिरसा उलगुलान के बाद धीरे-धीरे कई छोटे-छोटे आन्दोलन हुए। लेकिन उनका आन्दोलन व्यापक रूप में सफल नहीं हो पाया क्योंकि आन्दोलन उपनिवेशवाद का शिकार हो चुका था। इसके बाद बिरसा ने आन्दोलन को उग्र करने के लिए फरवरी 1898 को

[36] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 65
[37] बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, कुमार सुरेश सिंह,पृ. 30-31

चाल्काड़ के निकट डूम्बारी पहाड़ियों में आदिवासियों की पंचायत बुलाई। उसी जगह पर बिरसा ने अपनी सेना का संगठन बनाना शुरू कर दिया। अब तक बिरसा अहिंसक आन्दोलन के लिए लोगों को संगठित कर रहा था। इस तरह अंग्रेजों ने 23 अगस्त को एक बैठक बुलाई जिसमें उन्होंने निर्णय लिया कि कैसे 'बिरसा विद्रोह' की क्रांति को कुचला जाए। रातों-रात उन्होंने पुलिस दस्ते के साथ हमला बोल दिया और बिरसा को सोते हुए ही दबोच लिया। बाद में बिरसा को राँची जेल में डाल दिया गया। इस तरह से बिरसा को दो वर्ष की जेल हो गयी।

1.7.3. **संथाल विद्रोह**

सन् 1855-57 में महान संथाल विद्रोह शुरू हुआ। अंग्रेज प्रशासन के अधिकारियों और लेखकों का मानना था कि संथालों का जो विद्रोह हुआ था वो ईस्ट इंडिया कंपनी के खिलाफ नहीं था। बल्कि वह तो हिन्दू महाजनों और साहूकारों के खिलाफ था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा टैक्स का लगातार बढ़ाना संथालों के असंतोष का प्रमुख कारण था जिसने आगे चलकर विद्रोह की ज्वाला को जन्म देने का काम किया। यह आन्दोलन बिरसा आदोलन से 46 साल पहले ही शुरू हो चुका था। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए केदार प्रसाद मीणा संथालों के विद्रोह के ऐतिहासिक पक्ष पर दृष्टि डालते हैं- " 1854 ई. में वीरसिंह माँझी के नेतृत्व में महाजनों के खिलाफ़ लड़ाई शुरू हुई। संथालों ने कुछ महाजनों के घर पर हमला कर अपनी वह संपत्ति छीनी, जिसे महाजनों ने नाजायज ढंग से संथालों से लूटा था। ऐसी ही एक घटना में जब दीघी थाने के कुख्यात दरोगा महेशलाल दत्त ने गोक्की माँझी को गिरफ्तार किया तो गोक्की माँझी ने दरोगा से कहा- तुमने बांध लिया है, लेकिन

दामन-ए-कोह के सभी संथालों को बांधने के लिए रस्सी कहाँ से लाओगे? महाजनों के कहने पर पाकुड़ के जमींदार ने वीरसिंह माँझी को पकड़कर अपने घर लाकर उसे मारा-पीटा। इस घटना से संथाल उत्तेजित हो उठे और इसकी प्रतिक्रिया में विरोध प्रकट करने के लिए कई हज़ार संथाल जमा हो गए।"[38] पाकुड़ के जमीदार जिसने बीरसिंह माँझी को मारा-पीटा था उनके घर को विद्रोहियों ने लूट लिया। इस विरोध को दबाने के लिए 10 नवम्बर को एक मार्शल-लॉ लागू कर दिया था जिसका प्रभाव भागलपुर, मुर्शिदाबाद और बीरसिंह जिले में पड़ा। और इस विद्रोह को कुचलने के लिए संथालों को मारना शुरू कर दिया गया। 15 हज़ार से अधिक ब्रिटिश फौजों ने संथालों के गाँवों को जलाना शुरू कर दिया यानी इन लोगों ने इस विद्रोह को दबाने की भरसक कोशिश की और लगान वसूल की परम्परा पर बिट्रिश शासन का रवैया इस प्रकार हो गया था–" ब्रिटिश प्रशासन की दिलचस्पी संथालों से सिर्फ लगान वसूलने की थी। हालाँकि ईस्ट इंडिया कम्पनी एक व्यापारिक कम्पनी थी, लेकिन भारत में उसकी आय का मुख्य स्रोत लगान था जिसकी दर वह मनमाने ढंग से लगातार बढ़ाती रहती थी। 1838 से 1854 ई. तक के बीच संथालों से वसूले जाने वाले लगान की दर को कम्पनी ने 21 गुना बढ़ाया जिसे दे पाने में गरीब संथाल असमर्थ थे। अपनी ही तैयार की हुई जमीन पर बंधुआ मजदूर बनना या फिर से जंगल में वापस भाग जाना संथालों के सामने यही दो विकल्प बचे गए थे। लेकिन संथालों ने एक तीसरा विकल्प भी निकाला-विद्रोह!"[39] इस तरह से संथालों को उनकी जमीन से विस्थापित होना पड़ा। क्योंकि संथाल ब्रिटिश शासन के द्वारा दुगना

[38] क्रांतिकारी आदिवासी, संपा. केदार प्रसाद मीणा, साहित्य उपक्रम प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 28
[39] क्रांतिकारी आदिवासी, संपा. केदार प्रसाद मीणा, साहित्य उपक्रम प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 27

लगान देने में असमर्थ थे। इस तरह से धीरे-धीरे महाजनों ने उनका शोषण करना शुरू कर दिया।

1.7.4. **मानगढ़ विद्रोह**

मानगढ़ राजस्थान-गुजरात की सीमा पर अरावली पर्वत श्रृंखला में स्थित है। इस मानगढ़ धाम पर ही 17 नवंबर, 1913 के दिन इस घटना को अंजाम दिया गया जो कि इतिहास के एक बर्बर आदिवासी नरसंहार के रूप में जाना जाता है, जिसमें लगभग 1500 भील आदिवासी शहीद हुए। इस घटना को गाँधीजी ने जलियाँवाला घटना से भी बड़ी घटना माना है। गोविन्द गिरी ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भीलों के बीच मजबूत एकता के लिए 'भगत आंदोलन' चलाया था, जिसके तहत भीलों को शाकाहार अपनाना था और हर किस्म के मादक पदार्थों से दूर रहना था। गरासिया और भील कबीलों ने 'संप' सभा की शुरुआत की। इस तरह भीलों ने गोविन्द गुरु से प्रेरित होकर अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों का विरोध किया और वे बांसवाड़ा, संतरामपुर, डूंगरपुर और कुशलगढ़ के रजवाड़ों द्वारा जबरन करवाई जाने वाली बंधुआ मजदूरी के खिलाफ उठ खड़े हुए। इस विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेजों ने गोविंद गुरु को पकड़ लिया, उन पर मुकदमा चला और उन्हें आजीवन कारावास में भेज दिया। लेकिन आज आदिवासी साहित्य में गोविन्द गुरु का नाम अमर हो गया। आज भी दक्षिण राजस्थान के आदिवासियों में प्रचलित लोककथाओं में गोविन्द गुरु की कथाएँ सुनी जा सकती हैं। गोविन्द गुरु द्वारा रचित 'भूरेतिया' गीत मानगढ़ के शहीदों की याद में गाया जाता है, यह गीत मानगढ़ आन्दोलन में मारे गए भील आदिवासियों की याद में गाया जाता है।

1.8. आदिवासी समस्याएँ एवं चुनौतियाँ

आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या जल, जंगल, जमीन और अस्मिता की है। यह समाज अपनी पहचान और संस्कृति के लिए हमेशा से ही संघर्ष कर रहा है। इस तरह आज का आदिवासी नई सदी के इस दौर में अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ रहा है। इस सम्बन्ध में आदिवासी समस्या पर पुनरावलोकन करते हुए लेखक बन्नाराम मीणा अपनी पुस्तक 'आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य' में लिखते हैं कि–"आदिवासियों के पास जल, जंगल और जमीन न हो तो उस समाज की पहचान ख़त्म हो जाती है। उनकी अपनी एक अलग विरासत और पहचान है जो सामूहिक जीवन प्रणाली, समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा से लैस जनतंत्र तथा स्वायत्तता पर टिकी है। इनकी अपनी भाषाएँ हैं। अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ हैं।"[40] अंग्रेजों ने इनकी संस्कृति के साथ खिलवाड़ किया तथा आजादी के बाद हमारी सरकार ने भी यही नीति जारी रखी है। इस तरह आज का आदिवासी समाज अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अनेक समस्याओं, अन्यायों और असमानताओं से जूझ रहा है। आज आदिवासी तबका सबसे विकट स्थिति से गुजर रहा है। आज इस समुदाय को सबसे बड़ा खतरा अपनी अस्मिता के गायब होने का है। आदिवासी की अस्मिता और उसका नाम छीनकर उसे वनवासी घोषित किया जा रहा है। उसकी संस्कृति को छीनकर हिंदूवादी 'कल्चर' को उन पर जबरन थोपा जा रहा है। इसी सम्बन्ध में लेखक अपनी बात को स्पष्टता के साथ व्यक्त करते हुए आदिवासी अस्मिता पर सवाल करते हैं कि -" कितना बड़ा झूठ थोपा जा रहा है उन पर। उसे नहीं बताया जा

[40] हाशिये की वैचारिकी, संपा. उमाशंकर चौधरी, जनजातीय अस्मिता के प्रश्न- रमणिका गुप्ता, पृ. 313

रहा है कि इस घर वापसी के आयोजन के बाद हिन्दुओं की जातियों में विभाजित समाज के सबसे निचले दर्जे पर दाखिला दिया जा रहा है। इस प्रकार उसका नाम और मूल छीनकर उसे हिन्दू समाज के विभाजित जमात की सीढ़ी के सबसे निचले डंडे पर बैठाया जा रहा है। आज मुख्यधारा की वजह से आदिवासी समाज की अस्मिता धुंधली होती जा रही है। उनका बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन किया जा रहा है। किसी न किसी रूप में उन्हें हिन्दू के समानांतर माना जा रहा है। हिन्दू देवी-देवताओं से निकटता बढ़ रही है। यों तो यह तबका अपना परिचय 'हिन्दू' या 'ईसाई' बोलकर नहीं देता है बल्कि 'आदिवासी, 'आदिम मानव' कहकर देता है, किन्तु आज के दौर में वह मुख्यधारा के समाज के छलावों, प्रलोभनों में फँसता चला जा रहा है। इस कारण से उसके घर संसार में उसका धर्म 'सरना' एवं उसके देवता, परममित्र 'सिंगबोगा' दिखलाई नहीं पड़ते बल्कि हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ दिखलाई देती हैं।"[41] अत: कहा जा सकता है कि आज आदिवासी समाज इक्कीसवीं सदी के इस दौर में अपनी संस्कृति और पहचान को बचाने के लिए संघर्षरत है। वर्तमान में आदिवासी की समस्या जल, जंगल, जमीन की है जिसके लिए वह आज भी लड़ रहा है , क्योंकि उसकी पहचान ही उसकी संस्कृति के साथ ही जुडी़ हुई है। इसलिए वह अपनी पहचान यानी अस्मिता को बचाने के लिए विदेशी शक्तियों का डटकर मुकाबला कर रहा है। विकास के नाम पर सरकार उनकी जमीन छीन रही है जिसके कारण आदिवासियों का विस्थापन बड़े पैमाने पर हो रहा है। इस तरह आज आदिवासी समुदायों में सबसे बड़ी समस्या उनके विकास को लेकर है। सरकार ने इनके उत्थान एवं विकास के लिए छात्रावास तो बनवाये, लेकिन

[41] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, रमणिका गुप्ता, खंड-2, पृ. 9

वहाँ या तो खाना नहीं मिलता या मिलता है तो इतना कम कि पेट ही नहीं भरता या बीमार कर देता है । तब ऐसे छात्रावासों में रहेगा कौन? छात्रावास खाली तो स्कूल भी खाली । सरकार वजीफा देती है आदिवासी छात्रों को लेकिन आधा पैसा वितरण करने वाले ही रख लेते हैं और जो मिलता है वह इतनी देर से कि उसका उपयोग पढ़ाई की बजाय दूसरी जगह हो जाता है । आदिवासी समाज की मूलभूत समस्याओं में विस्थापन, अस्मिता, भाषा, और मौखिक लिपि को लेकर संकेत किया गया है। सबसे पहले समस्या विस्थापन की है, जिसमें विदेशी ताकतों के द्वारा घुसपैठ करके उनके जंगलों पर जबरन अधिकार स्थापित किया जा रहा है। दूसरी समस्या भाषाई अस्मिता के संकट को लेकर है जो इस भूमंडलीकरण के दौर में विलुप्त होने की कगार पर है।

दरअसल अस्मिता के नाम पर उत्पन्न होने वाली समस्या साहित्य में मुख्य मुद्दे के रूप में चर्चा का विषय बन गई है। आदिवासी समाज के अधिकार जल, जंगल और जमीन है, इससे वंचित आदिवासी समाज अब अपने अधिकारों के प्रति सचेत है और इससे लड़ने के लिए अनेक संस्थाओं का निर्माण कर रहा है। इस संघर्ष में जहाँ अन्य संस्थाएँ अपनी ओर से प्रयासरत है, वहीं दूसरी ओर साहित्य के द्वारा भी अपनी समस्याओं को समाज के पटल पर रखा गया है। साहित्य के रूप में उभरा आंदोलन आदिवासी आंदोलन का व्यापक रूप ले रहा है। इस आंदोलन में आदिवासी समाज के बुद्धिजीवी वर्ग, शिक्षक, मजदूर, विद्यार्थी सभी अपने-अपने स्तर पर सामाजिक-सांस्कृतिक निर्माण की प्रक्रिया में सहयोग दे रहे हैं।

आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या विस्थापन की रही है। इसी संदर्भ में कुमार कमलेश लिखते हैं- "आदिवासी समाज लगातार विस्थापन का संकट झेलता आया है और इसलिए उनका विकास अवरुद्ध हो गया है तथा कई प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों से भी इस समाज को गुजरना पड़ा है । स्वाभाविक है कि कतिपय आदिवासी रचनाकार इस ओर सचेत है। चैतन्य प्रसाद मांझी उड़िया में, डॉ.गोविन्द गारे मराठी में तो राजेन्द्र सिंह मुंडा व रामदयाल मुंडा हिंदी में आदिवासियों की परिस्थितियों का राजनैतिक और सामाजिक अध्ययन और विश्लेषण करते हुए आदिवासी समाज की दिशा निर्धारण करने में जुटे हैं । समकालीन आदिवासी साहित्य के प्रतिनिधि रचनाकार अनुज लुगुन, कृष्णचंद्र टूडडू, जोबा मुरमू, दयामनी दमयंती किस्कू, दिगम्बर हंसदा, देवेन्द्र चंपिया, निर्मला पुतुल, बिटिया मुर्मू, वंदना टेटे, वासवी, शिशिर टूडडू, शान्ति खालको, सुषमा असुर, हरी उरांव, हरिराम मीणा आदि आज लगातार आदिवासियों के जीवन-मरण को विविध साहित्यिक विधाओं में रचित अपनी रचनाओं के माध्यम से उठा रहे हैं।"[42]

1.9. भूमंडलीकरण और आदिवासी

विकास की अवधारणा में व्यक्ति का विकास है । आदिवासी समुदाय पूरे समुदाय की बात करता है। विकास की प्रक्रिया में स्वातंत्र्य का प्रत्यक्ष महत्त्व होता है इसी संदर्भ के साथ आगे बढ़ते हुए लेखक बन्नाराम मीणा अपनी पुस्तक 'आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य' में लिखते हैं "विकास शब्द का प्रयोग संवृद्धि(growth), प्रगति, संप्रेषणा के सोपान और विकासमान आदि अनेक संदर्भों

[42] आदिवासी विमर्श : अवधारणा और आन्दोलन, कुमार कमलेश, तेज प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-132

में किया जाता है। यह संकल्पना द्वितीय महायुद्ध के बाद विशेष रूप से प्रमुखता पा गई है। अर्थशास्त्रियों ने विकास को व्यवहारिक रूप से प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद अथवा ऐसे ही किसी अन्य राष्ट्रीय लेखा अनुमान में वृद्धि के रूप में व्यवहारिक दृष्टि से निरुपित किया है।"[43] विकास का लक्ष्य समृद्धि, अपने ही परिवेश में मूलभूत सुविधाएँ प्राप्त करना तथा परिवर्तन से होना चाहिए। वैसे आज देखा जाए तो हमारे यहाँ विकास के नाम पर आदिवासी के साथ अन्याय हो रहा है। इसलिए आज आदिवासी को जरुरत है कि उन्हें उनकी जमीन पर उनका पूरा अधिकार मिले। सरकार विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी जमीन से ही विस्थापित कर रही है। हमारे सामने यह सवाल भी उठता है कि जल, जंगल, जमीन और उनकी संस्कृति को छीन लेना कहाँ का विकास है ? सवाल यह भी कि यह कैसा विकास है, जिसमें आदिवासी को उसी की जमीन से बेदखल किया जा रहा है। इसी संदर्भ के साथ लेखक बन्नाराम मीणा लिखते हैं कि- " आज आधुनिक विकास प्रक्रिया में आदिवासी समाज को भागीदारी बनाने की बजाय उनकी जीवन-शैली में जबरन दखल दिया जा रहा है। मुख्यधारा के समाज और वन-विभाग ने भी उनकी जमीन पर जबरन कब्ज़ा कर रखा है और वनाधिकार कानून के तहत आदिवासी समाज अपनी पुश्तैनी जमीन को वापस लेने के लिए आवाज उठाते हैं तो उन्हें नक्सली करार दिया जाता है। ऐसे कई उदाहरण हमें देखने को मिलते है, जिनमें औद्योगिक विकास के नाम पर आदिवासियों को जंगल, जमीन से वंचित किया जा रहा है।"[44] इस सम्बन्ध के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि आज आदिवासी समाज विकास के नाम

[43] Development socio culture Dimensions-S.L. Sharma, Rawat publication, 1986, p. 256

[44] आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य , बन्नाराम मीणा ,पृ. 105

पर ठगा जा रहा है , उन्हें औद्योगिक विकास के नाम पर उनकी पुश्तैनी जमीन से बेदखल किया जा रहा है । इसी संदर्भ में प्रो.वी.कृष्ण एवं डॉ.भीमसिंह पुस्तक 'आदिवासी विमर्श' में भूमंडलीकरण के विविध आयामों की चर्चा करते हैं कि - "इस उत्तर आधुनिक दौर में विकास के जिस भू-मंडलीकृत मॉडल का जो ढ़ोल पीटा जा रहा है वहाँ पूँजी केंद्र में है और पूँजी उग्र व्यक्तिवाद से पनपती है । ऐसा व्यक्तिवाद स्वार्थ केन्द्रित होता है चाहे वह व्यक्ति विशेष हो या बहुराष्ट्रीय कंपनी। जिस ग्लोबल विलेज की अवधारणा को आदर्श के रूप में हमारे सामने प्रचारित किया जा रहा है। वह ऐसा विकसित आदिवासी गाँव नहीं होगा, जहाँ जंगल, प्रकृति व मानवेतर प्राणिजगत का सह अस्तित्व एवं भावनात्मक सम्बन्ध दिखें । ग्लोबल विलेज अपनी तरह होगा जिसमें बहुमंजिला इमारतें, अत्याधुनिक संचार सुविधाएँ, उच्च तकनीकी, यातायात के साधन, विज्ञापनों से भरे बाज़ार, शेयर मार्केट की स्क्रीन व केप्शन, नितांत व्यवसायिक मीडिया, अंग्रेजी पीढ़ी, मल्टीप्लेक्स सिनेमा, डिस्को-बार और वगैरह सब कुछ होगा, जिसके मॉडल होंगे पेरिस, न्यूयार्क, टोकियो, सिंगापुर, बैंकाक, दिल्ली । ऐसे विलेज से आम आदमी का निष्कासन होगा और प्रवेश वर्जित। आदिवासी तो अछूत ही बन जायेगा।"[45] इस सम्बन्ध में सतत् विकास का एक व्यापक अर्थ भी है कि किसी समाज का सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विकास ऐसा होना चाहिए जिसे निरंतर बनाया जा सके । विकास की बेहतर परिस्थितियों को देखकर व्यक्ति स्वयं ही विस्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध में विकास का पैमाना सतत विकास की धारा है जो अनुकूल परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विकास उत्तर-आधुनिकता की ही उपज मात्र है।

[45] आदिवासी विमर्श, संपा. प्रो. वी.कृष्ण, भीमसिंह, पृ. 83

दरअसल, विकास की दिशा एक आयामी नहीं होती और इसके स्वरूप में विविधता होती है। किसी के विकास की प्रक्रिया को दूसरा कोई विनाश नहीं कह सकता। इसका कारण है कि विकास का कोई प्रतिमान नहीं होता है। विकास से ज्यादा मतभेद विकास की प्रक्रिया और स्वरूप में है। विकास का स्वरूप भी इस तरह विवाद का विषय है। इसमें सबसे बड़ा विवाद यह है कि इसके स्वरूप का निर्धारण कौन करेगा ? विकास का प्रतिमान किसे माना जाय और विकास का पैमाना किसे रखा जाना चाहिए। श्यामाचरण दुबे की पुस्तक 'विकास का समाजशास्त्र' में विकास की अवधारणा पर चर्चा हुई है- "विकास के प्रश्नों को सामान्यत: अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखा गया है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद और राष्ट्रीय आय की वृद्धि को विकास मान लेना भ्रामक है।"[46] ऊँची आर्थिक समृद्धि हासिल कर लेना विकास नहीं है बल्कि इसके साथ-साथ सामाजिक , सांस्कृतिक और राजनैतिक स्तर पर विकसित होना भी अत्यंत आवश्यक है । सामाजिक पिछड़ेपन और आर्थिक समृद्धि की स्थिति खतरनाक होती है। इसे विकास का संतुलित रूप नहीं माना जा सकता। सांस्कृतिक मूल्यों की अनदेखी करके आर्थिक विकास स्थायी एवं सफल नहीं हो सकता। विकास के नाम पर आज आदिवासी संस्कृति, मूल्यों का हनन हो रहा है , विकास के नाम पर गैर-सरकारी संगठन, अन्तरराष्ट्रीय कम्पनियां अपना निवेश बढ़ाने और फैक्टरी लगाने के लिए जंगलों को उजाड़कर अपने व्यापारिक कारोबार का दायरा बढ़ा रहे हैं। विकास के नाम पर सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना की जा रही हैं, उन्हें बाजारवाद की अर्थव्यवस्था का रूप दिया जा रहा है। इसे विकास का संतुलित रूप नहीं माना जा सकता है। इस संबंध में श्यामाचरण दुबे का दृष्टिकोण है-

[46] श्यामाचरण दुबे, विकास का समाजशास्त्र, पृ. 07

"विकास और आधुनिकरण के लिए आर्थिक वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है। सांस्कृतिक अस्मिता की अवहेलना तीव्र प्रक्रियाओं को जन्म देती है, विकास की प्रक्रिया परम्परा की ऊर्जा से लाभान्वित नहीं हो पाती।"[47] इस तरह विकास की प्रक्रिया आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक विविध रूपों में जुड़ी हुई रहती है।

वस्तुतः विकास कार्यों के कारण होने वाला आदिवासी विस्थापन प्रबुद्ध वर्ग के लिए अत्यंत संवेदनशील विषय रहा है। रमणिका गुप्ता आदिवासी विस्थापन को मात्र आदिवासियों के स्थानान्तरण के रूप में नहीं देखती बल्कि इस विस्थापन को उनके मूल्यों, नैतिक अवधारणाओं, जीवन शैलियों, भाषाओं और संस्कृति से भी विस्थापन मानती है। वे लिखती हैं - भारत में आदिवासी जन समूहों का विस्थापन व पलायन तो ऐसे सदियों पहले से ही जारी है , परन्तु इधर विकास के नाम पर बरती गयी नीतियों के कारण वे केवल अपनी जमीनों, जंगलों, संसाधनों व गाँव से ही बेदखल नहीं हुए बल्कि उनके मूल्यों, नैतिक अवधारणाओं, जीवन शैलियों, भाषाओं और संस्कृति से भी उनके विस्थापन की प्रक्रिया तेज हो गयी। इस विस्थापन में सरकारी हस्तक्षेप व नीतियों के साथ-साथ तथाकथित मुख्यधारा के समाज उनके संसाधनों पर कब्ज़ा करके उन्हें बेदखल कर देना भी उनके विस्थापन और पलायन का मुख्य कारण रहा है।"[48] इस तरह मुख्यधारा के समाज के द्वारा आदिवासियों को उनके संसाधनों से बेदखल कर देना भी एक तरह से चिंता का विषय है, जिनके कारण उनको अपनी जमीन से बेदखल होना पड़ रहा है। विकास के कार्यों के चलते आदिवासी समाज को विस्थापन की समस्या से जूझना पड़ रहा है।

[47] श्यामाचरण दुबे, विकास का समाजशास्त्र, पृ. 08

[48] आदिवासी विकास से विस्थापन, रमणिका गुप्ता, पृ. 07

वैश्वीकरण के संदर्भ में आदिवासी समाज की यथास्थिति पर पड़ताल करते हुए लक्ष्मण गायकवाड़ जी लिखते हैं- "आज के वैश्वीकरण के युग में आदिवासी पूरा बर्बाद हो रहा है, क्योंकि उसके पास जो कुछ था उसको भूमंडलीकरण ने उसकी जीवन-शैली को ही ख़त्म कर दिया है। उसकी जो जंगल में जमीन थी वो भी आज चली गयी। दूसरी बात यह है कि आदिवासी का अस्तित्व ही खत्म होने के कगार पर है। आज के वैश्वीकरण के युग में जो कुछ उसके पास बचा-खुचा था वह भी छीना जा रहा है और वह भीखमंगा हो गया है। यहाँ यह सवाल खड़ा होता है कि उसका कोई अस्तित्व इस भूमंडलीकरण में बरकरार रहेगा क्या ? "[49] इसलिए उसको अपने जीने के सहारे के प्रति सजग होना चाहिए। इस भूमंडलीकरण को कोई रोक नहीं सकता। इसलिए आदिवासियों को ऊपर उठने की कोशिश करनी चाहिए।

निष्कर्ष

अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है जिसने प्रकृति का संरक्षण किया है। क्योंकि आदिवासी समाज संस्कृति का पोषक रहा है। उसने आदिम परम्पराओं को नृत्य, संगीत के माध्यम से संरक्षित रखा है। आज भी आदिवासी समाज विस्थापन और अस्मिता के अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहा है। उसका ध्येय अपनी अस्मिता की रक्षा करना है। आदिवासी समुदाय को आज प्राकृतिक संसाधनों पर अपने पारम्परिक अधिकारों के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ रहा है। जल-जंगल और जमीन के लिए अस्तित्व की लड़ाई लड़नी पड़ रही है। औद्योगिक क्रांति जहाँ अन्य समुदायों के लिए समृद्धि का द्वार खोल रही है,

[49] साक्षात्कारों में आदिवासी, संपा. डॉ. भीमसिंह, दुर्गाराव बाणावतु, पृ. 13

वहीं आदिवासियों के लिए विस्थापन का दंश लेकर आयी है। आज आदिवासी समाज साहित्यकारों की रचनाओं में उनकी पीड़ा और उनका संघर्ष बेहतर ढंग से अभिव्यक्त हो रहा है। उनकी लोककथाओं में प्रकृति के अन्तर्सम्बन्धों के जरिये नए ज्ञान की शिक्षा दी गई है। गीत , नृत्य और संगीत उनके सामाजिक जीवन के मुख्य आधार हैं। इस तरह आदिवासी समाज की विसंगतियों को आदिवासी कवि अपनी कविताओं में उकेरने का प्रयास निरंतर कर रहे हैं।

आदिवासी समाज वनवासी यानी वनों में निवास करने वाला रहा है उसका किसी से वैर-भाव नहीं है , वह तो अपना जीवन मस्त होकर प्रकृति की गोद में जीता है। फिर कुछ विदेशी आक्रान्ताओं और उपनिवेशवादियों ने इनके क्षेत्र में घुसकर इनको इनकी जमीन से बेदखल करने की कोशिश की। और इतना ही नहीं उन्होंने इनके संसाधन लूटकर विदेशी कम्पनी के हाथों में दे दिए। इस तरह ब्रिटिश शासन के दौरान उपनिवेशवादी अंग्रेजों ने आदिवासियों को जंगल-जमीन से बेदखल करने की नीति अपनाई थी। फलस्वरूप आदिवासियों के सोच, विचार और व्यवहार से आदिवासी दर्शन के मूल आधार सामुदायिकता, समानता, स्वायत्तता, आत्म-सम्मान, जरूरत आधारित अर्थव्यवस्था एवं प्रकृति केन्द्रित जीवन विलुप्त होते जा रहे हैं।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी की आदिवासी कविता : इतिहास और प्रवृत्तियाँ

2.1.हिन्दी की आदिवासी कविता का इतिहास

2.1.1.आजादी से पूर्व

2.1.2. आजादी से 1990 तक

2.1.3. 1990 से अद्यतन

2.2.हिन्दी की आदिवासी कविता की प्रवृत्तियाँ

2.2.1.प्रकृति से सहजात संबंध

2.2.2.सामुदायिकता

2.2.3. जल, जंगल, जमीन का सवाल

2.2.4. अस्तित्व और अस्मिता के प्रतिमान

2.2.5. इतिहास-बोध

2.2.6.आदिवासी स्त्री अस्मितामूलक चुनौतियाँ

2.2.7. विकास बनाम विस्थापन

2.2.8. भूमंडलीकरण और पूँजीवाद

2.2.9. अंधविश्वास एवं कुरीतियाँ

द्वितीय अध्याय

हिन्दी की आदिवासी कविता : इतिहास और प्रवृत्तियाँ

प्रस्तावना-

भारत के आदिवासियों का सुव्यवस्थित इतिहास उपलब्ध नहीं है, क्योंकि इस दिशा में अभी तक ईमानदार प्रयास नहीं हुए हैं। इसकी एक मुख्य वजह यह है कि भारतीय विद्वानों के मन में सामंती व उपनिवेशवादी संस्कार अभी बाकी हैं। इसी मानसिकता के कारण भारतीय विद्वान् अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाए। लेकिन मार्क्सवादी इतिहासकारों ने आदिवासी इतिहास को सामने लाने का काम बड़े स्तर पर सबसे पहले किया। आज आदिवासियों के इतिहास से संबंधित जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसका बड़ा हिस्सा मार्क्सवादियों की ही देन है। लेकिन ये विद्वान भी आदिवासी इतिहास के साथ सही न्याय नहीं कर पाए। आदिवासियों के संघर्ष को इन्होंने या तो किसानों के या मजदूरों के संघर्ष के रूप में देखा है ताकि आगे जाकर आदिवासियों को सर्वहारा वर्ग में फिट कर सकें। जहाँ आदिवासी इन्हें जंगल में संघर्ष करता नज़र आता है, वहाँ वह किसान हो जाता है और ज्यों ही वह जंगल से बाहर आता है तो इनकी नज़र में मजदूर हो जाता है। केथलीन गफ, ए.आर.देसाई, एल.नटराजन व रणजीत गुहा इत्यादि विद्वान आदिवासी आंदोलन को किसान आंदोलन ही स्वीकार करते हैं। इस संबंध में कुमार सुरेश सिंह का मानना सही है कि 'किसान आंदोलन सीधे खेती से जुड़े होते हैं क्योंकि किसान जमीन से ही अपना

गुजारा करते हैं जबकि आदिवासी आंदोलनों के केंद्र में जमीन व जंगल दोनों होते हैं। दूसरी बात यह कि किसानों की समस्या केवल फसल या उसका प्रशासनिक शोषण होता है। जबकि आदिवासियों की समस्या इसके साथ यह भी है कि ये किसी बाहरी आदमी जिसे वे 'दिकू' कहते हैं, उससे इनका किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं होता है।"[50] भारत के आदिवासियों का इतिहास सत्ता नहीं, संघर्ष का इतिहास रहा है। यह भी एक बहुत बड़ा कारण है कि महज सत्ता के बदलते घटनाक्रमों को ही इतिहास समझने वाले इतिहासकार आदिवासी इतिहास के साथ न्याय नहीं कर सके। आदिवासी इतिहास राजनीतिक समझौता का इतिहास नहीं है, बल्कि अस्तित्व के लिए लड़ रहे संघर्ष का इतिहास है। देश के तमाम आदिवासियों ने अस्तित्व और अस्मिता के लिए हमेशा लड़ाईयाँ लड़ी हैं। यदि हम भारत के इतिहास पर गौर करें तो हम पाते हैं कि आदिवासियों ने अंग्रेजी सामंतवाद के खिलाफ़ लम्बी लड़ाई लड़ी। जिनमें मिदिनापुर के चेर आदिवासियों का विद्रोह, संथाल मुंडा विद्रोह, टंट्या भील का विद्रोह, राजस्थान का मानगढ़ आंदोलन आदि कई ऐसे उदाहरण हैं, जिनको इतिहास में कोई जगह नहीं दी गई। यदि उन पर लिखा भी गया है तो बहुत कम मात्रा में, हिन्दी सहित्य की फुटकल रचनाओं की तरह। हिन्दी के आदिवासी लेखन में ऐसे कई उपन्यास आते हैं, जिनमें आदिवासियों को मुक्ति संग्राम का विषय बनाया गया। बांग्ला में महाश्वेता देवी ने 'जंगल के दावेदार' में बिरसा मुंडा के विद्रोह को आधार बनाया। बाबा भांड ने मराठी में टंट्या भील को आधार बनाकर 'टंट्या' उपन्यास लिखा और हिन्दी में 'संथाल विद्रोह हूल' को आधार बनाकर दो उपन्यास लिखे गए। इनमें मधुकर सिंह का 'बाजत अनहद ढोल' और राकेश कुमार सिंह का

[50] हाशिये का वृत्तांत, संपा,दीपक कुमार, देवेंद्र चौबे, पृ.362

'जो इतिहास में नहीं है' । 'बाजत अनहद ढोल' में अंग्रेजों के द्वारा आर्थिक शोषण और बाहरी घुसपैठ दोनों को विद्रोह का मूल कारण के रूप में दर्शाया है । राकेश कुमार सिंह ने 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में 1855 के संथाल विद्रोह को आधार बनाया । इस बात को भी बताने का प्रयास किया कि हूल की इस लड़ाई में संथालों के साथ दूसरी जातियों का भी योगदान था जो कि आदिवासी नहीं थे । इस संबंध में राकेश कुमार सिंह का मानना है-"संथाल आंदोलन हूल कोई विद्रोह मात्र नहीं था । वरन् अपनी अस्मिता, स्वायत्तता और संस्कृति के लिए वनपुत्रों के लिये मुक्तिकामी संघर्ष था ।"[51] आदिवासी विद्रोह के इतिहास को इतिहासकारों ने किस नजरिए से देखा, उसका जिक्र हमें आदिवासी ग्रंथों में पुख्ता रूप में मिलता है । इसी संदर्भ में आदिवासी विद्रोह परम्परा की बात करते हुए वीरभारत तलवार सटीक टिप्पणी करते हैं-"जहाँ तक झारखण्ड का सवाल है, झारखण्ड में आदिवासियों के विद्रोह की शुरुआत वहाँ अंग्रेजों के आने के बाद से हुई । अंग्रेजों से पहले भी बाहर से लोग आते रहे हैं, लेकिन कुछ विरोधपूर्ण संबंधों के बावजूद उन्होंने स्थानीय आदिवासी समाज से अपना सामाजिक, राजनैतिक तालमेल बिठा लिया था । स्थानीय व्यवस्था के अंग बन गए थे । अंग्रेजों ने आदिवासियों की परम्परागत भूमि और सामाजिक व्यवस्था पर गंभीर हमले किए और इससे उनका अस्तित्व खतरे में पड़ गया । अपने अस्तित्व और हितों की रक्षा के लिए उन्होंने हथियार उठा लिए । अंग्रेजों की थोपी गयी व्यवस्था के खिलाफ़ बार-बार विद्रोह किए । अंग्रेजों के खिलाफ़ आदिवासियों ने जो विद्रोह किए, उन सबको अंग्रेजों ने अपने सैन्य-बल से

[51] जो इतिहास में नहीं है, राकेश कुमार सिंह, पृ. 9

कुचल दिया ।"[52] यह तो हुई आदिवासी विद्रोह की परम्परा की बात; अब हम साहित्यिक रचनाओं में आदिवासी को किस रूप में चित्रित किया, उसका जिक्र करेंगे। जहाँ तक हमें पता है बहुत कम रचनाएँ हैं जिनमें आदिवासी समाज को सही ढंग से चित्रित किया गया है। हिन्दी के अधिकतर लेखक मध्यवर्ग यानी शहरी वर्ग से आते हैं जिन्होंने आदिवासी समाज को नजदीक से नहीं देखा और न ही उनके जीवन-दर्शन को सही तरीके से समझ पाए । यह हमारी गलती नहीं है, इसका जिम्मेदार हमारे समाज की दकियानूसी मानसिकता है, जिसका रवैया आदिवासी समाज के प्रति हमेशा से ही गलत रहा है । जहाँ तक साहित्यिक रचनाओं में आदिवासी जीवन के चित्रण का सवाल है, वह बड़े पेचीदा ढंग से उभरकर सामने आता है। इसी संदर्भ में श्रीप्रकाश मिश्र का मिजो आदिवासियों के संघर्ष पर लिखा गया उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते है' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसी तरह उड़िया के लेखक गोपीनाथ महंती शायद भारत की सभी भाषाओं में आदिवासियों पर लिखने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यास 'अमृत संतान' और 'पारजा' ये दोनों कंध आदिवासियों पर लिखे गए आदिवासी जीवन और समाज को गहराई से जानने में महत्त्वपूर्ण साबित होते हैं।

आदिवासियों के इतिहास पर बात करते हुए अनुज लुगुन हरिराम मीणा की किताब 'आदिवासी जलियाँवाला एवं अन्य कविताएँ' के कवर पेज पर लिखते हैं कि- "आदिवासी जलियाँवाला' आजादी के पहले और उसके बाद आदिवासियों के कत्लेआम के विरुद्ध प्रतिरोध का दस्तावेज है । इस अर्थ में यह आदिवासियों के विस्तृत इतिहास की खोज है। कवि इस बात से भली-भांति परिचित है कि इतिहास

[52] साक्षात्कारों में आदिवासी, संपा. डॉ.भीमसिंह, पृ. 127

को दफ़न किए बिना कोई भी औपनिवेशिक प्रक्रिया नहीं चलाई जा सकती है। आदिवासी इतिहास के साथ यह आजादी के पहले भी हुआ और बाद में भी निरंतर जारी है। बहुत ही सचेत होकर कवि कहते हैं कि इतिहास के एक छोर में एकलव्य हैं तो दूसरे छोर पर मानगढ़ की महान शहादत है। आदिवासी इतिहास का दोनों छोर उपेक्षित है। इसे क्यों नज़रअंदाज किया गया ? यह सवाल कवि को बेचैन करता है। तब वह अपनी कलम चलाता है-'चलो मानगढ़ की धरती पर/जिसकी घटना का अब भी वृतांत अनलिखा/यदि इतिहास न लिख पाओ तो साथी,लिखो उसी पर कविता'। इतिहास से गुजरते हुए यथार्थ के अनुभव उसकी बेचैनी को परिपक्व बनाते हैं, तब वह प्रतिबद्ध होकर कहता है-'लिखने दो/इतिहास आज मुझको कविता में।' एक स्वाभाविक सवाल खड़ा होता है-क्या कविता में इतिहास लिखना संभव है? अगर ऐसा है तो फिर क्या काव्यात्मकता और ऐतिहासिकता का संकट नहीं होगा ? एक कवि के रूप में हरिराम मीणा इस सवाल के प्रति न केवल सचेत हैं बल्कि इस सवाल का ठोस जवाब उनके पास मौजूद है। यह जवाब आदिवासी समाज की पुरखा विरासत में ही मौजूद है। आदिवासियों ने अपने इतिहास को कविता में ही सदियों से दर्ज किया है। गीति रूप में दर्ज उनकी कविताओं में अदम्य साहस और आजादी का लहू किसी अनजानी सदी से लगातार बहता चला आ रहा है। महान क्रांतिकारी बिरसा मुंडा को कहाँ किस शासन या उसके इतिहासकार ने खड़ा किया? उसी तरह सिद्धू-कानू, तिलका माँझी, फूलो, सिनगी दई, नीलाम्बर-पीताम्बर, गुंडाधुर आदि को किसी दूसरे की कलम की क्या जरुरत थी ? उन्हें तो जनता की कविता ने अपने हृदयों में जीवित रखा। ऐसे में कोई आदिवासी कवि कविता इतिहास लिखने

की कवायद कर रहा हो तो फिर काव्यात्मकता और ऐतिहासिकता का सवाल क्यों? यह आदिवासी काव्यात्मकता और ऐतिहासिकता है-छल, छद्म और अभिजात्य बोध की कृत्रिमता से दूर सरल,सहज और प्रवाहमान"[53] । कवि ने कविता के जरिए फिर से विमर्श खड़ा किया है-केवल कविता में ही नहीं,बल्कि इतिहास में भी।

इतिहास में आदिवासी नायक-नायिकाओं के अनेक नाम मौजूद हैं, जिन्होंने औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में साहसपूर्ण संघर्ष किया । राजनीतिक इतिहासकारों और आदिवासी विषय के लेखकों और अध्येताओं ने आदिवासी आंदोलन को हमेशा एक 'मांग' के रूप में ही देखा है। 'मांग' के रूप में देखने की दृष्टि औपनिवेशिक काल की रही है । 'मांग' मानने की राजनीतिक अवधारणा के कारण ही अब नई व्यवस्था 'भूमंडलीकरण' के दौर में आदिवासियों को 'हाशिए का समाज', 'सबाल्र्टन' और 'अस्मिता' जैसी संज्ञाएँ दी जा रही हैं । इस सन्दर्भ में अश्विनी कुमार पंकज का मानना है कि चालीस-पचास के दशक में भारतीय राजनीति के पटल पर आदिवासी सवालों को 'आदिवासियत' के रूप में सूत्रबद्ध और स्थापित करने में जयपाल सिंह मुंडा का विशेष योगदान रहा है । जयपाल सिंह मुंडा ने आदिवासियों को 'Backward caste, Dipraived class' और 'Scheduled Tribe' मानने से इनकार किया और कहा कि भारतीय जमीन पर किसी भी दूसरे समुदाय की अपेक्षा आदिवासियों का हक़ प्राथमिक है। भारतीय संविधान में जो भी प्रावधान आदिवासी हित में शामिल हो पाए और नेहरु ने आदिवासियों के लिए 'पंचशील' की अवधारणा रखी लेकिन यह सब जयपाल सिंह

[53] आदिवासी जलियांवाला एवं अन्य कविताएँ, हरिराम मीणा, फलैप की भूमिका से उद्धृत

मुंडा के बिना संभव नहीं था। पचास के दशक की तरह आज भी आदिवासी आंदोलन 'राष्ट्रीय अखंड़ता' और 'आतंरिक सुरक्षा' के लिए ख़तरा है। आदिवासियों को हमारी लोकतांत्रिक सरकारें 'Disturbing Element' मानती हैं। ऐसे में राजनीतिक विचारकों द्वारा आदिवासी संघर्ष और आदिवासियत के दर्शन को नकारने की इस प्रवृत्ति पर पचास के दशक में ही जयपाल सिंह मुंडा ने बेबाकी से आदिवासी दृष्टि को प्रस्तुत किया है। इस संबंध में जयपाल सिंह मुंडा का एक लम्बा लेख बिरसा पर 'द बिहार हेराल्ड' में छपा। उनका मानना है-"बिरसा मुंडा और उनके आंदोलन से जुड़े विद्रोह को किसी भी कीमत पर एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। आदिवासी महासभा के अध्यक्ष के रूप में मुझे बहुत मजबूती से इस साम्प्रदायिक नजरिए का प्रतिकार करना पड़ा है कि बिरसा मुंडा है। कई लोग उनके बारे में जानते भी नहीं थे। आदिवासी महासभा के आंदोलन ने ही सबसे पहले बिरसा मुंडा को अपने नारों में जगह दी, उन्हें आदिवासी आंदोलन का नेता बनाया। जहाँ तक आदिवासी आंदोलन का संबंध है, बिरसा पंथ एक मिथक है।"[54] ऐसी मान्यता ईसाई मिशनरियों द्वारा फैलाई गयी, भारतीय मिथकों की यह विडम्बना के पक्षधर होते हैं। ये कभी स्वतंत्र ज्ञान का हिस्सा नहीं रहे। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति के तमाम मिथक आदिवासियों को अब भी असुर या राक्षस मानते रहे हैं। ये मिथक अभी तक सफल रूप में 'डिकोड' (Dicode) नहीं किये जा सके। भारतीय मिथकों की बात की जाए तो रामायण और महाभारत के ऐसे कई ऐतिहासिक तथ्य सामने आते हैं, जिनका जिक्र इतिहास में नहीं मिलता है जैसे- शूद्र, द्रविड, शबरी का संदर्भ आता है। इनमें से एकमात्र शबरी का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।

[54] लेख,जयपाल सिंह मुंडा,द बिहार हेराल्ड, 28 मई 1940, पटना, पृ. 4

बताया जाता है कि शबरी ने राम को फल भेंट किए थे। वेरियर एल्विन के शब्दों में- "शबरी ऐसे योगदानों का एक ऐसा प्रतीक बन चुकी है कि जनजातियाँ भारत के जीवन का निर्माण कर सकती हैं और करेंगी।"[55] इस संबंध में आदिवासी चिंतक हरिराम मीणा का मानना है कि जिस तरह से भारत के गैर-आदिवासी अपने को आदिवासी समाजों से सभ्य मानते हैं, ऐसा ही पश्चिम कभी हमारे गैर-आदिवासी समाजों के बारें में मानता था। उत्तरी और दक्षिण अमेरिका के आदिवासी मिथकों के अध्ययन के जरिए उन्होंने बताया कि आदिवासी भी औपचारिक और अमूर्त चिंतन करते हैं। उनका अपना अलग ज्ञान-शास्त्र रहा है। लेवी स्ट्रास और रोला बांर्थ दोनों ने ही मिथकों की तार्किक बुनावट की तरफ इशारा किया। मिथक मुख्यतः मनुष्य और प्रकृति के बीच के टकरावों और विरोधाभासों को कल्पना के स्तर पर हल करता है। फर्क यही है कि मिथक इतिहास की गति से अछूते से रहकर एक शाश्वत वर्तमान रचते हैं, जो अनंतकाल में दोहरा सकता है। आदिवासी धर्म-दर्शन में प्रकृति को ही महत्त्व दिया जाता है। प्रकृति में ही आदिवासियों की धार्मिकता छुपी हुई है। इसलिए डॉ.रामदयाल मुंडा कहते थे-'हम उनसे भी ज्यादा आधुनिक हैं जो आज के दिन प्रकृति की रक्षा करने की बातें कर रहे हैं। हम तो प्राचीनकाल से ही प्रकृति को महत्त्व देते आ रहे हैं। झारखण्ड में रहने वाले आदिवासियों का विश्वास प्राकृतिक शक्तियों पर ही आधारित है। यहाँ के उराँव, मुंडा, संताल, हो, खड़िया आदिवासियों ने ईश्वर सत्ता का नामकरण अलग-अलग रूपों में स्वीकार किया है। उनका मानना है कि सृष्टि में जो सर्वोच्च सत्ता है, वह प्रकृति में निहित है। ये पेड़ों की पूजा करते हैं।

[55] जनजातीय भारत, नदीम हसनैन, पृ.6

इस संबंध में थापर व भादुड़ी के लेख में स्पष्ट बताया गया है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में आदिवासियों को उपद्रवी बताकर उनकी निंदा की गई है, जबकि सम्राट अशोक ने उन लोगों को धमकी दी थी। इसके बारे में विस्तार से लेख में बताया है-"विभिन्न राजवंशों के जंगलों में विस्तार से जो हित जुड़े थे, उसके स्पष्ट कारण हैं। जंगलों से सेना के लिए हाथी मिलते थे, लोहा समेत दूसरी खनिज संपदा वहाँ थी, मकान के लिए लकड़ी मिलती थी, जंगलों की सफाई से खेती से राजस्व में बढ़ोतरी होती थी। बाद के युगों में, उन स्थितियों में भी जब वनवासियों पर निर्भरता रहती थी, उनके प्रति परंपरागत नजरिया यही था कि ये लोग सामाजिक दायरे से बाहर हैं और उनसे दूर ही रहना है।"[56] रोमिला थापर और अमित भादुड़ी ने यह सवाल भी उठाया कि क्या यह तौर तरीका आज से अलग था। इतिहास के तथ्यों को कैसे तोड़ा-मरोड़ा जाता है, इस संबंध में हरिराम मीणा का मानना है कि आदिवासियों का इतिहास अपराधी के रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किया गया। यह षड्यंत्र अंग्रेजों और देशी सामंतों का मिला-जुला प्रयास था। आदिवासियों की सत्ता और संसाधन छीन लिए जाने पर वे विद्रोही हो गए। सन् 1871 में Criminal Tribe Act सबसे पहले Bombay presidensi में लागू किया गया। आजादी के बाद इस कानून को समाप्त कर दिया और इसकी जगह 'आदतन अपराधी अधिनियम' बना दिया गया। सवाल यह यह उठता है कि ऐतिहासिक प्रमाण कहीं भी सिद्ध नहीं करते कि आदिवासी अपराधी रहे हैं, लेकिन गैर-आदिवासी समाज का अधिकांश सवर्ण तबका उस षड्यंत्र की वजह से अभी तक आदिवासियों के प्रति वही मानसिकता अपनाये हुए है।

[56] भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, खंड-एक, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ, 636

नदीम हसनैन ने अपनी पुस्तक 'ट्राइबल इण्डिया' में यह स्पष्ट रूप से जिक्र किया है कि-"भारतीय राजनैतिक व बौद्धिक नेतृत्व ने भी ब्रिटिश काल में आदिवासी समाज पर कोई ध्यान नहीं दिया । सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, अरविन्द घोष, विपिनचंद्र पाल, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले व बाल गंगाधर तिलक जैसे राष्ट नायकों ने सम्पूर्ण भारतीय समाज, सत्ता, धर्म आदि की चिंता व इन विषयों पर चिंतन करने के बावजूद आदिवासी समाज को अपने एंजेंडे में शामिल नहीं किया । निहार रंजन राय ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संदर्भ देते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि 19 वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में कांग्रेस के एंजेंडा में दलित वर्ग था, लेकिन आदिवासी समाज नहीं रहा । आदिवासी समाज की ओर सर्वप्रथम मुखर रूप से पंडित जवाहर लाल नेहरु ने चिंता जाहिर की । इसकी पृष्ठभूमि में डॉ. अम्बेड़कर एवं पं. नेहरु के प्रभाव से आदिवासी समाज के उत्थान के लिए भारतीय संविधान में विशेष प्रावधान रखे गए । सर्वोच्च न्यायालय ने 11 जुलाई, 1997 के अपने एक निर्णय में स्पष्ट कहा कि 'संविधान की मंशा है कि अनुसूचित क्षेत्रों की जमीन हमेशा आदिवासियों की बनी रहे, अन्यथा इन क्षेत्रों की शान्ति भंग होगी' ।"[57] आदिवासियों के संबंध में 5 जनवरी 2011 को उच्चतम न्यायालय ने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय सुनाया । इस निर्णय में 13 मई, 1994 को भील आदिवासी महिला नंदा बाई के उत्पीड़न से सम्बंधित था जिसमें अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा अपराधियों को अपर्याप्त सजा सुनाई थी । लोकतंत्र में आदिवासियों की क्या भूमिका रही है इस संबंध में प्रो. चौथीराम यादव का मानना है कि आज आदिवासी समाज मुख्यधारा के लोगों के द्वारा उपेक्षित रहा है । स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासियों की महत्त्वपूर्ण

[57] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. 19

भूमिका में बिरसा मुंडा, सिदो कान्हू, रानी गाडिल्न्यू तमाम महत्त्वपूर्ण हस्तियों के नाम सामने आते हैं , इन आंदोलनों में आदिवासियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और जिस तरह से मुख्यधारा में बड़े नायकों को सामने लाया गया, इतिहास में दर्ज किया गया और लेकिन उसमें आदिवासी नायकों को महत्त्व नहीं दिया गया। इधर राजनीति में भी आदिवासियों को बहुत कम स्थान मिल पाया है। आज के दौर में सत्ता के केन्द्रीकरण में आदिवासी पिस रहे हैं और आदिवासी समाज में जिसकी अहमियत न हो उसे मुख्यमंत्री बनाया जायेगा। मरांडी बाबू कह रहे थे-'अगर हम हमारी जमीन नहीं बेचेंगे तो हम घाटे में रह जायेंगे, इसलिए आदिवासी की जमीन गैर-आदिवासी भी खरीद सके ऐसा प्रस्ताव लाया गया।

2.1. हिन्दी की आदिवासी कविता का इतिहास

आदिवासी कविता का इतिहास मौखिक रूप में इस देश का सबसे प्राचीनतम इतिहास है। लेकिन इसका लिप्यांकन, दस्तावेजीकरण अभी तक नहीं हो पाया है। अत: इसके स्वरूप और अखिल भारतीय आदिवासी कविता के संबंध में निश्चित रूप से कहना कठिन है। औपनिवेशिक कालखंड में अंग्रेज अधिकारियों और मिशनरियों ने आदिवासी भाषाओं और साहित्य को जानने और संकलित करने का अभूतपूर्व प्रयास किया था। लेकिन इसकी भी सीमा देखी जा सकती है। अंग्रेजों के अपने प्रशासनिक हित इसके पीछे छुपे हुए थे। आदिवासी चिंतक और रचनाकार हरिराम मीणा ने आदिवासी साहित्य को इस रूप में निर्दिष्ट किया है- "आदिवासी साहित्य की जब बात की जाती है तो इस साहित्य की दो प्रमुख विशेषताएँ सामने आती हैं-

1. आदिवासी साहित्य की मौखिक परम्परा, 2. उपनिवेशवादी प्रभाव से सृजित आदिवासी साहित्य ।"[58] आदिवासी विषय के विशेषज्ञ प्रो. जी.एन. देवी का मानना है कि आदिवासी साहित्य के प्रति तथाकथित मुख्यधारा के विद्वानों का दृष्टिकोण एकांगी और पूर्णत: गलत था, क्योंकि इन्होने आदिवासी साहित्य की समूची वाचिक परम्परा को बोली के नाम से ख़ारिज कर दिया था। भारतीय आदिवासी साहित्य को मुख्यतः चार भागों में वर्गीकृत करके देखा जाता है-

1 . आदिवासियों का वाचिक साहित्य,

2.उपनिवेशवादियों का आदिवासियों के जीवन पर लिखित साहित्य,

3. गैर-आदिवासियों का आदिवासियों के जीवन पर लिखित साहित्य,

4. शिक्षित आदिवासियों का आदिवासियों के जीवन पर लिखित साहित्य।

हिन्दी की आदिवासी कविता के लिखित इतिहास को हम तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं। जो इस प्रकार हैं-

1. स्वाधीनता /देश की आजादी से पूर्व,

2. आजादी से 1990 तक,

3. 1990 से अद्यतन।

[58] आदिवासी दुनिया, पृ. 212

आदिवासी कवयित्री वंदना टेटे झारखण्ड की आदिवासी भाषाओं पर सविस्तार लिखती हैं- "झारखण्ड की आदिवासी भाषाएँ अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही हैं। औपनिवेशिक काल से आज तक के स्वतंत्र भारत में झारखंडी जनगण राष्ट्रीयता एवं पहचान के लिए अंतहीन संघर्ष में है। मुंडारी, खड़िया, कुड़ुख और संथाली जैसी अन्य आदिम भाषाएँ अपनी उत्कट जिजीविषा के साथ लड़ते-भिड़ते हुए पुरखौती(लोक) से शिष्ट साहित्य के संसार में साहस के साथ प्रवेश कर चुकी हैं।"[59]

सन् 1990 के बाद के कविता लेखन में बहुत सारे नाम आते हैं ,जैसे –महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, वाहरू सोनवणे, रणेंद्र, हरिराम मीणा, एकांत श्रीवास्तव, रमणिका गुप्ता, उज्ज्वला ज्योति तिग्गा, अनुज लुगुन इत्यादि है। इनमें हरिराम मीणा का नाम सबसे पहले आता है, क्योंकि हरिराम मीणा की कविता में मानवीय संवेदना की गहरी समझ है । उनकी कविता आत्मविश्लेष्ण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है । आदिवासी कवयित्री रमणिका गुप्ता की 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' पुस्तक आदिवासी चिंतन के विकास में नयी वैचारिकी का दस्तावेज माना जाता है , जो आदिवासी विमर्श को नया आयाम देने का काम करती है। रमणिका गुप्ता की यह पुस्तक विविध विधाओं का एक संग्रह है, जिसमें इन्होंने मूल भाषा और भारतीय भाषाओं की रचनाओं को एक जगह समेटकर हिंदी के जनमानस तक पहुँचाने का काम किया। रमणिका गुप्ता ने इस पुस्तक में विशेष रूप से मूल भाषा के आदिवासी साहित्य को ही लिया, इसलिए भी यह पुस्तक आदिवासी विमर्श की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

[59] आदिवासी साहित्य परम्परा और प्रयोजन, वंदना टेटे, पृ. 37

निर्मला पुतुल मूलतः आदिवासी कवयित्री हैं। इनका जन्म संथाली परिवार में 1972 में हुआ। इन्होंने संथाली भाषा में ही रचनाएँ की है। इनके दो काव्य-संग्रह अलग-अलग नामों से अलग-अलग प्रकाशनों से प्रकाशित हुए हैं। जिनका अनुवाद अशोक सिंह ने किया है। लेकिन बड़े प्रकाशनों की राजनीति के चलते दूसरे काव्य संग्रह में से अनुवादक का नाम हटा दिया गया। इनके काव्य संग्रह इस प्रकार हैं:-

1. नगाड़े की तरह बजते शब्द (भारतीय ज्ञानपीठ, 2004, दिल्ली)
2. अपने घर की तलाश में (रमणिका फाउंडेशन, 2004, दिल्ली)
3. बेघर सपने (आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2014)

इनके दोनों काव्य-(नगाड़े की तरह बजते शब्द, अपने घर की तलाश में) संग्रह का अनुवाद अशोक सिंह ने किया है। इनका पहला काव्य-संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' काफ़ी लोकप्रिय रहा है। इनका तीसरा काव्य-संग्रह 'बेघर सपने' आधार प्रकाशन हरियाणा पंचकूला से प्रकाशित हुआ है। इनके काव्य-संग्रह में आदिवासी जीवन स्थिति का यथार्थ चित्रण बखूबी ढंग से किया है। निर्मला पुतुल की कविता में शोषण के खिलाफ तीखा प्रतिरोध का स्वर सुनाई पड़ता है। इनकी कविताओं में आदिवासी स्त्री की अस्मिता के सवाल को बखूबी ढंग से उठाया गया है। इनकी कविता आदिवासी समाज के साथ स्त्री के विविध पहलुओं पर भी टिप्पणी करती है।

हिन्दी लेखन की परम्परा में आदिवासी साहित्य की अभिव्यक्ति विविध परिदृश्य के रूप में हुई है। जिनमें कविता विधा के रूप में कवियों ने आदिवासी प्रतिरोध की नई जमीन तैयार की है। इसी आदिवासी चेतना से लैस कविता आदिवासी दर्शन की विचारधारा के साथ आगे बढ़ रही है। इसी रचनात्मक ऊर्जा के

साथ आदिवासी साहित्य नए विमर्शों के दौर में बेहतर साबित हो रहा है। इसी संदर्भ में आदिवासी साहित्य की वाचिक परम्परा लोकगीतों के रूप में विद्यमान है। हमें उनकी दृष्टि के साथ आदिवासी चेतना को उनके अस्तित्व व अस्मिता के साथ जोड़कर देखना चाहिए। यदि परम्परा की बात करें तो आदिम साहित्य से लेकर अब तक की परम्परा में आदिवासी दर्शन को नकारने की कोशिश की गई। यहाँ तक गैर-आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी कविता को कवितापन ही नहीं माना बल्कि उन्हें साहित्य से ख़ारिज करने की कोशिश की।

2.1.1. आजादी से पूर्व

हिन्दी में आदिवासी कविता की परम्परा की शुरुआत नब्बे के दशक से पहले ही शुरू हो जाती है। सन् 1930 के दशक में जब हिन्दी और आधुनिक कविता शैशवावस्था में थी ,उस समय सुशीला सामद ही हिन्दी में कविताएँ लिख रही थीं। क्योंकि उस दौर में भारतीय पटल पर कविता के क्षेत्र में गिनी-चुनी कवयित्रियों की ही उपस्थिति थी। सुशीला सामद जब तीस के दशक में कविताएँ लिख रही थीं, उस समय के दौर में साहित्यिक इतिहास में बहुत कम महिलाओं का जिक्र मिलता था। हिन्दी जगत में आदिवासी कविता की क्रांति की शुरुआत हिन्दी की पहली आदिवासी कवयित्री सुशीला सामद ने की। जिनका पहला काव्य संग्रह 'प्रलाप' (1935) हिन्दी में प्रकाशित हुआ। 'प्रलाप'(1935) के बाद 'सपने का संसार' सुशीला सामद का दूसरा काव्य-संग्रह हैं जो 1948 में प्रकाशित हुआ। वह केवल कविताएँ ही नहीं लिख रही थीं, बल्कि साथ-साथ एक साहित्यिक-सामाजिक पत्रिका 'चाँदनी' का संपादन-प्रकाशन भी कर रही थी। सुशीला सामद छायावादी

रुझान के बावजूद प्राकृतिक-सांस्कृतिक परिवेश से गहरे रूप में जुड़ी हुई हैं और वे बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से आदिवासी विचारों की अभिव्यक्ति कविता का केन्द्रीय बिंदु मानती हैं-

'सुन पड़ता खग-दल का गान
चलाते तम पर हैं घन बाण
प्रकृति का तज के सारा स्नेह
किया है उससे भारी द्रोह(शिशिर)
विहग-कुल आकुल स्वर में जाग
करेगा अभिनन्दन-गान!
फिर धीरे-धीरे झुक झुक कर
वृक्ष करेगें पुष्प प्रदान ।।"[60]

इसी क्रम में सुशीला सामद की दूसरी कविता 'नश्वरता' का जिक्र हुआ है, जिसमें वे छायावादी कवियों की तरह जीवन के क्षण-भंगुर होने की बात नहीं करती है बल्कि वे यहाँ आदिवासी संदर्भ में जीवन के विविध पहलुओं से पाठक को रूबरू करवाती हैं-

'मेरे क्षण-भंगुर जीवन में
सरिता में शुभ्र लहर-सी
आती है बस यौवन-लहरी
जीवन में एक कहर सी ।"[61]

2.1.2. आजादी से 1990 तक

आजादी के बाद कवि दुलाय चन्द्र मुंडा का मुंडारी भाषा में मुंडारी कविताओं का संग्रह 'बम्बरू' (1966) प्रकाशित हुआ । दुलाय चन्द्र मुंडा आधुनिक मुंडारी

[60] प्रलाप, सुशीला सामद, संपा. वंदना टेटे, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, पृ. 20 भूमिका से
[61] वही, पृ. 59

साहित्य के आधार स्तंभ है। उनका 'बम्बरू' कविता-संग्रह में 37 गीतों का संकलन है। 'बम्बरू' का हिन्दी रूपांतर 'मशाल' है। इस संग्रह में मुंडारी भाषाओं की कविताओं का संकलन है। दुलाय चन्द्र मुंडा का दूसरा कविता संग्रह 'नव पल्लव' 1966 में बिहार सचिवालय मुद्रणालय से प्रकाशित हुआ।

दुलायचन्द्र मुंडा की कविता 'तिरिरिरी बांसुरी के स्वर में' मूल भाषा मुंडारी में गीत रूप में लिखा गया है और यह गीत मात्र चार कड़ियों का है। आदिवासी कविताओं की मूल प्रकृति 'गीत' की रही है। उनकी कविता में संगीत और नृत्य की अनिवार्यता के गुण मौजूद हैं-

'कौन सा रास्ता लिया?
नहीं दिखते तुम्हारे क़दमों के निशान तक
मैं कहाँ खोजूंगी?

तिरिरिरी बांसुरी के स्वर में

मैं तुमको नहीं सुनती हूँ।"[62]

इसके बाद रामदयाल मुंडा का 'सेलेद'(विविधा) नामक कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में मुंडारी, नागपुरी और हिन्दी कविताएँ प्रकाशित हुई। इनका दूसरा कविता संग्रह 'नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य नगीत' (1980) में झारखण्ड साहित्य परिषद से प्रकाशित हुआ। रामदयाल मुंडा की कुछ कविताओं में देशप्रेम का जिक्र मिलता ह। आजादी की ख़ुशी में पूरा आदिवासी समुदाय ख़ुशी में झूम उठता है और साथ में ढ़ोल-नगाड़े बजाता हुआ कहता है कि आज मुक्ति दिवस है यानी रावण राज्य चला गया और अब सती-सीता भी लौट आई है। उनकी कविता 'रावन राइज

[62] लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, संपा. वंदता टेटे,, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 16

सेनो:जाना' में रावण राज्य के चले जाने पर जो माहौल आदिवासी समुदाय में देश की आजादी को लेकर दिखाई देता है-

मुंडारी	**हिन्दी**
रावन राइज सेनो:जाना	रावण का राज चला गया
सीता सोती: रुआडलेना	सती सीता लौट आई
धरती रे, धरती रे	धरती पर, धरती पर
तिरंगा ओटाडजाना सिरिमारे।	तिरंगा लहरा उठा आसमान में।"[63]

इसी क्रम में उनकी दूसरी कविता 'हातु-हातु, टोला-टोला, 'गाँव गाँव, टोला-टोला' में वे नष्ट होती संस्कृति को बचाने की बात करते हैं और साथ ही साथ सभी से विनती करते हैं कि सभी इस काम के लिए एक साथ आएँ-

मुंडारी	**हिन्दी**
'सुकु ताबु आतुताना	हमारी खुशी बही जा रही है
गाड़ा मुलि जालाकार	नदी की ओर, समुंदर को
एन सुकु मारबु साब रुडाए !	उस खुशी को, आओ, हम रोकें
मारबु साब रुडाए!	आओ, हम रोकें ।"[64]

रामदयाल मुंडा का यह सन्देश सिर्फ आदिवासियों के लिए नहीं है बल्कि पूरे देश में ख़त्म हो रही हमारी संस्कृति को बचाने के पक्ष में भी है।

[63] सेलेद , रामदयाल मुंडा, साईंल राकाब पुथिसेंटर कोलकाता, पृ. 118
[64] सेलेद , रामदयाल मुंडा, साईंल राकाब पुथिसेंटर कोलकाता, पृ. 98

विनोद दास की कविता 'खिलाफ़ हवा से गुजरते हुए' का प्रकाशन 1986 में भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से हुआ। इस संकलन की कविताएँ समकालीन सामाजिक यथार्थ से सीधी टकराहट की कविताएँ हैं। उनकी कविताओं में यथार्थ की मार्मिक संवेदना के स्थान पर उसके कंकाल की खड़खडा़हट सुनाई देती है। यह कविता आम आदमी का दुःख और उसके सामान्य जीवन के विविध अनुभवों को सहजता के साथ अभिव्यक्त करती है। कविता 'गले मिलते रंग में' किशोर अवस्था के सुनहरे सपनों की आकांक्षा का उद्बोधन है-

'जब मिलता है गले एक रंग दूसरे रंग से
कुछ बदल जाता है उसका रंग पहले से
जैसे कुछ बदल जाता है आदमी

दूसरे आदमी से मिलने के बाद

रंगों की बारिश हो रही है

और पत्तियों से टपक रहा है रंग

मेरी आत्मा के भीतर हवा में गूंज रहा है

सिर्फ एक शब्द बार बार

प्यार प्यार प्यार।"[65]

इसी क्रम में इनकी दूसरी कविता 'बीड़ी' है जिसमें 'बीड़ी' एक प्रगतिशीलता का ताना-बाना बुनती है। इस कविता में कवि ने बीड़ी को प्रतीकात्मक रूप देकर अपनी बात कही है। कवि ने इसे क्रांति का प्रतीक बनाकर बड़े सुन्दर नियोजित ढंग से अपनी बात कही है-

[65] खिलाफ़ हवा से गुजरते हुए, विनोद दास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, संस्करण 1986, पृ. 10

'सामने से बीड़ी पीता एक आदमी आता है

अधजली बीड़ीवाला उसे रोकता है

बीड़ी से बीड़ी मिलती है

आग से आग फैलती है।"[66]

2.1.3. 1990 से अद्यतन

सन् 1990 के दशक के बाद धीरे-धीरे हिन्दी पट्टी में अनेक नाम आने शुरू होते हैं। जिनमें से आदिवासी चिन्तक व समाज सेविका महिला के रूप में रमणिका गुप्ता का नाम आता है, जिन्होंने आदिवासी भाषाओं में महत्त्वपूर्ण संकलन तैयार किया। उन्होंने आदिवासी कविता संग्रह व पत्रिकाओं का सम्पादन का आरम्भ 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी (2002) से शुरू किया। इसी क्रम में रमणिका गुप्ता ने 'कलम को तीर होने होने दो' का संपादन महादेव टोप्पो के साथ किया जिसका प्रकाशन वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ। इस संकलन में झारखण्ड के आदिवासी हिन्दी कवियों को केन्द्रित किया है।

आज तक दूसरे ही लोग इन्हें उपदेश देते रहे हैं, ये स्वयं क्या चाहते हैं, इसकी बजाय केवल यही कहते रहे हैं- "बस सुनो ; जो हम कहते हैं- यही तुम्हारे लिए है- हमारे अनुभव से लाभ उठाओ, उन्हें न तो वे अपने अनुभवों से सीखने का अवसर देते हैं और ना ही कुछ कहने का वाहरू सोनवणे ने 'स्टेज' कविता में इस प्रवृत्ति को हू-ब-हू रखा है-

"हम स्टेज पर गए ही नहीं और हमें बुलाया भी नहीं

[66] खिलाफ़ हवा से गुजरते हुए, विनोद दास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, संस्करण 1986, पृ. 10

उंगली के इशारे से ,हमारी जगह हमें दिखाई गयी
वे स्टेज पर खड़े हो हमारा दुःख, हमें ही बताते रहे
हम बडबडाए कान देकर वे सुनते रहे और हमारे कान पकड़ कर
हमें ही धमकाया माफ़ी मांगो नहीं तो..”[67]

रमणिका गुप्ता की ‘प्रतिरोध’ कविता में आदिवासी उलगुलान का स्वर सुनाई देता है। इस कविता के माध्यम से कवयित्री ने क्रांति चेतना की बात की है -

‘हमने तो कलियाँ माँगी ही नहीं
काँटे ही माँगे
पर वो भी नहीं मिले
यह न मिलने का एहसास
जब सालता है
तो काँटों से भी अधिक गहरा चुभ जाता है
तब,प्रतिरोध में उठ जाता है मन
भाले की नोकों से अधिक मारक बन..।”[68]

आदिवासी चिन्तक रमणिका गुप्ता की पुस्तक ‘आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी’ में रामदयाल मुण्डा, सरिता बडाइक, ग्रेस कुजूर, महादेव टोप्पो आदि की कविताएँ संकलित की गई हैं। जिनमें ग्रेस कुजूर ‘एक जनी शिकार’ व अन्य सात कविताएँ के साथ प्रकाशित होती हैं। रामदयाल मुण्डा की ‘विकास का दर्द के साथ’, ‘वापसी’, परिवर्तन व ‘कथन शालवन के अन्तिम शाल का’ आदि कविताएँ प्रकाशित होती हैं। महादेव टोप्पो की ‘बिना मुर्गे के झारखण्ड में, सुबह के साथ ग्यारह कविताएँ आती हैं और इनके अलावा निर्मला पुतुल ,लक्ष्मण सिंह, सहदेव सोरी, मोती लाल, इत्यादि

[67] आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, 2002 नयी दिल्ली, (संपादकीय से)
[68] कविता कोश, रमणिका गुप्ता, ‘प्रतिरोध’ कविता

की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। इसी क्रम में हरिराम मीणा का काव्य संग्रह 'सुबह के इंतजार में' (2006), 'समकालीन आदिवासी कविता' (संपादन 2013), का प्रकाशन होता है। आदिवासी कवि हरिराम मीणा की कविता में विस्थापन का दर्द इस तरह अभिव्यक्त हुआ है -

'देखो तुम देख रहे हो कि वो आ रहे हैं।
तुम्हारी नसें तन रही हैं
तुम्हारी भुजाएं फड़क रही हैं
तुम्हारे तीर-कमान तने हैं
देखो आखिर तुम्हें खदेड़ ही दिया न
तुम्हारी जमीन से तुम्हें नेस्तानाबूद करने के लिए
पर फिर भी तुम चुप हो? क्यों?, आखिर क्यों?'[69]

इस कविता में हरिराम मीणा ने आदिवासियों पर होने वाले संकट पर गहरी चिंता जगजाहिर की है। अंत में कविता में 'आखिर क्यों' का सवाल खड़ा होता है कि कब तक यह चलता रहेगा। निर्मला पुतुल का पहला काव्य संग्रह 'अपने घर की तलाश में' 2004 में और दूसरा संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' सन् 2004 में प्रकाशित होता है। उनका 'अपने घर की तलाश' कविता संग्रह संथाली और हिन्दी दोनों में ही प्रकाशित होता है। निर्मला पुतुल ने सबसे पहले संथाली में लिखा है फिर हिन्दी में लिखना शुरू किया। निर्मला पुतुल के कविता संग्रह 'अपने घर की तलाश' में 'तुम कहाँ हो माया' शीर्षक कविता में स्त्री की अस्मिता का सवाल उठाया गया है-

'दिल्ली के किस कोने में हो तुम?

[69] अरावली उद्घोष, जनक सिंह मीणा, (सं.), अंक-101, जनवरी, 2014, पृष्ठ सं.-36

मयूर विहार, पंजाबी बाग़ या शाहदरा में?
कनाट प्लेस की किसी दुकान में
सेल्सगर्ल हो या किसी हर्बल कंपनी में पैकर?
कहाँ हो तुम माया? कहाँ हो ?"[70]

इसी क्रम में अनुज लुगुन का कविता संग्रह 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' (2017) में वाणी प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ। हाल ही में पक्षधर पत्रिका के जुलाई-दिसम्बर(2014) अंक में विनोद तिवारी ने अनुज लुगुन की सबसे लम्बी कविता प्रकाशित की है,जिसका शीर्षक' बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' है। यह कविता हिन्दी की सबसे लम्बी कविता की श्रेणी में अपना स्थान रखती है। इस कविता में अनुज लुगुन ने सभ्यता के विकास में हो रहे बाघों की कमी को चिंता का विषय बनाया है, उन्होंने बाघ को प्रतीकात्मक रूप में मानकर प्रतिरोध के द्वारा वर्चस्व की सत्ता को चुनौती देने का काम किया है। 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' लम्बी कविता में 'बाघ' शीर्षक कविता के माध्यम से पूँजीवादी व्यवस्था पर सीधा प्रहार करते हुए वे कहते हैं-

'जंगल पहाड़ी के इस ओर है और
बाघ पहाड़ी के उस पार ,पहाड़ी के उस पार महानगर है,
उसने अपने नाख़ून बढ़ा लिए हैं
उसकी आंखें पहले से ज्यादा लाल और प्यासी हैं
वह एक साथ ,कई गाँवों में हमला कर सकता है
उसके हमलों ने, समूची पृथ्वी को दो हिस्सों में बाँट दिया है.."[71]

[70] 'अपने घर की तलाश में- 'निर्मला पुतुल, पृष्ठ सं. 31
[71] पक्षधर पत्रिका, संपा. विनोद तिवारी, जुलाई-दिसम्बर, 2014, पृ.-112

वर्ष 2018 में पूर्वोत्तर भारत की पहली हिन्दी में आदिवासी कवयित्री जमुना बीनी तादर का कविता संग्रह 'जब आदिवासी गाता है' प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में अरुणाचल प्रदेश की प्रादेशिक संस्कृति, स्थानीय रंगतों के साथ उपस्थित हुई है। इस संग्रह में आदिवासियों को देखने के गैर-आदिवासियों के दृष्टिकोण की कलई खोली गयी है। जैसे-

"भगतसिंह, सुखदेव को
हम जानते हैं
पर क्या

मातमुर जामोह

मोजी रीबा का

नाम सुना कभी ?"[72]

इस कविता 'तथाकथित' में कवयित्री ने अरुणाँचल प्रदेश के स्वतंत्रता सेनानी मातमुर जामोह और मोजी रीबा को इतिहास में दर्ज करने की वकालत की है। तथाकथित मुख्यधारा अपने इतिहास को हाशियाकृत समाजों पर थोपती आई है लेकिन अब शिक्षित आदिवासी वर्ग अपने इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा को नए सिरे से लिपिबद्ध कर रहा है। इस कविता में कवयित्री ने केंद्र और मुख्यधारा से यह अपेक्षा की हैं कि हमने तो आपकी भाषा और पहनावे को अपना लिया है लेकिन आपने हमारी बोली और पहनावे को कितना जाना है। कवयित्री के सवाल अनेक अनुत्तरित सवालों को जन्म देते हैं, जो जीवन की वास्तविकता है। कवयित्री ने

[72] जब आदिवासी गाता है, जमुना बीनी तादर, पृ. 39

आदिवासियों के जीवन पर लिखे गए गैर-आदिवासियों के लेखन को चुनौती दी है। जैसे –

"हमारे ऊपर ,बहुत कुछ
और बहुत सारा लिखा तुमने।
कितना अंतर तुम्हारी और
हमारी लेखनी में तुम्हारा लेखन
सहानुभूति से भरा और
हमारा लेखन आत्मसमान से मदमाता।"[73]

आदिवासियों को परम्परागत रूप से ही मनुष्य होने की कोटि से निम्न रूप में देखने की दृष्टि तथाकथित मुख्यधारा के समाज की रही है। इसके पीछे मूल कारण आदिवासियों की जीवन की स्वछंदता, जीवन जीने की शैली, भिन्न खान-पान, पहनावा-ओढ़ावा, भाषा-बोली रही हैं। इनका जीवन सामूहिकता से युक्त रहा है, वैयक्तिकता का इसमें स्थान नहीं रहा है। संग्रह की वृत्ति का अभाव इनके समाजों की एक विशिष्ट पहचान रही है। जबकि उतरोत्तर होते विकसित समाजों की दृष्टि उपभोगवादी और वैयक्तिकता की है।

2.2. हिन्दी की आदिवासी कविता की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी की आदिवासी कविता की प्रवृत्तियों को निर्मित करने में परम्परागत और अधुनातन आदिवासी कविता की जमीन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी अंचलों में चले आंदोलन और उसके गर्भ से फूटा साहित्य ही आदिवासी कविता की वास्तविक जमीन है। भारतीय आदिवासी कविता तीन स्रोतों से प्रभावित है। पहला,

[73] जब आदिवासी गाता है, जमुना बीनी तादर, पृ. 40

अफ्रो-अमेरिकन मूल निवासियों के लेखन से प्रभावित, दूसरा, भारतीय स्वाधीनता आंदोलन, प्रगतिशील आंदोलन से प्रभावित कविता, तीसरा, आदिवासी अंचलों, क्षेत्रों में हो रहे आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता को बचाने वाले आंदोलनों से प्रभावित शिक्षित आदिवासी वर्ग का लेखन।

हिन्दी की आदिवासी कविता की प्रवृत्तियों के मूल में आदिवासी भाषाओं में लिखित आदिवासी कविता का प्रधान स्वर प्रमुखता से अनूदित होकर हिन्दी में आया है इससे हिन्दी की आदिवासी कविता का धरातल निर्मित होता है। हिन्दी की आदिवासी कविता का दूसरा स्वर हिन्दी में लिखित पाठ भी है। हिन्दी की आदिवासी कविता का तीसरा स्वर अंग्रेजी और प्रादेशिक भाषाओं के आदिवासी जीवन पर आधारित साहित्य के हिन्दी अनुवाद से भी जुड़ा हुआ है। हिन्दी की आदिवासी कविता की प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. प्रकृति से सहजात संबंध
2. सामुदायिकता
3. जल, जंगल, जमीन का सवाल
4. अस्तित्व और अस्मिता के प्रतिमान
5. इतिहास-बोध
6. आदिवासी स्त्री अस्मितामूलक चुनौतियाँ
7. विकास बनाम विस्थापन
8. भूमंडलीकरण और पूँजीवाद
9. अंधविश्वास एवं कुरीतियाँ

2.2.1. प्रकृति से सहजात संबंध

आदिवासी एक्टिविस्ट ग्लैडसन डुंगडुंग ने आदिवासी दर्शन को प्रकृति के साथ जोड़कर देखा है- "आदिवासी दर्शन है प्रकृति के साथ जीना सीखो। प्रकृति का उतना ही उपयोग करो जितना जीवन के लिए जरुरी है। यूरोप ने शायद यह कनफेशन कर लिया है कि उसने लालच के लिए प्रकृति का अत्यधिक दोहन किया है। इसलिए आदिवासी दर्शन कहता है कि प्रकृति को बचाओ। प्रकृति बचेगी तो तुम भी बचे रहोगे।"[74] झारखंड और आसपास के राज्यों के आदिवासी समूह कई पर्व-त्यौहार मनाते हैं, जिनमें प्रमुख हैं- फगुआ, सरहुल, करम, सोहराई, सेंदरा और जतरा। इन्हीं त्यौहार में से एक है सरहुल जो आदिवासियों के प्रकृति प्रेम को दर्शाता है। सरहुल आदिवासी और प्रकृति के बीच अंत:संबंध कायम करता है और प्रकृति से भी जोड़ता है। रामदयाल मुंडा के अनुसार-'सरहुल साल फूल के माध्यम से सारी प्रकृति के नवरूप का स्वागत ही है।"[75] प्रकृति जीवन दान देती है, सुरक्षा प्रदान करती है इसके बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। डॉ.नारायण भगत के अनुसार-'उरांवों में खद्दी पर्व मनाने के तीन तथ्य हैं-

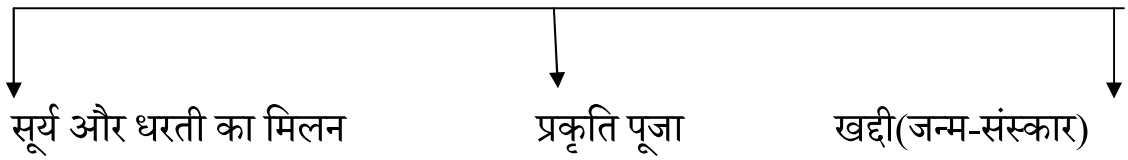

[74] झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति , संपा. वंदना टेटे, पृ. 16
[75] आदि धरम, डॉ.रामदयाल मुंडा,रतन सिंह मानकी, पृ.171

लीलाधर मंडलोई सतपुड़ा के जंगल के प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण अपनी कविता 'छुईमुई' में सहज ढंग से करते हैं। क्योंकि कवि का प्रकृति से गहरा लगाव है, वे प्रकृति में जीवन की अभिलाषा के क्षण देखते हैं-

'जंगल हमारी पाठशाला थी
जहाँ हम माँ के साथ होते
और प्रकृति को जानते ,माँ हमें अक्सर बताती
कि पेड़-पौधों से प्रेम करो
उनमें मनुष्य सरीखा जीवन है
और हम सहज विश्वास न कर पाते।"[76]

इनकी कविताओं में रोमानियत, ऐन्द्रिकता, और रागात्मक आदि भावों का चित्रण किया गया है। लीलाधर मंडलोई की कविता प्राकृतिक सौन्दर्य की विविध छटाओं का चित्रण करती है।

सरिता सिंह बड़ाईक की कविता में छोटा नागपुर के प्राकृतिक सौन्दर्य के नष्ट होने की चिंता का भाव प्रकट हुआ है। यहाँ कवयित्री कहती है कि मेरा छोटानागपुर नदियों, पहाड़ियों और जंगलों से घिरा हुआ सौन्दर्य का अनुपम उपहार है, यह प्राकृतिक संपदा यानी खनिज साधनों से भरा हुआ है, इसमें कवयित्री को चिंता है कि यह सपनों का छोटानागपुर जो प्राकृतिक सौन्दर्य का रूप है कहीं वह अपनी अमूल्य धरोहर को खो न दे। क्योंकि जंगलों को काट-काटकर ही इमारतें खड़ी की जा रही हैं, धुँआ उगलने वाली फैक्ट्रियाँ बड़े पैमाने पर स्थापित हो रही है और वहाँ के दिकू लोग इन

[76] पचास कविताएँ, लीलाधर मंडलोई, पृ. 99

बाजारों की सजावटी चीजों के लिए भी जंगलों को काट रहे हैं। इन सब कारणों से वहाँ के आदिवासियों की जिंदगी रेंगने वाले कीड़ों की तरह हो रही है, जिनका कोई ठिकाना नहीं होता है। इस प्रकार के विनाश की कल्पना करके कवयित्री चिंतित हैं-

'प्राकृतिक-सम्पदा से भरपूर
मेरे सपनों का छोटानागपुर
अपनी संस्कृति की धरोहर
क्या कल कहीं जायेगा खो ?"[77]

'कविताओं वाली नदी' नामक कविता के माध्यम से वंदना टेटे अपने बचपन को फिर से जीना चाहती हैं। वे पहाड़ों, नदियों और फसल से लहलहाते खेतों के बीच में से देखना चाहती हैं- बादल और पहाड़ों को एक-दूसरे से मिलते हुए। लेकिन वे उदास हैं क्योंकि नदियाँ सूख चुकी हैं, पहाड़ उजाड़ हो गये हैं और खेतों में हिंडालको की माइंस खुदी हैं। इस कविता में कवयित्री अपने बचपन का प्रकृति के साथ सहजात संबंध का वर्णन करती हैं-

'और जंगलों से गुजरती हवा
गुनगुनाना गुदगुदाना भूल गई है।
...और कविताओं की नदियों में
डूबने की इच्छा
बन्दूक की बटों
और बूटों के नीचे
कराहती रहती है, दिन-रात"।[78]

[77] नन्हे सपनों का सुख-सरिता सिंह बड़ाईक, पृ.89
[78] कोनजोगा, वंदना टेटे, प्यारा केरकेट्टा फाउन्डेशन , पृ. 16

वंदना टेटे की कविताओं में प्रकृति से गहरा जुड़ाव दिखाई देता है। वंदना टेटे प्रकृति के साथ मानवीय रिश्तों की भी पड़ताल करती हैं और प्रकृति को मानवतावादी दृष्टिकोण के रूप में देखती हैं, वे प्रकृति के साथ एक गहरा रिश्ता बनाती हैं, जो कभी बारिश बनकर उनका एकान्त तोड़ने तो कभी चाँद बनकर उनके सफर का सहयात्री बनने की अभिप्सा में प्रकृति के साहचर्य का स्वप्न बनकर प्रस्तुत होता है। जिसे 'चांद-1' कविता के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है-

"हर रोज शाम चांद
मेरे साथी की तरह
ऑफिस से निकलते ही
साथ हो लेता है...
पेड़ों बादलों की ,लुकाछिपी
दिन भर की थकान भी
पर, अच्छा लगता है
उसका साथ चलना।"[79]

यह रिश्ता ही हमें प्रकृति के साथ एकसूत्र में बाँधने का काम करता है। यहाँ वदना टेटे इसी मानवीय रिश्ते की बात अपनी कविताओं के माध्यम से करती हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति के साथ सहजात का संबंध दिखाया गया है। इनकी कविता पर्यावरणीय हलचलों को मानवीयता के प्रेम संबंध के साथ जोड़कर देखती है। इस कविता में कवयित्री प्रकृति के सहरुपों का वर्णन करती हैं और साथ- ही- साथ प्रकृति के साथ बदलते रिश्तों को भी कविता में एक जरूरी विवेक के तहत दर्ज करती हैं।

[79] कोनजोगा, वंदना टेटे, पृ.27

2.2.2. सामुदायिकता

श्रम की महत्ता आदिवासी समाज में परस्पर सहभागिता के रूप में व्यक्त हुई है। इसी संदर्भ में डॉ. सावित्री बड़ाईक के लेख में स्पष्ट किया गया है "आदिवासी दर्शन श्रेष्ठ जीवन मूल्यों पर आधारित है, जिसमें समानता, सामूहिकता, सहभागिता, सहजीविता आदि को महत्त्व दिया जाता है। प्रकृति के साथ लगाव-जुड़ाव रखने के कारण आदिवासियों में ही सहअस्तित्व के सूत्र खोजे जा सकते हैं।"[80] श्रम को आदिवासियों ने निरंतर महत्त्व दिया है। शेष समाज श्रम के शोषण पर आधारित है। परन्तु आदिवासियों में श्रम के प्रति घोर निष्ठा है। आदिवासी संस्कृति और दर्शन के कई तत्त्व निर्मला पुतुल की कविताओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। श्रम पर आधारित 'पहाड़ी स्त्री' कविता में निर्मला पुतुल स्वीकार करती हैं-

'चादर में बच्चे को
पीठ पर लटकाए
धान रोपती पहाड़ी स्त्री

रोप रही है अपना पहाड़ सा दुःख

सुख की एक लहलहाती फसल के लिए।"[81]

इनकी कविताओं में समानता, सहअस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता और सामूहिकता की विविध अनिवार्य छवियों पर प्रकाश डाला गया है। प्रकृति से आदिवासी समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस तरह से आदिवासी समाज की जीवन दृष्टि में मानव-मूल्य, स्त्री- मूल्य, प्रकृति -बोध आदि का विशेष रूप से चित्रण

[80] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 80

[81] झारखंडी भाषा साहित्य , वंदना टेटे, (संपा.), संस्कृति अखड़ा पत्रिका, मार्च-मई 2015 , पृ. 49

किया गया है। आदिवासी गीतों में आदिवासी जीवनदृष्टि की सामूहिकता का प्रभाव देखने को मिलता है।

आदिवासियों की उत्पादन-पद्धति कृषि पर आधारित है। वे सामूहिक-खेती, झूम-खेती करते हैं। आदिवासी की जीवन पद्धति ही नहीं बदली है, बल्कि वर्तमान संदर्भ में उसकी जीवन पद्धति का प्रारूप जरुर बदल गया है। आदिवासी परम्परागत सोच और दर्शन से प्रेरित है । सामूहिकता बनाम व्यक्तिवादिता का द्वंद्व इसमें देखा जा सकता है -

"एक बोतल शराब
और भीगे चने के चखना के दाम
बेच दिए बूढ़े ने पत्थर और खेत
वही पत्थर बेच-बेच ठेकेदार मोटाया
किस-किस को दोष दोगे ,ओ जंगल के राजा
अपने ही पैर तुमने मारा है
बसुला हल और बैल ही तो
किसान का श्रृंगार
खेत और टांड में,बिल्डिंग की खेती
कहाँ उपजेगा रे धान?
क्या खा-कर जियेगा-रे बेटा किसान ?"[82]

'वीणा' कविता में वीणा पंचम स्वर के साथ से शुरू होती है, जिसका तान हमें अज्ञात प्रियतम के रूप में सुनाई पड़ता है। इसमें कवि की करुण पुकार का आर्तनाद टूटती वीणा के झंकारों के रूप में व्यक्त होता है। जिसका चित्रण कविता में इस प्रकार व्यक्त होता है-

[82] नन्हें सपनों का सुख, सरिता सिंह बड़ाईक, पृ.सं.-20-21

‘टूट गई हैं स्वर की लड़ियाँ, लुढ़क गई है वह वीणा
राशि हाय यह पंचम स्वर की !,बन गई रंक अति दीना
लहराती केवल नि:श्वासें,उठती है करुणा झंकार ?
जिससे आकुल हो जाता है,यह प्यारा सारा संसार ”[83]

कवि जीवन की अभिलाषाओं में अंधकारमय जीवन को हरने की प्रार्थना जीवन के सुख-दु:ख के क्षणों में करता है। दावानल की आग, काले बादलों की छाया उसके दु:ख को और अधिक बढ़ाती है। इसका एक पुट ‘अभिलाषा’ कविता में देखने को मिलता है-

‘उर के तरुण तिमिर को हर लो,नाथ, मुझे देकर आश्वास
रागी से बना विरागी मन,है, लेता भारी नि:श्वास
सूख चुकी है आशा की लतिका,मर्मर ध्वनि करते हैं पात
नित्य जलाता है दावानल,जग रही अब भी आशा
कर दो पूरी के बार बस,इस जीवन की अभिलाषा।”[84]

कवि अपनी कविता’ नश्वरता’ में जीवन के क्षणभंगुर होने की बात करता है, जिस तरह से उजाले के प्रकाश में कीट-पतंगे अपने जीवन को न्यौछावर कर देते हैं, वैसी ही दशा मनुष्य की भी है। जीवन कभी लहरों की तरह, तो कभी नाविक की तरह, कभी क्षणिक ज्योति की तरह होता है-

‘मेरे क्षण-भंगुर जीवन में, सरिता में शुभ्र लहर सी
आती है बस यौवन-लहरी,जीवन में एक कहर सी
कितने तरणी-तीरों से वह,कितने कष्टों की निधि को

[83] ‘प्रलाप,वंदना टेटे, (संपा.), सुशीला सामद, पृ. 33
[84] ‘प्रलाप,वंदना टेटे, (संपा.), सुशीला सामद, पृ. 37

हे नाविक ! अनजाने भोले ,क्षणभर के भ्रम में है भूला,

तूने तरंग में खोया ,क्षणिक ज्योति की आभा में

कितने शलभ बिचारे भ्रम में ,जल कर के स्वर्ग सिधारे।"[85]

अर्थात् सरलता, सहजता आदिवासियों के जीवन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। इसी आदिवासियत दर्शन के साथ वह प्रकृति के विविध रूपों के साथ सामंजस्य बनाए रखता है। आदिवासी समाज में सहजीविता के साथ 'जियो और जीने दो' का दर्शन मौजूद रहता है , वह अनिवार्यत: इस सूत्र का पालन प्रकृति के नियमों के अनुसार करता है।

2.2.3. जल, जंगल, जमीन का सवाल

आदिवासी साहित्य का बुनियादी आधार है- जल, जंगल, जमीन । जल, जंगल, जमीन का नारा बी.डी.शर्मा ने सबसे पहले दिया था। आदिवासी जीवन की उत्पति के संबंध में जल को विशेष तत्त्व के रूप में माना गया है। आदिवासी साहित्य में कविता के विषय चाहे जो भी रहे हैं किन्तु महत्वपूर्ण है इन कवियों का अपनी जमीन से अपने जंगल से जुड़ाव। यही जुड़ाव आदिवासियत दर्शन को बनाए रखता है। आदिवासियों की जीवन शैली में जमीन का विशेष महत्त्व है। आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या जल, जंगल, जमीन और जज्बात का रहा है। जंगलों की अनुपजाऊ जमीन को साफ़ कर वे खेती करने लायक बनाते हैं, उससे उनका आत्मीय रिश्ता होता है तथा वह जमीन उनकी संस्कृति और पहचान का हिस्सा बन जाती है। आदिवासियों की अस्मिता का सवाल जहाँ उनकी जीवन-शैली से गहरा संबंध

[85] 'प्रलाप' कविता संग्रह ,वंदना टेटे , (संपा.), सुशीला सामद , पृ.59

रखता है वहीं वह उनकी सामाजिक संरचना के साधन जल, जंगल, जमीन से भी जुड़ा हुआ है । अस्मिता का उदय उनकी पहचान को पुष्ट करता है तो उनकी विरासत-भाषा, शिक्षा, संस्कृति, उनकी पहचान को जिन्दा रखती है । इनकी रक्षा किए बिना अपनी अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती । और इसके लिए नेहरु के शब्दों में जरुरी है 'अपनी संस्कृति का उन पर थोपा न जाना ।' वास्तव में आदिवासियों के पास जल, जंगल और जमीन न हो तो उस समाज की पहचान ही ख़त्म हो जाती है । यद्यपि सामाजिक-सांस्कृतिक रूप में आदिवासियों में बहुत अधिक विविधता है फिर भी सभी आदिवासियों की जीविका, संस्कृति और पहचान उनके जल, जंगल और जमीन से जुड़ी हुई है । भगवानदास मोरवाल ने 'रेत' को आदिवासियों की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता तथा समस्त आदिवासी समाज में मौजूद विसंगतियों का प्रतीक माना है । अपने जल, जंगल तथा जमीन से आदिवासी समुदाय को बेहद लगाव होता है । सरकार कहती है कि हम जमीन, जंगल के सवाल पर माओवादियों से बात करने के लिए तैयार हैं । सरकार आज तक मेधा पाटकर, बी.डी.शर्मा, सुनील या विजय पांडा से आदिवासियों की स्थिति को समझ क्यों नहीं पाई । क्या बातचीत की मेज तक एकमात्र रास्ता हथियारों से होकर जाता है?

इसलिए आदिवासियों के आर्थिक रूप का आधार तत्त्व है–जंगल और जमीन । आदिवासियों की जीवन में जल का विशेष महत्त्व रहा है । 'जलगीत' के प्रणेता डॉ.एन.गोपी ने 'जल' के महत्त्व का अंकन कविता में इस प्रकार से किया है-

'पानी को जानना ही

स्वयं को जानना है..

यह प्रदूषण शताब्दी है,

यह शताब्दी है जल को धन के दंश की ।"[86]

दूसरी बात आदिवासियों के जीवन में जमीन का भी विशेष महत्त्व रहा है। इस संदर्भ में निर्मला पुतुल की कविता 'अपने घर की तलाश' काव्य-संग्रह में जमीन की तलाश की बात करती है-

"मैं धरती नहीं, पूरी धरती होती है मेरे अन्दर
पर यह नहीं होती मेरे लिए
कहीं कोई घर नहीं होता मेरा

बल्कि मैं होती हूँ स्वयं एक घर..

अपनी जमीन, अपना घर ,अपना होने का अर्थ!"[87]

इस संदर्भ में निर्मला पुतुल की चन्द पंक्तियाँ गौर करने लायक है –'प्रकृति हर पल नया जीवन और नयी सम्पदा सृजन कर रही है। इसका इस्तेमाल अगर समुचित मात्रा में होगा तो उससे मनुष्य का काम भी चलेगा और प्रकृति भी बची रहेगी ।' निर्मला पुतुल की कविता में इस दर्शन को व्यापकता से दिखाया गया है-

'जंगल की ताजा हवा ,नदियों की निर्मलता
पहाड़ो का मौन ,गीतों की धुन
मिट्टी का सौंधापन,फसलों की लहलाहट

आओ मिलकर बचाए

कि इस दौर में भी बचाने को भी

बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास ।"[88]

---

[86] जलगीत(लम्बी कविता), ले. एन.गोपी, अनु. प्रो.मणि, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, पृ.45

[87] अपने घर की तलाश, निर्मला पुतुल, अनु.अशोक सिंह, पृ.3

कवि अपनी कविता 'पावस' में चातक, पपीहे, पक्षियों का समूह आदि का चित्रण बेहद बेजोड़ ढंग से करते हैं। पावस ऋतु के आने पर प्रकृति में जो बदलाव आते हैं,उसका सुन्दर चित्रण किया हैं-

'चातक की दावानल-दाह
विहग-कुल का आकुल चीत्कार
जगा कर अहा धरा का भाग

बदल रही है प्रकृति निज साज

देख यह सब हर्षित रसराज

नेत्र-सुखद इस नील गगन में

विमल-ध्वजा फहराता है।"[89]

उपरोक्त कविता में प्रकृति चित्रण के विविध रूपों का चित्रण कवि ने बेजोड़ ढंग से किया है। क्योंकि आदिवासी प्रकृति के प्रेमी रहे हैं, उनके जीवन में नदी, पहाड़, जंगल आदि सब जीवन के अंग माने जाते हैं। वे इनमें अपने पूर्वजों की छाया का अनुभव करते हैं।

रामदयाल मुंडा की चिंता आदिवासी प्रकृति के प्रति है। भूमंडलीकरण के इस दौर में आदिवासी जीवन खतरे में पड़ गया है, क्योंकि आदिवासी समुदाय हमेशा प्रकृतिपूजक रहा है। वे प्राकृतिक स्रोत के विनाश की चिंता के दर्द को अपनी कविता 'जंगल जल रहे हैं' में व्यक्त करते हैं-

'जंगल जल रहे हैं, पहाड़ जल रहे हैं
बनाए रखो, प्रिय चूहा, शीशम का घर
बनाए रखो प्रिय, बनाए रखो ,नदियाँ सूख रही हैं

[88] नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. 77
[89] 'प्रलाप' वंदना टेटे , (संपा.), कविता संग्रह सुशीला सामद , पृ. 85

बनाए रखो, प्रिय केकड़ा, पत्थर का द्वार

बनाए रखो प्रिय, बनाए रखो ।"[90]

'गाँव गाँव, टोला-टोला' कविता में रामदयाल मुंडा ने समय की स्थिति को भांपते हुए भौतिकवादी संस्कृति पर करारा व्यंग्य किया है । इस पूँजीवादी व्यवस्था में आदिवासी दर्शन बाजारवाद की भेंट चढ़ गया है। कवि ने लुप्त होती परम्परागत संस्कृति को इंगित करते हुए चिंता जाहिर की है-

'गाँव-गाँव, टोला-टोला, बाँसुरी-बानाम गूँजते थे
वे बाँसुरी बानाम कहाँ गए ?अखराओं और चौपालों में
झंकृत थे नृत्य और गायन ,वे नृत्य-गीत कहाँ गए ?"[91]

राँची की सुन्दरता पहाड़ों का जूड़ा बाँधे हुए नव आंगतुक का स्वागत करती है । यह सौन्दर्य की अनुपम छटा नदियों के कलरव, बाँसुरी गूँजने की ध्वनि के साथ, मिट्टी का मांदर बजने के साथ फैली हुई है । जिसका वर्णन कवि ने बेजोड़ ढंग से किया है-

'पहाड़ों का जूड़ा बाँधे हुए
नदियों का आँचल साजे हुए
इंतजार करता है, तुम्हें अंक में लेता है

तुम्हारा स्वागत करता है रांची का आसमान

बांसुरी-बनाम गूंजने के बीच

मिट्टी का मांदर बजने के बीच

अखरा की धूल तुम्हारा स्वागत करती है ।"[92]

[90] सेलेद (विविधा) रामदयाल मुंडा, मुंडारी गीत/कविताएँ, पृ. 97
[91] सेलेद (विविधा) रामदयाल मुंडा, मुंडारी गीत/कविताएँ, पृ. 98
[92] सेलेद (विविधा) रामदयाल मुंडा, मुंडारी गीत/कविताएँ, पृ 115

रामदयाल मुंडा की कविता में जंगल-पेड़-झाड़ी-तीतर के माध्यम से प्रकृति के मधुरमय सौन्दर्य की बात समाहित है। वे पक्षी बन कर तीतर के रूप में प्रिय पेड़ से मिलने की बात करते हैं। प्रकृति के इस सान्निध्य को कवि ने 'अगर तुम पेड़ होते' कविता में व्यक्त किया हैं-

'अगर तुम पेड़ होते और मैं पंछी,
तुम्हारे पेड़ पर ही मैं डेरा डालता
अगर तुम झाड़ी होते
और मैं तीतर तुम्हारी झाड़ी में ही मैं वास करता
हर सुबह, सूर्योदय के साथ गीतों से ही बात करता
मैं गायन से ही बतियाता मैं।"[93]

अर्थात् आदिवासी का संबंध जंगल से हमेशा से रहा है। जल, जंगल, जमीन का आदिवासियों के जीवन में विशेष महत्त्व रहा है इनके बिना उनका जीवन ही अधूरा है। आदिवासी हमेशा से प्रकृति के सान्निध्य में रहकर जीते आए हैं ऐसे में उनका जमीन से जुड़ना लाजिमी भी है।

2.2.4. अस्तित्व और अस्मिता के प्रतिमान

आदिवासी एक्टिविस्ट के रूप में प्रो. वीर भारत तलवार आदिवासी अस्मिता के पहलुओं पर गौर फरमाते हुए टिप्पणी करते हैं- "आदिवासियों में आज आत्मसम्मान जगाने की आवश्यकता है। 19 वीं सदी में समाज सुधार व आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा के लिए बड़े-बड़े आंदोलन हुए। चाहे राजा राम मोहन राय हो या दयानंद सरस्वती इनकी एक लम्बी परम्परा रही है और इस परम्परा में

[93] सेलेद (विविधा) रामदयाल मुंडा, मुंडारी गीत/कविताएँ, पृ 19

ज्योतिराव फुले, बाबा साहब आंबेडकर और गांधी ने आत्मसम्मान की लड़ाई लड़ी। यह अस्मिता का आंदोलन जिसकी आदिवासियों को सख्त जरुरत है। आदिवासियों में विद्रोह तो बहुत हुए-कभी औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ़, तो कभी सामन्ती शोषण के खिलाफ़। अस्मिता का यह आंदोलन आत्मगौरव का आंदोलन था।"[94] श्री प्रकाश मिश्र ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास में उत्तर-पूर्व की मिंजो जनजाति की अस्मिता की बात की है। उत्तर-पूर्व की मिजो जनजाति अपनी अस्मिता, अस्तित्व संकट और मुख्यधारा के समाज के आंतक से पीड़ित है।

इस संबंध में वीरेन्द्र यादव मानते हैं कि "उपन्यास का महत्त्व इस तथ्य में भी अंतर्निहित है कि उपन्यासकार मिजो अस्मिता के प्रश्न को गैर-मिजो निगाह से न देखकर उसे मिजो समाज की अंतरंगता में रच-बसकर प्रस्तुत करता है।"[95] तेजिंदर का 'काला पादरी' उपन्यास आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व को लेकर लिखा गया है। इसी तरह संजीव ने अपनी कहानी में आदिवासी समाज के अस्तित्व और अस्मिता के सवाल को मुख्य विषय बनाया है। अपनी स्वतंत्र अस्मिता को बनाने हेतु वे आज के झारखण्ड की माँग करते हैं। कहानीकार ने झारखण्ड आंदोलन को आदिवासियों के अस्तित्व एवं अस्मिता के सवाल के रूप में उभारा है। इसी तरह हम पूर्वोत्तर राज्यों की बात करें तो एक सवाल यह खड़ा होता है कि इन जगहों के आदिवासियों को अपनी पहचान तथा अस्तित्व बचाए रखने के लिए देश की अन्य जनजातियों की तरह संघर्ष नहीं करना पड़ा। लेकिन आंदोलनों की शुरुआत तो ब्रिटिश समय से हो गई थी और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में आदिम जनजातियों ने नागा,

[94] आदिवासी विमर्श, रमेश चन्द मीणा, पृ.3

[95] उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरन्द्र यादव, पृ.167

मिजो, खासी एवं त्रिपुरा जनजातीय अस्मिता आंदोलन को हवा देने का काम किया। इस तरह इन आंदोलनों के परिणामस्वरूप आदिवासी अस्मिता का उदय हुआ । आदिवासी समूहों का संघर्ष उनकी अस्मिता एवं अस्तित्व को बचाए रखने में कामयाब रहा । अपनी पहचान को जल,जंगल और जमीन से जोड़ा ।

इन कविताओं के माध्यम से हम समझ सकते हैं कि वंदना टेटे को अस्तित्व के संकट के भय की चिंता सताती है और वे यह भी दुःख प्रकट करती हैं तो कभी विकास के नाम पर और कभी हमारी सभ्यता-संस्कृति की खोज के बहाने गैर-आदिवासी लोग हमारे बीच आये और धीरे-धीरे हमारी ही भाषा और हमारी संस्कृति को निगल गए। इस सन्दर्भ में वंदना टेटे कहती हैं कि विकास के नाम पर ऐसी साजिशें रची जा रही हैं, जिससे हमारे ही लोगों को आपस में लड़ाया जा रहा है और हमारी जमीन से हमें ही बेदखल किया जा रहा है। अपनी इसी चिंता को वह अपनी कविता के माध्यम से व्यक्त करती हैं-

‘मैं भी टूटा हुआ पुल
बनते देखना चाहता हूँ
जो मेरे गांव से
तुम्हारे शहर को जोड़ता है।...
डरता भी हूं पुल बनने से
कि घूमता हूं जिस जंगल में निर्भय
पुल के बनते ही
तुम बेदखल कर दोगे मुझे भी”[96]

उनकी कविताओं में विकास विरोधी भावना नहीं बल्कि अपनी संस्कृति और अस्मिता के खो जाने की चिंता है। क्योंकि वर्तमान समय की विकास नीतियों में

[96] कोनजोगा, वंदना टेटे, पृ. सं.71-72

कल-कारखानों के निर्माण और खदानों के लिए आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल किया जा रहा है। ऐसे में आदिवासियों को विस्थापन और बेरोजगारी दोनों का दंश एक साथ झेलना पड़ रहा है।

महादेव टोप्पो अपनी कविता 'जंग लगे तीरों पर नयी धार लाने के गीत' में मुक्ति की आकांशा की राह देखते हैं । और गुलामी की जंजीरों से स्वयं को आजाद करके अपने अस्तित्व को तलाशने व अपने आप को पहचानने की बात कहते हैं –

'ताकती है आशा-भरी निगाहों से...
तुम्हारे जंग लगे तीरों की ओर
थिरका रहे पाँव-सरुहुल के जुलुस में
मिलेगा नहीं इससे तुमको
कभी आत्मबल और न होगा कभी इससे
तुम्हें अपने अस्तित्व का ज्ञान..
स्वयं को जानने-पहचानने का
और जंग लगे तीरों पर ,नयी धार लाने का ।"[97]

कवि महादेव टोप्पो दूसरी ओर पहचान के सवाल को अपनी कविता 'पहचान के प्रश्न' में बखूबी ढंग से चित्रित करते हैं । आदिवासी की पहचान उसके अस्तित्व से जुड़ी हुई है, जो उसे अपनी अस्मिता का बोध करवाता है । महादेव टोप्पो की कविता आदिवासी आत्मसम्मान की पड़ताल करती है, जिनमें मुख्य स्वर पहचान के संकट का है जिसका अंकन कविता में प्रमुखता से हुआ है-

'मैंने हिमालय को हिमालय कहा
गंगा को गंगा ,यमुना को यमुना

[97] जंगल पहाड़ के पाठ महादेव टोप्पो, (कविता संग्रह), पृ. 7

किसी ने नहीं की आपत्ति

लेकिन जब चुना अपना ही नाम , उन्होंने कहा-

'तुम कैसे कर सकते हो यह? चुप करो !

पहुँचती है इससे हमारे आत्म-सम्मान को चोट !"[98]

रामदयाल मुंडा आदिवासी-जनमानस के पुत्र ही नहीं बल्कि वे आदिवासी मन के कवि भी हैं। उन्होंने अपनी कविता में आदिवासी समाज के अस्तित्व व पहचान का संकट , विस्थापन, घुसपैठ, बेरोजगारी, भूख आदि समस्याओं का जिक्र किया है। सरकारी नीतियों के कारण आदिवासी समाज के सामने रोजगार, उसकी भाषा, जीवन-शैली व संस्कृति और इतिहास पर आज संकट मँडरा रहा है। इसी कब्जाकरण का विरोध रामदयाल मुंडा अपनी कविता 'विरोध' में नदी के रूपक में करते हैं –

'उसे बांधकर ले जा रहे थे
राजा के सेनानी
और नदी

छाती पीटकर रो रही थी

लौटा दो, लौटा दो

मुझे मेरा पानी।"[99]

अनुज लुगुन की दूसरी कविता 'गुरिल्ले का आत्मकथन' कविता में आदिवासी मन और उसकी दृष्टि तथा उसकी त्रासदी और अस्तित्व के प्रति चिंता का प्रकट होना लाजिमी है, कवि प्रश्न करता है-

'क्या युद्ध

[98] जंगल पहाड़ के पाठ महादेव टोप्पो, (कविता संग्रह), पृ. 60

[99] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 32

हवाई जहाजों, युद्धपोतों, टैंकों और अंत तक
दो राष्ट्रध्वजों के बीच
उनके हस्ताक्षर से लड़ा जाता है ?"[100]

अर्थात् आज आदिवासियों के समक्ष सबसे बड़ा संकट अस्तित्व और अस्मिता का रहा है । जबकि आदिवासियों की मूल समस्या अंततः अस्तित्व के संकट की बन चुकी है । आदिवासी की सबसे बड़ी चिंता हैं उसका अपना अस्तित्व । उनकी अस्मिता, भाषा, संस्कृति सब खतरे में है। इस प्रकार आदिवासियों की संस्कृति का मिटना एक पेचीदा सवाल बन गया है।

2.2.5. **इतिहास-बोध**

इतिहास बोध की परम्परा को इतिहास के संदर्भ में मशहूर इतिहासकार रोमिला थापर और अर्थशास्त्री अमित भादुड़ी विस्तार से अपने लेख में हवाला देते हैं- "अतीत के ग्रंथों में जंगल के लोगों, वनवासियों को आमतौर पर 'अन्य' के रूप में पेश किया गया है-राक्षस के रूप में ऐसे लोग जो काले बादलों की तरह और खूनी आँखों के साथ जंगल में विचरण करते थे, जो हर गलत चीज खाते और पीते थे, जिनके यौन संबंधों के गलत नियम थे, जो एक विचित्र प्राणी थे, जो 'हमसे' बहुत अलग थे ।"[101] इस तरह हमने आदिवासी जनजातियों को स्वतंत्रता संग्राम में लड़ते हुए भी देखा है । इस संदर्भ में डॉ.विनय कुमार पाठक लिखते हैं- "स्वतंत्रता संग्राम में जनजातियों ने खुलकर हिस्सा लिया । लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इनके क्रांतिकारी इतिहास को नजरअंदाज किया गया । जनजातियों के स्वतंत्रता सेनानियों

[100] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 32
[101] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ.23

में बिरसा मुंडा, सिद्ध कान्हू संथाल, टट्या भील, गोविन्द गुरु आदि का नाम इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। लेकिन आदिवासियों का गौरवशाली एवं वैभव शाली इतिहास को भुलाया नहीं जा सकता।"[102] इसी तरह हरिराम मीणा ने इतिहास के तथ्यों का हवाला देते हुए आदिवासी अस्तित्व की संघर्ष गाथा कही है। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में हीरा भजन्या तथा टंट्या भील अपने हक़ की लड़ाई लड़ता है-"इनके चेहरे पिचके हुए और नाक चपटी थी मगर अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने की कूवत इनमें थी।"[103] उपन्यास में गोविन्द गुरु आदिवासियों को अपनी अस्मिता के प्रति सजग करते हैं- "हम संगठित होकर अपने हितों की रक्षा करेंगे। हर तरह की बुराई का हम विरोध करेंगे।"[104] लेखक ने इतिहास के आईने में आदिवासी भील तथा मीणाओं के विद्रोह का यथार्थपरक अंकन किया है। उपन्यास में मानगढ़ के आदिवासियों का विद्रोह तथा इस घटना से जुड़े सभी तथ्यों का लेखा-जोखा तैयार किया है। लेखक ने गोविन्द गुरु सहित अन्य ऐतिहासिक आदिवासी नायकों के अपने हक़ और हिस्से की लड़ाई का अनूठा चित्रण किया है।

कवि बिरसा के संघर्ष को दर्शाते हुए मुक्ति चेतना का आह्वान करते हैं, वे आदिवासी समाज की अस्मिता को बिरसा के आन्दोलन का रूप देना चाहते हैं। चकाचौंध के विकास में आदिवासी कहीं खो गया है, उन्हें कवि अपनी वाणी के द्वारा सचेत करने का प्रयास करता है। इसी आत्मविश्वास से प्रेरित होकर महादेव टोप्पो भी आदिवासी मुक्ति की बात करते हुए उलगुलान का आन्दोलन छेड़ देते हैं और

[102] अम्बेडकरवादी सौन्दर्यशास्त्र और दलित, आदिवासी जनजाति विमर्श, डॉ. विनय कुमार पाठक, पृ. ६०८
[103] धूणी तपे तीर, हरिराम मीणा, पृ. 33
[104] धूणी तपे तीर, हरिराम मीणा, पृ.71

कविता के माध्यम से अपनी कलम की प्रत्यंचा को कसकर संघर्ष की आधारभूमि तैयार करते हैं–

'वह धनुष उठाएगा
और जंगल के हरेपन की खातिर जंगल का कवि
मांदर बजाएगा-बांसुरी बजाएगा

चढ़ाकर प्रत्यंचा पर कलम''[105]

महाराष्ट्र के आदिवासी कवि भुजंग मेश्राम अपनी कविता के द्वारा बिरसा की यशोभूमि का गान करते हुए मुक्ति की बात करते हैं , वे बिरसा को याद करते हुए कहते है-

'बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा
घास काटती दरांती हो या लकड़ी काटती टांगी
यहाँ-वहां पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण

खेतों की बयार बन कर

कहीं से भी आ मेरे बिरसा लोग तेरी बाट जोहते ''[106]

इस कविता के माध्यम से कवि बिरसा की संघर्षभूमि के व्यावहारिक पक्ष पर पेचीदा सवाल करता है । बिरसा के संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए हरिराम मीणा 'बिरसा मुंडा की याद में' कविता के माध्यम से उलगुलान का नारा देते हुए आदिवासी अस्मिता के प्रश्नों को रेखांकित करते हैं-

'अभी-अभी,सुन्न हुई उसकी देह से
बिजली की लपलपाती कौंध निकली
जेल की दीवार लाँघती, तीर की तरह जंगलों में पहुंची

एक-एक दरख्त, बेल, झुरमुट, खेत-खलिहान, बस्ती

[105] आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 20
[106] आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ.19

वहाँ की हवा, धूल, जमीन में समां गई...”[107]

अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए मुगलों से जूझने वाली वीरांगना महारानी दुर्गावती जनजाति की ही थीं। इस प्रकार के गौरवशाली जनजातियों के इतिहास को भुलाया नहीं जा सकता-

‘सुन रहे हो, बिरसा मुंडा
सिद्धू-कान्हू सन्याल
टंट्या भील, उमेड बसावा।

मेरे वीर-शिरोमणि

स्वतंत्रता आंदोलन के शूर-शिलेदारों।”[108]

आदिवासी समाज की स्त्रियाँ ‘सिनगी दई’ की तरह मुग़ल सेना से लड़ाई लड़ती है। ग्रेस कुजूर की कविता आदिवासी स्त्री जाति के नायकों के इतिहास का वर्णन करती है-

‘और अगर अब भी तुम्हारे हाथों की
अंगुलियां थरथराई तो जान लो
मैं बनूंगी एक बार और ‘सिनगी दई’”[109]

भारतीय मिथक एवं इतिहास परम्परा में बहुत से ऐसे संदर्भ हैं जिनका जिक्र परम्परागत वर्चस्वकारी वर्ग अपने पक्ष में करता रहा है। ‘महाभारत’ के पात्रों के रूप में , कहीं ‘रामायण’ के पात्रों के रूप में आदिवासी इतिहास की परम्परा का वर्णन मिलता है। इतिहास परम्परा में बिरसा, एकलव्य, शम्बूक आदि को प्रतीक रूप मानकर आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं का मुख्य हथियार के रूप में

[107] सुबह के इंतजार में, हरिराम मीणा, अक्षर शिल्पी, पृ. 9
[108] अम्बेडकरवादी सौन्दर्यशास्त्र और दलित, आदिवासी जनजाति विमर्श, डॉ. विनय कुमार पाठक, पृ. 608
[109] आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ.19

इस्तेमाल किया है । यह प्रतिबद्ध कार्यवाही आदिवासियों में परम्परागत रूप में विद्यमान है।

2.2.6. आदिवासी स्त्री अस्मितामूलक चुनौतियाँ

आदिवासी कविता में स्त्री की चीख और आर्त पुकार को पर्याप्त जगह मिली है । हरिराम मीणा लिखते हैं- "आदिवासी कविता अभी शुरूआती दौर में चल रही है। आदिवासी इलाकों में बाहरी तत्त्वों की घुसपैठ सबसे बड़ी समस्या रही है । यहीं से आदिवासी जीवन की पवित्रता में प्रदूषण शुरू होता है और अंत में आदिवासी अस्तित्व का संकट ।"[110] आदिवासी कविता में स्त्री अस्मिता के पहलुओं की पड़ताल आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं में की है । इतिहास गवाह है कि स्त्री का जीवन प्राय: पुरुष केन्द्रित ही रहा है । इस पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री को समाज के निचले पायदान पर रखा है । उसे हमेशा से दोयम दर्जे का नागरिक माना है। आज भी यह समाज अपने पुराने संस्कारों और रीति-रिवाजों में जी रहा है। इस प्रकार आदिवासी स्त्री हर स्तर पर शोषित,उत्पीड़ित और उपेक्षित है । ऐसी ही उदास और शोषित आदिवासी स्त्री की करुण दास्तान आदिवासी कविताओं में देखने को मिलती है । विद्रोह और बदलाव की पहलकदमी करती स्त्री की भी अनेक छवियाँ आदिवासी कविताओं में मौजूद हैं । श्यामाचरण दुबे स्त्री को मुख्यधारा में शामिल करने की पुरजोर वकालत करते हैं-"समता के धरातल पर सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही उन्हें भारतीय जीवन का सशक्त अंग बना सकता है।"[111]

[110] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ.200

[111] परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति, श्यामचरण दुबे, पृ. 67

ग्रेस कुजूर की कविता 'एक और जनी-शिकार' में एक जनी-शिकार को प्रतीकात्मक रूप में दिखाया है। यहाँ लेखक ने जनी-शिकार की परम्परा और झारखण्ड के यथार्थ को भी दिखाने का प्रयास किया है। इस बाजारवादी संस्कृति के कारण आदिवासी संस्कृति का विकेन्द्रीकरण होने लगा है जिसके चलते आदिवासी अपनी अस्मिता को बचाने की जद्दोजहद में लगा हुआ है। इसमें ग्रेस कुजूर ने आदिवासी अस्मिता के संकट को चिंता का मुख्य स्वर बताया है-

'कहाँ हैं फुटकल का गाछ
जहाँ चढ़ती थी मैं साग तोड़ने और ...
जाने किधर है, कोमल पत्तियों वाला

कोयानार का गाछ, जिसके नीचे तुम

बजाया करते थे/ मांदर और बांसुरी ?.....[112]"

हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन के अनुभव की प्रमाणिकता पर बल दिया गया है। आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री के दुःख-सुख, आशा-आकांशा की अभिव्यक्ति हुई है। आदिवासी समाज की स्त्री दोहरे शोषण से पीड़ित है, क्योंकि एक तरफ दिकू समाज इनका शोषण करते हैं, दूसरी ओर इन्हें सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया है। एक स्त्री की पीड़ा, शोषण और अत्याचार के खिलाफ़ प्रतिरोध का स्वर निर्मला पुतुल की कविता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है-

"क्या तुम जानते हो पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकांत ? तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के मन की गाँठ खोलकर

[112] आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, 2002, नयी दिल्ली, पृ. 21

कभी पढ़ा है तुमने,उसके भीतर का खौलता इतिहास ?"[113]

इस तरह संथाली भाषा में निर्मला पुतुल, शिशिर टुडू व शिवलाल किस्कू आदि नाम कविता के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। ये अपनी आदिवासी भाषा संताली के साथ-साथ हिन्दी में भी लेखन करते रहे हैं। अर्थात् इन्होंने अपनी मातृभाषा के साथ हिन्दी के क्षेत्र में अपना नाम कमाया है। संताली में सबसे अधिक चर्चित नाम निर्मला पुतुल का है, जिनकी कविताओं ने हिन्दी जगत में एक तरह से नई क्रांति को जन्म दिया। इनके शुरू के दो संकलन 'नगाड़े की तरह बजते शब्द', 'अपने घर की तलाश में ' संताली से अनुवाद होकर हिन्दी में आए हैं, बाद में इनका एक और 'बेघर सपने' नाम से कविता संग्रह प्रकाशित हुआ ।

निर्मला पुतुल की कविता पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर तीखा प्रहार करती है। इनकी कविताओं में स्त्री जीवन की पीड़ा और दुःख-दर्द का चित्रण हुआ है। 'किसी से कहा नहीं हमने' कविता में कवयित्री ने स्त्री जीवन की व्यथा के रेशे-रेशे को उघाड़कर स्त्री अस्मिता के सवालों को रेखांकित किया है-

'तुम्हारी दरिंदगी के किस्से
जो दागे हैं कई बार अधजले सिगरेट
मेरी जांघों पर/जिसने पहनाए नहीं वस्त्र कभी

निवस्त्र किया वही बार-बार

बेआबरू हुए हम अरमानों की बस्तियों में

थप्पड़ जड़ा तुमने कई बार

स्वीकार नहीं करने से तुम्हारी बात

[113] आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, 2002, नयी दिल्ली, पृ. 25

मेरे ही बिस्तर पर करते रहे रोज

कइयों का बलात्कार ।"[114]

इसी तरह खड़िया भाषा में रोज केरकेट्टा, सरोज केरकेट्टा, ग्लेडसन डुंगडुंग ने भी अपनी मातृभाषा के साथ-साथ हिन्दी में भी कविताएँ लिखी हैं । खड़िया भाषा की रोज केरकेट्टा झारखंड की सबसे पुराने हस्ताक्षरों में से एक हैं। इन्होंने कविता के साथ-साथ कहानियाँ भी लिखी हैं । इन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों का अनुवाद खड़िया भाषा में किया है। इनकी कविताएँ स्त्री एवं आदिवासी चेतना को लेकर लिखी गई हैं । 'पहरेदार' कविता में देखा जा सकता है कि पुरुषवादी समाज में स्त्री के साथ हो रहे बलात्कार के डर से आदिवासी समाज की औरतें अपने बच्चों को घर से बाहर नहीं निकलने देती हैं । इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर इनकी कविता तीव्र चोट करती है-

"कौन हैं ये पहरेदार ?
शायद नाम उनका होता है
पति, प्रेमी, रेपिस्ट, रिश्तेदार

पर वे स्त्री के जगनियन्ता नहीं होते ।"[115]

सरिता सिंह बड़ाईक नागपुरिया भाषा की आदिवासी कवयित्री हैं । वे हिन्दी-नागपुरिया दोनों भाषाओं में समान रूप से कविताएँ लिखती रही हैं। इनकी कविता में स्त्री मुक्ति के सवाल को बखूबी ढंग से उठाया गया है। 'क्या हूँ मैं' और 'तकिया' कविता में प्रतीकों के माध्यम से स्त्री को दोयम दर्जे का समझने वाली पुरुषवादी मानसिकता पर तीखा प्रहार किया है-

"क्या हूँ मैं ?एक अचरज

[114] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 220
[115] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 244

या फिर मोटे फ्रेम के बोझ तले

दबी-धँसी आँखे दर्द की देहरी पर

सिंगार से विरक्त औरत...क्या हताश-सी

अपराध-बोध से थकी-थमी साँसे ,क्या हूँ मैं ?"[116]

इनकी कविताओं में स्त्री जीवन से जुड़े प्रश्नों को अनेक पहलुओं के रूप में उठाया गया है । साथ ही पुरुषवादी समाज की विद्रूपताओं पर ही करारा व्यंग्य है । आदिवासी कविताओं में स्त्री मुक्ति के सवाल को बखूबी ढंग से उठाया गया है।

आदिवासी कवि हरिराम मीणा 'आदिवासी लड़की' कविता में एक आदिवासी लड़की के रूप-यौवन का चित्रण प्रतीकात्मक रूप में करते है। वे आदिवासी दर्शन के साथ ही प्रकृति के सौन्दर्य की परिकल्पना करते हैं। इस कविता के माध्यम से उन्होंने आदिवासी लड़की के रूप-यौवन की चंचलता को प्रकृति के साथ जोड़कर देखने की कोशिश की है-

'आदिवासी युवती पर
वो तुम्हारी चर्चित कविता
क्या खूबसूरत पंक्तियाँ हैं-

'गोल-गोल गाल, उन्नत उरोज, गहरी नाभि

पुष्ट जंघाएँ,मदमाता यौवन...."[117]

रणेंद्र ने 'पानी और स्त्री' शीर्षक कविता में पानी और स्त्री के अस्तित्व के संकट को मापने का प्रयास किया है । पानी और स्त्री को प्रतीकात्मक रूप में रखकर कवि ने आदिवासी जीवन दर्शन को प्रकृति से जोड़कर देखा है। वे कहते हैं-

[116] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि) , रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 295

[117] सुबह के इंतजार में, हरिराम मीणा, अक्षर शिल्पी, पृ. 17

‘भर बित्ता कीच में डूबी
रोपनी करती स्त्रियों की गीतों का
आखिरी बंद तक,साथ देता है पानी

पानी की कीमत,थार की स्त्रियाँ जानती हैं

या पहाड़ की,भर फफोले तलाशते

उतर जाता है देह का पानी”[118]

अनुज लुगुन मुंडारी भाषा के दूसरे सशक्त युवा कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी कविता में नई उपस्थिति दर्ज की है। अनुज की कविताओं ने हिन्दी पाठकों का ध्यान खींचा है। अनुज लुगुन की कविता में मुंडा समाज के इतिहास, संस्कृति का चित्रण बहुत उम्दा ढंग से हुआ है। इनकी कविता ‘उलगुलान की औरतें’ में आदिवासी समाज की स्त्री के इतिहास का जिक्र मिलता है-

‘उलगुलान की औरतें/उतनी ही लड़ाकू थीं
जितना कि उनका सेनापति
वे अपनी खूबसूरती से कहीं
ज्यादा खतरनाक थीं /उन्होंने अपने जुड़े में ...
साहस का फूल खोसा था ..हक़ की लड़ाई में
उन्होंने बोया था आत्मसम्मान का बीज।”[119]

इन कविताओं में एक स्त्री निर्जीव बनकर सबकुछ सहने से इनकार करती है और बराबरी के हक़ की मांग भी करती है , घर-परिवार की चहारदीवारी तक सीमित स्त्री

[118] थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ , रणेंद्र, पृ.-56
[119] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ..56

के अस्तित्व और अस्मिता के सवालों को बखूबी ढंग से उठाती है । आदिवासी समाज में स्त्री दोहरी पीड़ा और शोषण से आहत है । इन्हीं पीड़ाओं, शोषण एवं अत्याचार के प्रतिरोधस्वरूप निर्मला पुतुल अपनी कविताओं में इन सवालों को महत्त्वपूर्ण मुद्दों के साथ उठा रही हैं।

2.2.7. **विकास बनाम विस्थापन**

औद्योगीकरण, बाजारीकरण और वैश्वीकरण जैसी अवधारणाओं ने तो आदिवासी समुदाय के सामने विकास के बजाय विस्थापन की समस्या सबसे अधिक पैदा की है । अस्सी प्रतिशत से भी अधिक प्राकृतिक संसाधन आदिवासी क्षेत्रों में होने के कारण और कारखानों, प्लांटों, उद्योगों की स्थापना वहीं की गयी लेकिन औद्योगिक इकाईयों की स्थापना के लिए जंगल, जमीन उजाड़ना प्रारम्भ कर दिया गया । विकास से लेकर विस्थापन पर डॉ.रमेश चन्द मीणा सारगर्भित टिप्पणी करते हैं- "विकास के लिए संसाधनों के वैकल्पिक उपयोग के सन्दर्भ में संसाधनों पर अधिकार का दूसरा पहलू विस्थापन है। मूलतः विस्थापन एक ऐसी भारतीय समस्या है, जिसमें कि एक घर-परिवार का, उनके रोजी-रोटी के संसाधनों से, पीढ़ियों से, वे जहाँ बसे हैं ऐसे क्षेत्र से उनके सामाजिक, आर्थिक रिश्ते-नातों के इलाके से टूटना, विकासजन्य विस्थापन नहीं होगा यह तो कहा ही नहीं जा सकता।"[120] अर्थात् जहाँ विध्वंस है, वहाँ विकास जरुर होता है। विकास की प्रक्रिया में आदिवासी जीवनशैली पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है और उसकी आजीविका पर संकट छा गया है । इसी संदर्भ में विकास बनाम विस्थापन पर हरिराम मीणा कहते हैं-"ज्यों-ज्यों प्राकृतिक

[120] आदिवासी विमर्श, डॉ.रमेश चन्द मीणा, पृ.42

संसाधनों का दोहन होगा वह दोहन वहीं होगा जहाँ जंगल है, जहाँ जंगल है वहाँ आदिवासी रहते आये हैं। इसलिए जहाँ भी आप प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करेंगे वहाँ पर आप जायेंगे। विकास की प्रक्रिया में रेलवे लाइन या उधोग-धंधे या जल-परियोजनाएँ, वे सारी की सारी आप बनायेंगे, विकसित रूप में आप उनको फैलायेंगे। सवाल तो होता है भारत की विस्थापन और पुनर्वास नीति के तहत, खासतौर पर आदिवासियों के संदर्भ में, उसमें जहाँ अतिआवश्यक है वहाँ विस्थापन किया जाए। किन्तु अंधाधुंध विस्थापन नहीं किया जाए। दूसरा ये है कि अगर विस्थापन होता है तो उनका पुनर्वास वहीं इर्द-गिर्द किया जाए। विकास के लिए विस्थापन हो रहा है वह विस्थापन प्रगति के लिए हो रहा है। विकास के लिए विस्थापन हो रहा है वह विस्थापन होकर पुनर्वास उसकी नीति के तहत वहीं हो जिसको वह स्वीकार कर ले।"[121] हिन्दी साहित्य में विकास और विस्थापन की समस्याओं को बड़े फलक पर उद्घाटित करने के प्रयास उपन्यासकार वीरेन्द्र जैन ने अपने उपन्यास 'डूब' एवं 'पार' के माध्यम से किया है।

आदिवासी चिन्तक हरिराम मीणा ने 'बेदखल होते हुए' कविता में आदिवासी विस्थापन के संकट को चिंता का कारण बताया है और इन्होंने विकास के नाम पर विदेशी कंपनियों द्वारा जारी शोषक एवं लूटमार की प्रवृत्ति पर प्रहार किया है। ये बाहरी घुसपैठिये आदिवासियों को उनकी ही जमीन से विस्थापित कर रहे हैं। लेखक ने यहाँ आदिवासी विस्थापन को प्रमुख समस्या के रूप में दिखाया है-

'ऐसा लगता है,जैसे हमारे परिचित से शांत जंगलों में
घुस रहे हैं,दूर दिशाओं के तेज अंधड़

[121] साक्षात्कारों में आदिवासी, संपा. डॉ.भीमसिंह, दुर्गाराव बाणावातु, पृ. 28

समुद्र से उठ रही आग की लपटें,पृथ्वी की सारी सभ्यता

एक भीमकाय रोड रोलर की मानिंद

लुढ़कती आ रही है हमारी जानिब

और हम बदहवास भाग रहे हैं खोह और गुफाओं की ओर।[122]"

वर्तमान में आदिवासी अस्तित्व संकट के साथ पहचान की समस्या भी लगातार गहराती जा रही है, लोग उन्हें सामान्य मनुष्य की तरह नहीं बल्कि जंगली, वनवासी, असभ्य और संविधान में आरक्षित मनुष्य के रूप में परिभाषित करते हैं।

इस कविता के माध्यम से निर्मला पुतुल ने झारखंड के सच की यथास्थिति का वर्णन बखूबी ढंग से किया है। उन्होंने झारखण्ड के वर्तमान पर आये विस्थापन के संकट को दर्शाया है। विकास की इस अंधी दौड़ में विनाशकारी शक्तियाँ झारखंड को लील गयी हैं ,क्या अब भी झारखंड में प्राकृतिक संसाधनों का खजाना बच पाया है? वर्तमान समय में झारखंड के अस्तित्व पर संकट मँडराने लगा है उसकी भयावहता को कवयित्री ने अपनी कविता के माध्यम से बताने की कोशिश की है। उनकी एक कविता का अंश 'झारखंड का सच' नाम से है जो इस प्रकार है-

'यहाँ चारों तरफ लूट मची है

जो जहाँ बैठा, वही से लूट रहा है

और बात-बात पर एक दूसरे पर

दोषारोपण करते सरकार गिराने की बात करता है

अजीब तमाशा हैं हमारे झारखंड की राजनीति का

कोई सरकार बनाने की बात करता है तो कोई

[122] आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, रमणिका गुप्ता,पृ. 28

सरकार गिराने की तो कोई बचाने के लिए करता है सौदा

ऐसे में तो पाटों के बीच पीस रही है जनता

और विकास के नाम पर विस्थापन झेल रही है"[123]

इसी क्रम में निर्मला पुतुल, संजीव, रमणिका गुप्ता, वाहरु सोनवणे, वंदना टेटे, पीटर पॉल एक्का, केसी टुडू, रामदयाल मुंडा, वाल्टर भेंगरा, अनुज लुगुन, प्रभात, हरिराम मीना, ज्योति लकड़ा, मंगल सिंह मुंडा, रोज केरकेट्टा, भोगला सोरेन, ग्रेस कुजूर, रणेंद्र आदि का साहित्य आदिवासी समाज की चिंताओं को कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष रूप से सामने ला रहा हैं। आज का आदिवासी जागरूक है- जंगल के प्रति, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति, अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति।

एकांत श्रीवास्तव की 'धरती अधखिला फूल है' संग्रह में संकलित 'डूब' कविता में भारत में आदिवासी समाज के विस्थापन की पीड़ा को कविता के विमर्श का विषय बनाया गया है-

'जंगल में बाद में

पहले बढई के सपनों में बढ़ते हैं पेड़

गीली-मिट्टी-सी यह दुनिया..

लकीरें खींच देने से नहीं बनते रास्ते

वे हमारे पाँव है ,जो उन्हें बनाते हैं ,हम रास्तों पर नहीं चलते

हम आदिवासी भारत के लेकिन सभ्यता के वृत से बाहर ।"[124]

रणेंद्र की कविता गहन दुखबोध से उपजी दृष्टि ही है, जो कोयला खोदने व ढो़ने वाले एक मजदूर को एक योद्धा की तरह चित्रित करती है। इनकी कविता में आदिवासी जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ हैं-

[123] बेघर सपने, निर्मला पुतुल, पंचकूला, हरियाणा प्रकाशन, 2014, पृ.85

[124] धरती अधखिला फूल हैं (कविता संग्रह), एकांत श्रीवास्तव, पृ. 132

‘हमारा वीर बहादुर
जनरल -मार्शल ,
बुधन जवान
किसी दिन खदान धंसान से

देगा वह बलिदान

न बिगुल ,

न तिरंगा न कोई चक्र ,

न सम्मान !”[125]

भारत का झारखण्ड राज्य प्राकृतिक खनिज-सम्पदा का भण्डार है, वहाँ पर अनेक कम्पनियों द्वारा खदानों के खनन का कार्य बहुत तेजी से किया जा रहा है। इस खदान कार्य को लेकर झारखण्ड राज्य में होड़ यानी प्रतिस्पर्द्धा हो रही है । इस होड़ का सबसे ज्यादा असर आदिवासी समाज के जीवन पर पड़ रहा है।

जंगल हमेशा से ही आदिवासियों का प्राकृतिक निवास रहा है और खदान के कार्यों की वजह से आदिवासियों को वहाँ से विस्थापित किया जा रहा है, साथ ही सरकार द्वारा वहाँ के आदिवासियों को कोई पुनर्वास की भी उचित व्यवस्था नहीं दी जा रही है, जिससे दिनोंदिन वहाँ के आदिवासियों की हालत खराब होती जा रही है । इसी दर्द को निर्मला पुतुल अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्त करती हैं, वे लिखती हैं-

“कितनी शर्मनाक स्थिति है कि जिस झारखंड के
खनिज और प्राकृतिक संपदा से पूरा देश चमक रहा है
उसी के मानचित्र पर धूल की मोटी परतें जम चुकी हैं

जिससे उसकी पहचान धूमिल होती जा रही है”।[126]

[125] थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ, रणेंद्र , पृ.18

आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर ने अपनी कविता 'कलम को तीर होने दो' में कलम को आदिवासी का हथियार बनाकर प्रतिरोध दर्ज किया है। वे आदिवासी समाज को कलम को तीर बनाकर आने वाले खतरे से निपटने के लिए सचेत करती हैं-

'वे लूटने-लुटाने आये ,हम गए परदेश
धरती उजड़ी जंगल उजड़े ,रह गया क्या शेष ?
झाड़िया हो गई कमान, सब बिरवे तीर

देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

ईंटों के भट्टों में ,सीझ गयी जिन्दगी

रोटी की खोज में कहाँ नहीं भागी

बांहे हो गई कमान, सब अंगुलियाँ तीर

देखना बाकी है कलम को तीर होने दो।"[127]

आदिवासी कवि अपनी कविताओं के माध्यम से अपनी समस्याओं को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। बाजारवाद एवं भूमंडलीकरण के फलस्वरूप आदिवासियों को उनके जल, जंगल एवं जमीन से बेदखल कर दिया गया अत: विकास के नाम पर उनके जीवन में विस्थापन एक विकट समस्या बन चुकी है।

2.2.8. **भूमंडलीकरण और पूँजीवाद**

भूमंडलीकरण और पूँजीवाद पर विस्तार से हरिराम मीणा लिखते हैं- "भूमंडलीकरण के इस दौर में प्रभुत्त्व वर्ग द्वारा स्वयं के हित में चलाये जा रहे अभियान को यह कहकर न्यायसंगत ठहराये जाने का प्रयास किया जाता है कि

[126] बेघर सपने, निर्मला पुतुल, पृ.85
[127] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 102

निजीकरण-उदारीकरण-भूमंडलीकरण आम आदमी की प्रगति के लिए है। लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आखिरी मकसद प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, बाजार की शक्ति के आधार पर अधिकाधिक लाभ, पूंजी व तकनीकी के बल पर अपने व्यवसायिक विस्तार है।"[128] वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था ने जंगलों का भारी दोहन किया है। देश के विकास के नाम पर चाहे उद्योग, कारखाने स्थापित हो, शहरों में मल्टीप्लेक्स बनाए हों, बहुउद्देशीय परियोजनाओं के तहत खनिज पदार्थों का उत्खनन किया गया हो सबमें आदिवासी जमीन और जंगल से उखड़ते, उजड़ते रहे। उदारीकरण के इस अभियान ने दुनिया के हर कोने में जनविरोधी राजनैतिक शक्तियों को प्रबल वेग से आगे बढ़ाया है। यह नव-उपनिवेशवाद का एक आक्रामक दौर है। इससे कॉर्पोरेट की राजनीति शुरू हो रही है। और इसके कारण किसानों, मजदूरों तथा आदिवासियों पर गहरा संकट आया है।

दूसरे शब्दों में कहे तो विस्थापन आदिवासियों को केवल उनकी जड़ों से ही नहीं काटता, अपितु उनकी रोजी-रोटी का साधन (जंगल,जमीन) भी छीनता है और उन्हें पलायन के लिए मजबूर करता है। पलायन से आशय उनकी भाषा, संस्कृति और जमीन से बेदखल करना है। आदिवासी साहित्य इसी बेदलखी, अस्मिता और पलायन की मज़बूरी के प्रति सचेत है और संघर्षरत है। वह प्रतिरोध के साथ अपनी आवाज बुलंद करता है-

'ये किसने आग लगाई, आदिवासी तेरी छाना में?
औरों के ये कोठी बंगले, सत्ता की ठेकेदारी क्यों?

[128] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ.7

टूटी छान तेरी, शासन में कम है भागेदारी क्यों?

ये क्यों नही करते कोटा पूरा?

करते हेर-फेर नियमों में क्यों? जल,जंगल,जमीन गई,

तू भारत का मूलनिवासी बेघर हुआ,

क्यों न पसीजा कलेजा इनका? आया न आंसू आँख में ''[129]

आदिवासी अपने विस्थापन और सभ्यता से दूर रखे जाने के षड़यंत्र को धीरे-धीरे समझ रहा है, साथ ही साथ अपने समाज को सचेत करने की कोशिश कर रहा है। हरिराम मीणा का संवाद अंडमान निकोबार तक के आदिम मनुष्यों से होता है, वे उनकी खत्म होती हुई नस्लों पर चिंतित हैं। आदिवासी समाज की परम्परागत जीवन शैली खतरे में पड़ गई है, विस्थापन ने आदिवासी अस्तित्व को संकट में डाल दिया है और आदिवासी समाज की भाषाई अस्मिता पर संकट गहराता जा रहा है।

आदिवासी कवि अनुज लुगुन ने सुगना मुंडा की बेटी को समाज का प्रतीक माना है। यहाँ बाघ पूँजीपति वर्ग का प्रतीक है जिसके हवाले से यहाँ कवि अनुज लुगुन ने प्रतीकात्मक भाषा के साथ पूँजीवादी व्यवस्था पर सीधा प्रहार किया है-

सुगना मुंडा की बेटी हैरान है कि वह
उस बाघ की पहचान कैसे करे..?
कुछ कहते हैं,वह सभ्यता का उद्घोषक है

सत्ता का अहं है,कुछ कहते हैं,वह आदमी ही है

तो कुछ यह भी कहते हैं कि

जो हमारे अन्दर भी है और बाहर भी।''[130]

[129] अरावली उद्घोष, सितम्बर,2008,पृ.-25

[130] पक्षधर पत्रिका, संपा. विनोद तिवारी, जुलाई-दिसम्बर, 2014, पृ.-112

इसी रूप में जसिंता केरकेट्टा आदिवासी जीवन को पिरोती है गुंथती है । जसिंता केरकेट्टा 'टूटते पहाड़ों और टूटती जिन्दगियाँ' कविता में आदिवासी जीवन के टूटते स्वर को रेखांकित करती हुई बताती है कि किस तरह बाहरी लोगों द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में खनन करके पहाड़ के पहाड़ ट्रकों में लादकर ले जाए जा रहे हैं-

'पहाड़ टूटते हैं /पर कुछ बोल नहीं सकते
जो बोल सकते हैं /वे अपना मुंह नहीं खोलते
बस देखते हैं टुकुर-टुकुर

कैसे कोई ,पहाड़, जंगल, जमीन को

ट्रकों पर लादकर ले जा रहा

एक मजबूत घर जमाने के लिए..."[131]

आदिवासी कविताएँ आदिवासी अस्मिता, पहचान, संस्कृति तथा जल,जंगल, जमीन को बचाने की मुहिम का हिस्सा नहीं बल्कि आदिवासी चेतना का प्रतीक भी है । आदिवासी कविताएँ आदिवासियों के इतिहास से भी परिचित कराती हुई लोकमानस में जनसंचार की भावना पैदा करती हैं।

विश्व मानव-सभ्यता के इतिहास में इतना भयावह एवं क्रूर समय आदिवासियों के लिए कभी नहीं रहा जितना की पिछले तीस वर्षों का समय रहा है । राज्यसत्ता, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ मानव समुदाय के एक विशिष्ट तबके को समूल नष्ट करने पर तुली हुई है । इस समय की भयावहता को विनोदकुमार शुक्ल अपनी कविता में इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

'जो प्रकृति के सबसे निकट है,जंगल उनका है
आदिवासी जंगल में सबसे निकट है इसलिए जंगल उन्हीं का है

[131] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि, रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 197

अब उनके बेदखल होने का समय है,

यह वही समय है,जब आकाश से

एक तारा बेदखल होगा,एक पेड़ से पक्षी बेदखल होगा

आकाश से चांदनी,बेदखल होगी,

जब जंगल से आदिवासी,बेदखल होगें

जब कविता से एक-एक शब्द/बेदखल होगें"[132]

अर्थात् मानव सभ्यता के विकास में प्रकृति के सबसे निकट रहे हैं तो वे हैं आदिवासी, जो प्रकृति के साथ अपना जीवनयापन भी करते थे। उनकी जीवन-शैली प्रकृति के साथ जुड़ी हुई थी। आज ऐसा समय आ गया कि उनको अपने जल-जंगल-जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है। समकालीन कवियों की कविता में विकास के जो मानक सरकार या व्यवस्था द्वारा अपनाए गए, उनका विरोध देखने को मिलता है। क्योंकि ये विकास के मानक जन-जीवन के विकास में सहायक न होकर उनके जीवन में हस्तक्षेप, उनकी स्वायत्तता में दखल देने के लिए अपनाए गए हैं। इसी संदर्भ में कवि ज्ञानेद्रपति कहते हैं-

'इस आदिवासी गाँव के आँगन से गुजरती हुई यह सड़क
अत्याचारियों के गुजरने का रास्ता है
यह इनके पैरो से नहीं बना

यह इनके पैरो के लिए नहीं बना

बड़े-बड़े रोड रोलर आए थे लुटेरे वाहनों के आने से पहले

धरती कँपाते धीरे-धीरे चलते हुए विशालकाय रोड रोलर..."[133]

[132] संपा. डॉ.रमेश शम्भाजी कुरे, .आदिवासी साहित्य: विविध आयाम, पृ. 54

[133] .आदिवासी साहित्य: विविध आयाम, संपा. डॉ.रमेश शम्भाजी कुरे, पृ.55

सत्ता के नाम पर विकास का ढोंग रचने वाले ये जन-लुटेरे अपनी जेब भरने के लिए कुकर्म करने से भी नहीं कतराते। समय की भयावहता को कवि विनोद दास अपनी कविता 'आदिवासियों का गीत: तीन कविताएँ' में जन-लुटेरे के कुकृत्यों के उदाहरण द्वारा पर्दाफाश करते हैं-

'यही वह वक्त होता है
आती है शहर से एक जीप
उड़ाती हुई धूल हमारी इच्छाओं पर
उतरते हैं टाई पहने साहब,हुक्म देते हैं हम देखेंगे नाच..."[134]

कवि इस कविता के माध्यम से आदिवासी की अस्मिता की बात करता है और बताता है कि भारत का आदिवासी एक ऐसा समाज है जो भारत का मूलनिवासी है। हमारा इतिहास भी यही बताता है कि सबसे प्राचीन जातियों में मूलनिवासी का स्थान रहा है , जो कि आदिम जातियों का इतिहास रहा है जिन्होंने अंग्रेजों से भी लड़ाईयाँ लड़ी।

अश्विनी कुमार पंकज की कविता 'मैं गंगा नहीं हूँ' में सभ्य समाज की पवित्रता की अवधारणा के मिथक को तोड़ने का प्रयास किया गया है। सभ्यता का चोला पहनकर ये लोग हमारी कौम को असभ्य करार देकर व्यवस्था का खाली ढिंढोरा पिटते हैं-

' हमारे जंगलों में
पहाड़ों में ,नदियों में ,बस्तियों में
कोई भी नंगा नहीं होता
हालाँकि वहाँ प्रकृति की तरह ही हम

[134] खिलाफ़ हवा से गुज़रते हुए, विनोद दास, पृ. 24

पेड़-पौधे, जानवर, जीव-जंतु

चिरई-चिरगुन सब कोई अनावृत है

जब से यह सृष्टि बनी हैं।"[135]

इनकी कविताओं में देखा जा सकता है कि कैसे नंदीग्राम की प्रतिहिंसा को राजनीतिक पार्टियाँ अपने स्वार्थ लाभ के लिए मीडिया में खबर का विषय बनाकर बौद्धिकता का प्रमाण देती हैं। अश्विनी कुमार पंकज की कविता 'शिनाख्त' में कलिंगनगर के युद्धों का सजीव चित्रण किया गया है-

' कलिंगनगर की शहादते
गुम हो गई हैं ,नंदीग्राम की खून सनी चीखों में
ठीक वैसे ही ,जैसे हॉकी का विजय उल्लास

खो जाता है ,क्रिकेट के उन्माद में/हिंसा सबको पसंद है

चाहे वह मिडिया हो ,बौद्धिक तबका हो

राजनीतिक पार्टियाँ हो ,या फिर सत्ता ..।"[136]

अर्थात् भूमंडलीकरण और पूँजीवाद ने आदिवासी जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है इससे उनका जनजीवन अस्त-व्यस्त हुआ है। ऐसे में उनके छोटे उद्योग धंधे चौपट हो गए और रोजगार की तलाश में वे पलायन पर मजबूर हो गए। यही कारण है कि भूमंडलीकरण का सबसे बुरा प्रभाव आदिवासियों पर पड़ रहा है। वैश्विक विकास के किसी भी फ्रेम में आदिवासी शामिल नहीं किये जा सकते। इस प्रक्रिया में उनकी सहभागिता संसाधन देने और मर-मिटने से ज्यादा कुछ नहीं है। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आदिवासी विकास की इस प्रक्रिया के हिस्सेदार नहीं हैं।

[135] जो मिट्टी की नमी जानते है' अश्विनी कुमार पंकज, पृ. 82

[136] अश्विनी कुमार पंकज, जो मिट्टी की नमी जानते है (कविता संग्रह) ,पृ. 59

2.2.9. अंधविश्वास एवं कुरीतियाँ

आदिवासी समाज में कई कुप्रथाएँ तथा अंधविश्वास हैं। जैसे आदिवासी महिला हल नहीं छू सकती या घर चूने पर भी वह छप्पर नहीं छा सकती(संदर्भ 'सजोनी किस्कू') उसी तरह 'घड़ा उतार' एक प्रथा है इस प्रथा की शुरुआत अंग्रेजों के द्वारा की गई थी। अंग्रेज आदिवासियों को असभ्य और जंगली मानते थे। मेले के अंतिम दिन खंभा गाड़कर उस खम्बे में घड़ा बाँध दिया जाता है और घड़े में कुछ पैसे डाल दिए जाते हैं। उस घड़े पर चिकनाई लेप भी कर दिया जाता है और उस घड़े को उतारने के लिए आदिवासी नंग-धडंग मेहनत करते हैं और तमाशा देखने वाले तमाशा देखते हैं। इस तरह से आदिवासी समाज में आज भी इस तरह की कई प्रथाएँ मौजूद हैं।

'ओटंगा' कविता में आदिवासी कवि महादेव टोप्पो ने आदिवासी समाज में प्रचलित 'ओटंगा' प्रथा का चित्रण बखूबी ढंग से किया है। ओटंगा प्रथा में ऐसी मान्यता थी कि जिनके पास अधिक धन और धान हैं, वे आदमी की बलि देते हैं। बलि करने वाला आदमी ओटंगा माना जाता था। इसमें कवि ने समाज में फैली अन्धविश्वासी कुरीतियों की ओर ध्यान इंगित किया है-

'मेरे भाई डरते हैं धान बोने के मौसम में ओटंगा से
कि वह उन्हें पकड़ बलि न चढ़ा दे
वे तब जंगल या बाज़ार जाते नहीं अकेले
जाते हैं समूहों में और वे शाम होने से पहले लौट आते हैं घर
शहर में ओटंगा का नहीं है आतंक
लेकिन राह चलते भीड़ भरी सड़क पर

पता नहीं कब कौन किस समय ,किसी को मार दे गोली ।"[137]

इस कविता में आदिवासी समाज में ओटंगा की कुप्रथाओं का चित्रण किया गया है। आदिवासी समाज की ओटंगा जैसी मान्यताओं का चित्रण कविता में बेजोड़ ढंग से किया गया है । इन कविताओं में आदिवासी समाज की प्राचीन सभ्यता की धरोहर को संरक्षित रखने की बात की गई है-

'कोई नहीं जानता या दर्जनों लोगों के बीच
किसी को मार कोई हत्यारा
कब कहाँ भाग जाएगा कोई नहीं जानता

न पुलिस, न जनता, न सी बी आई, न अखबार वाले

हर मौसम में छाया रहता है मौत का आतंक

फिर भी चाहते हैं लोग जीना राँची शहर में

जहाँ ओटंगा हर मौसम में , हर वक्त रहता है उपस्थित ।"[138]

उषा किरण अत्राम के 'म्होरकी' काव्यसंग्रह की कई कविताओं में कवयित्री ने आदिम समाज की उन परम्पराओं पर ताना कसा गया है, जिससे आदिवासियों पर अत्याचार किए जाते हैं । मानवीयता को महत्त्व देने वाला यह आदिवासी समाज किस तरह अंधविश्वास का ढकोसला ओढ़े हुए है । यह 'तैयार' कविता में व्यक्त करती है-

पत्थर के देवता के मंदिर में
बजते घंटे को सुनकर दौड़ पड़ता है गाँव
पर,मैं हाड़-मास का आदमी आक्रोश से भर उठता हूँ

देख कर मेरा गुस्सा भाग उठता है गाँव मुझसे दूर

[137] जंगल पहाड़ के पाठ (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 92
[138] जंगल पहाड़ के पाठ (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 92

अनादिकाल से ही है जारी यह प्रवास ।"[139]

निर्मला पुतुल की इस कविता में संपत्ति का अधिकार मांगने पर डायन करार देकर मारने-पीटने और घर से निकाल देने जैसे अमानवीय कृत्यों पर भी कवयित्री सख्त प्रतिरोध दर्ज करती है। वह 'डेपचा के बाबू' शीर्षक कविता में डायन करार दिए जाने के अंधविश्वास जनित पहलू पर भी प्रकाश डालती है और 'डेपचा की माँ' के वक्तव्य द्वारा इस इस अमानवीय प्रवृति के निकृष्ट रूप को उजागर करती हुई लिखती है कि-

'और एक दिन तो गजब ही हो गया
लखना के बेटे को साँप ने काटा
तो सबके सब आ धमके हम पर

कहने लगे डायन हैं हम

कुछ कर दिया है उसके बच्चे को

वह तो अच्छा हुआ शरबतिया ने साँप देख लिया

नहीं तो पकलू बुढ़िया की तरह

मुझे भी घसीटकर ले जाते लोग कुलि में

और भरी पंचायत में सर मुंडवा /नचा देते नंगा

कर देते मुँह पर पेशाब / ठूँस देते मैला ।"[140]

अर्थात् आदिवासी कवि अपनी कविता में अपने परिवेश की बात करता है और उस परिवेश से जुड़े पहलुओं पर भी अपनी बात रखता है। कवि रुढ़ि, परम्परा, लोकगीत, संगीत आदि के महत्त्व के साथ पेड़, नदी, पहाड़, जंगल आदि का अपनी कविता में जिक्र करता है।

[139] आदिवासी साहित्य :विविध आयाम, डॉ.रमेश संभाजी कुरे, डॉ.मालती धोड़ोपंत शिंदे, पृ. 38
[140] नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. 41-42

निष्कर्ष

अत: कहा जा सकता है कि आदिवासी कविता का इतिहास साहित्य में नब्बे के दशक से शुरू होता है। इसी शुरुआत के साथ कवियों ने आदिवासी कविता को प्रतिरोध का नया हथियार बनाकर पूँजीवादी व्यवस्था पर तीखी चोट की है। आदिवासी कविता बिरसा की विचारधारा से लैस होकर जनजागृति का सन्देश देती है। इसी क्रम में आदिवासी कविता की परम्परा और इतिहास आदिवासी साहित्य लेखन में विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। जहाँ तक आदिवासी कवियों का सवाल आता है तो उनकी कविता प्रमुख रूप से आदिवासी भाषाओं में लिखी गई है। जिसका हिन्दी अनुवाद बहुत कम हुआ है। आदिवासी कविता का मौखिक रूप और गेय परम्परा के रूप में सीमित रहना भी एक सबसे बड़ा कारण हो सकता है। इसलिए आदिवासी कविता का प्रचार-प्रसार बहुत कम मात्रा में देखने को मिलता है।

हिन्दी भाषा के परिप्रेक्ष्य में यानी हिंदी पट्टी के क्षेत्र में आदिवासी स्वतंत्र लेखन का काम बहुत कम हुआ है। आदिवासी कविता की बात की जाए तो इसमें व्यापक रूप से अनूदित पाठ का ही आधिक्य है। वैसे समकालीन आदिवासी कविताओं में आदिवासी अतीत की कुछ प्रस्तुतियाँ और वर्तमान समय पर पड़ने वाले प्रभाव और भविष्य में आने वाले वैश्विक संकट को कवियों ने अपना प्रमुख विषय बनाया। कुछ कवियों ने अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर आदिवासी दर्शन की वैचारिकी को बारीकी से समझने की कोशिश की है साथ ही साथ उनकी ज्ञान परम्परा में भी शामिल होते रहे हैं।

तृतीय अध्याय

हिन्दी की आदिवासी कविता : अस्तित्व एवं अस्मिता के सवाल

3.1.हिन्दी की आदिवासी कविता में अस्तित्व के सवाल

3.1.1. 'विकास' के मॉडल के नाम पर विनाश

3.1.2. घुसपैठ की समस्या

3.1.3. मिथक व इतिहास

3.1.4. सांस्कृतिक अस्तित्व

3.1.5. पलायन और विस्थापन

3.2.हिन्दी आदिवासी कविता में अस्मिता के सवाल

3.2.1. पुरखों के प्रति दृष्टिकोण

3.2.2. आदिवासी स्त्री अस्मिता

3.2.3. प्रकृति के साथ रिश्ता

3.2.4. आदिधरम अस्मिता

3.2.5. भाषाई अस्मिता

तीसरा अध्याय

हिन्दी की आदिवासी कविता : अस्तित्व एवं अस्मिता के सवाल

प्रस्तावना-

आदिवासी शब्द एक पहचान को चिन्हित करता है और वह पहचान उनकी अस्मिता से जुड़ी हुई है। उत्तर-औपनिवेशिक समय भारतीय समाज, राजनीति और साहित्य में उत्पीड़ित अस्मिताओं के मुक्तकामी संघर्षों का समय है। भारत में बींसवी शताब्दी के अंतिम दशक में नए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक आंदोलनों का उभार देखने को मिलता है। स्त्रियों, दलितों, किसानों, वंचितों और आदिवासियों की एकजुटता ने अनेक ऐसे सवाल व मुद्दों को जन्म दिया जो आसानी से समझे और सुलझाए नहीं जा सकते थे। अपनी अस्मिता, शोषण व भेदभाव के बरक्स इन समूहों ने एकजुट होकर एक आंदोलन चलाया जिसे अस्मितावादी आंदोलन कहा जा सकता है। ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा के लिए आदिवासी जन-समुदाओं में एक ऐसा विमर्श सामने आया है जिसमें उसकी पहचान जल, जंगल, जमीन आदि मुख्य कारक हैं। इसी के परिणामस्वरूप उनकी वाचिक परम्परा में प्राप्त 'हाशिए का साहित्य' में प्रतिरोध का स्वर है जो लोक भावना से प्रेरित है। आज भी विकास के नाम पर विस्थापन का दंश झेल रहे आदिवासियों

में मुक्ति की आकांक्षा, समाज और संस्कृति में अपनी पहचान बनाने की ललक सबसे अधिक है।

आदिवासी साहित्य आज हिन्दी साहित्य के विमर्श के केंद्र में चर्चा का विषय बना हुआ है। यह साहित्य उस समाज की समस्या से जुड़ा साहित्य है, जिसको हाशिए का साहित्य कहकर मुख्यधारा के साहित्य से दूर रखा गया था। आदिवासी समाज की समस्या जहाँ एक ओर अपनी अस्मिता एवं जल, जंगल, जमीन से जुड़ी हुई है। वहीं दूसरी ओर आर्थिक, राजनैतिक समस्याओं से भी जुड़ी हुई है। दिकू समाज ने आदिवासी क्षेत्रों में हस्तक्षेप कर उनके जीवन पर संकट पैदा कर उन्हें विस्थापित होने के लिए मजबूर कर दिया। आदिवासियों का विकास के नाम पर बाहरी लोगों (दिकुओं) द्वारा शोषण किया जाता रहा है। उन्हें उनके जल, जंगल एवं जमीन से बेदखल करके उनकी सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट किया जाता रहा है।

आदिवासी समाज की अस्मिता की पहचान उसकी मूल संस्कृति के साथ जुडी़ हुई है। अस्तित्व और अस्मिता का प्रश्न समकालीन साहित्य के रूप में रूपायित हुआ है, जबकि आदिवासी जीवन की मूल पद्धति उसकी अस्मिता और अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई है। इसी संदर्भ के साथ रमणिका गुप्ता ने आदिवासी अस्मिता व अस्तित्व की परिभाषा नए ढंग से की हैं- "दरअसल आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न जहाँ उनके नाम की परिभाषा से गहरा सम्बन्ध रखता है, वहीं वह उनकी सामाजिक संरचना और जीवन-यापन के साधन जल,जंगल,जमीन से जुड़ा है। उसका उद्गम उसकी पहचान को पुष्ट करता है, तो उसकी विरासत, भाषा,शिक्षा,संस्कृति और जीवन शैली, उस पहचान को जिन्दा रखती है। इनकी रक्षा किए बिना उसकी

अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती और इस सबके लिए, नेहरु के शब्दों में, 'अपनी संस्कृति का उन पर थोपा न जाना' की नीति अपनाना जरुरी है। हम आज तक उन्हें सिखाने की जरुरत ही महसूस करते रहे हैं, उनकी जनतांत्रिक और समतामूलक व्यवस्था से हमने कभी कुछ सीखने की कोशिश ही नहीं की। आज दरकार है उनसे कुछ सीखने की, न कि उन्हें अपनी अधकचरी संस्कृति व सभ्यता सिखाने की।"[141] औद्योगीकरण के दौर में आदिवासी के सामने सबसे बड़ा संकट अस्मिता और अस्तित्व का है। वास्तव में आदिवासी जीवन की परम्परा का एक बड़ा हिस्सा उसकी अभिन्न संस्कृति के साथ जीवन-दर्शन से जुड़ा हुआ है। इस तरह से आदिवासी अस्मिता की बात कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं में मुखर रूप से अभिव्यक्त हुई है।

आदिवासी अस्मिता, अस्तित्व और इतिहास की बात को रेखांकित करते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं-"आदिवासी कौन है? यह उसकी अस्मिता, अस्तित्व और इतिहास का प्रश्न है। इसलिए शुरुआत हमें 'जनजाति' शब्द से करनी होगी, क्योंकि यह शब्द उनकी अस्मिता को दिग्भ्रमित ही नहीं करता, बल्कि उनके अस्तित्व पर भी एक सवाल पैदा करता है। आदिवासियों की कोई जाति नहीं होती। फिर वे 'जनजाति' कैसे बना दिए गए ? उन्हें कबीला कहा जा सकता है, लेकिन जाति नहीं।"[142] आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या जल, जंगल, जमीन और अस्मिता की है। यह समाज अपनी पहचान और संस्कृति के लिए हमेशा से ही संघर्ष कर रहा है। इस तरह आज आदिवासी नई सदी के इस दौर में अपनी अस्मिता की

[141] आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता, पृ.50
[142] आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता, पृ.50

लड़ाई लड़ रहा है। इस संदर्भ में आदिवासी अस्मिता के सवालों को आदिवासी संस्कृति के साथ जोड़कर देखा गया है-"आदिवासियों के पास जल, जंगल और जमीन न हो तो उस समाज की पहचान ख़त्म हो जाती है। उनकी अपनी एक अलग विरासत और पहचान है, जो सामूहिक जीवन प्रणाली, समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा से लैस जनतंत्र तथा स्वायत्तता पर टिकी है। इनकी अपनी भाषाएँ हैं। अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ हैं।"[143]

इस तरह अंग्रेजों ने भी इनकी संस्कृति के साथ खिलवाड़ किया तथा आजादी के बाद हमारी सरकार ने भी यही नीति जारी रखी है। इस तरह आज का आदिवासी समाज अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अनेक समस्याओं, अन्यायों और असमानताओं से जूझ रहा है। आज आदिवासी समुदाय सबसे विकट स्थिति के दौर से गुजर रहा है। आज इस समुदाय को सबसे बड़ा खतरा अपनी अस्मिता के गायब होने का है। आदिवासी की अस्मिता और उसका नाम छीनकर उसे वनवासी घोषित किया जा रहा है। उसकी संस्कृति को छीनकर हिन्दूवादी 'कल्चर' को उन पर जबरन थोपा जा रहा है। आज आदिवासी समुदाय के सामने सबसे बड़ा खतरा अपनी अस्मिता को बचाने का है-"कितना बड़ा झूठ थोपा जा रहा है उन पर। उसे नहीं बताया जा रहा है कि इस घर वापसी के आयोजन के बाद हिंदुओं की जातियों में विभाजित समाज के सबसे निचले दर्जे पर दाखिला दिया जा रहा है उसे। इस प्रकार उसका नाम और मूल

[143] हाशिए की वैचारिकी, संपा. उमाशंकर चौधरी, पृ. 317

छीनकर उसे हिन्दू समाज के विभाजित जमात की सीढ़ी के सबसे निचले पेढे पर बैठाया जा रहा है।"[144]

इस सम्बन्ध में लेखक अपनी बात को स्पष्टता के साथ व्यक्त करते हुए आदिवासी अस्मिता पर सवाल करते हैं- " आज मुख्यधारा की वजह से आदिवासी समाज की अस्मिता धुंधली होती जा रही है। उनका बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन करवाया जा रहा है। उन्हें हिन्दू धर्म के अंतर्गत शामिल करने की अनुचित कोशिश की जा रही है। हिन्दू देवी-देवताओं से निकटता बढ़ाई जा रही है। यों तो यह तबका अपना परिचय 'हिन्दू' या 'ईसाई' बोलकर नहीं देता है, बल्कि 'आदिवासी, 'आदिम मानव' कहकर देता है किन्तु आज के दौर में आदिवासी मुख्यधारा के समाज के छलावों, प्रलोभनों में फँसता चला जा रहा है। इस कारण से उसके घर संसार में उसका धर्म 'सरना' एवं उसके देवता, परममित्र 'सिंगबोगा' दिखलाई नहीं पड़ते बल्कि हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ दिखलाई देती हैं।"[145] अत: कहा जा सकता है कि आज आदिवासी समाज इक्कीसवीं सदी के इस दौर में अपनी संस्कृति और पहचान को बचाने के लिए संघर्षरत है। वर्तमान में आदिवासी की समस्या जल, जंगल, जमीन की है,जिसके लिए वह आज भी संघर्ष कर रहा है , क्योंकि उसकी पहचान ही उसकी संस्कृति के साथ ही जुड़ी हुई है। इसलिए वह अपनी पहचान यानी अस्मिता को बचाने के लिए विदेशी शक्तियों से डटकर मुकाबला कर रहा है। विकास के नाम पर सरकार उनकी जमीन छीन रही है जिसके कारण आदिवासियों का विस्थापन बड़े पैमाने पर हो रहा है। इस तरह आज आदिवासी समुदायों में सबसे बड़ी समस्या

[144] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, रमणिका गुप्ता, खंड-2, पृ. 9

[145] आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य , बन्नाराम मीणा, पृ. 45

उनके विस्थापन को लेकर है । सरकार ने इनके उत्थान एवं विकास के लिए छात्रावास तो बनवाये, लेकिन वहाँ या तो खाना नहीं मिलता या मिलता है तो इतना कम कि पेट ही नहीं भरता या बीमार कर देता है। तब ऐसे छात्रावासों में रहेगा कौन? छात्रावास खाली तो स्कूल भी खाली। सरकार वजीफा देती है आदिवासी छात्रों को लेकिन आधा पैसा वितरण करने वाले ही रख लेते हैं और जो मिलता है वह इतनी देर से कि उसका उपयोग पढ़ाई की बजाय दूसरी जगह हो जाता है।

आदिवासी समाज की मूलभूत समस्याओं में विस्थापन, अस्मिता, भाषा और मौखिक लिपि को लेकर संकेत किया गया है। **सबसे पहली** समस्या विस्थापन की है, जिनमें विदेशी ताकतों के द्वारा घुसपैठ करके उनके जंगलों पर जबरन अधिकार स्थापित किया जा रहा है। **दूसरी समस्या** भाषाई अस्मिता के संकट को लेकर है जो इस भूमंडलीकरण के दौर में विलुप्त होने के कगार पर है। अस्मिता के नाम पर उत्पन्न होने वाली समस्या साहित्य में मुख्य मुद्दे के रूप में चर्चा का विषय बन गई है। आदिवासी समाज के अधिकार भाषा, संस्कृति, अस्मिता से संबंधित पहलू हैं । आदिवासी समाज अब अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गया है और इससे लड़ने के लिए अनेक संस्थाओं का निर्माण कर रहा है। इस संघर्ष में जहाँ अन्य संस्थाएं अपनी ओर से प्रयासरत हैं, वहीं दूसरी ओर साहित्य के द्वारा भी अपनी समस्याओं को समाज के पटल पर रख रहा है। साहित्य के रूप में उभरा आदिवासी आंदोलन व्यापक रूप ले रहा है। इस आंदोलन में आदिवासी समाज के बुद्धिजीवी वर्ग, शिक्षक, मजदूर, विद्यार्थी सभी अपने-अपने स्तर पर सामाजिक-सांस्कृतिक निर्माण की प्रक्रिया में सहयोग दे रहे हैं । निर्मला पुतुल, संजीव, रमणिका गुप्ता, वाहरु

सोनवणे, वंदना टेटे, पीटर पॉल एक्का, केसी टुडू, रामदयाल मुंडा, वाल्टर भेंगरा, अनुज लुगुन, प्रभात, हरिराम मीणा, ज्योति लकड़ा, मंगल सिंह मुंडा, रोज केरकेट्टा, भोगला सोरेन, ग्रेस कुजूर, रणेंद्र आदि का रचनात्मक लेखन आदिवासी समाज की चिंताओं को कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष रूप से सामने ला रहा है। हिन्दी कविता में स्त्री के सवाल को मुख्यधारा में प्रमुखता से स्थान दिया है। आदिवासी कवियों ने अपनी कविता में विस्थापन, भाषाई संकट, अस्मिता का संकट और जल-जंगल-जमीन की समस्या को मुख्य विषय बनाया हैं। साथ ही साथ कविता के पैमाने में आदिवासी चेतना के स्वर को रेखांकित किया है।

3.1. हिन्दी की आदिवासी कविता में अस्तित्व के सवाल

वास्तव में देश का आदिवासी समाज अस्तित्व और अस्मिता की दोहरी चुनौतियों से जूझ रहा है। नई आर्थिक नीतियों के बाद शुरू हुई विकास की अंधी दौड़ का सामना आदिवासियों को ही करना पड़ रहा है। देश के आदिवासियों की समस्याओं को मौटे तौर पर निम्न भागों में बाँटा जा सकता हैं-

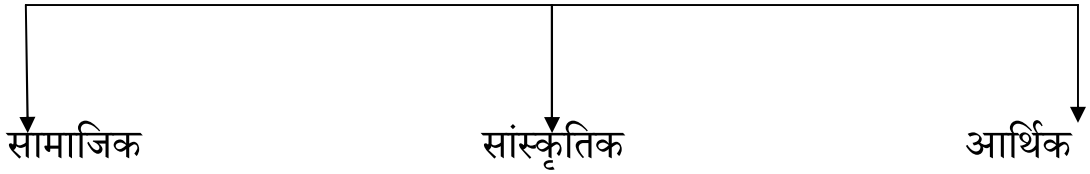

दो दशक पहले भारत सरकार द्वारा लाई गई उदारवादी आर्थिक नीतियों ने विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी निवेश के लिए निजी कंपनियों के लिए रास्ता खोल दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि देशी-विदेशी कंपनियों के द्वारा देश के प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन व्यापक पैमाने पर हुआ। हजारों बरसों से देश के मूल निवासियों

और उनके वंशजों के निवास स्थान यानी जंगल, नदियाँ, पहाड़ आदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए मुनाफा कमाने के केंद्र बन गए। आदिवासी जिन्हें अपना भगवान, पूर्वज मानकर पूजते थे, वहीं कंपनियों के लिए कच्चा माल पाने के स्रोत बन गए। कंपनियों ने मुनाफा कमाने के लिए आदिवासी संसाधनों पर पूर्ण तरीके से नियंत्रण कर लिया। पहाड़ों से खनिज निकाले जाने लगे और बिजली बनाने के लिए नदियों को रोककर बाँध बनाये जाने लगे, जिससे आदिवासी के अस्तित्व पर खतरा मंडराने लगा। यह सब आदिवासियों की ही जमीन पर हो रहा था, इसलिए पूरी प्रक्रिया में आदिवासी पिछड़ते चले गए। जिन जंगलों को उनके पूर्वजों ने समृद्ध किया, उन्हें उनके ही जंगलों से बेदखल किया जाने लगा। इस तरह से वे अपने ही पहाड़ों में कोयला चोर मान लिए गए। आदिवासी के जीवन को दांव पर लगाकर विकास का खेल खेला जा रहा है और यह सिलसिला अब भी जारी है। इसका सीधा फायदा नगरों-महानगरों के लोगों को मिला है । तमाम विकास परियोजनाओं से आदिवासियों को भूख और विस्थापन के अलावा कुछ नहीं मिला। अकेले झारखंड राज्य में पिछले एक दशक में विभिन्न परियोजनाओं के चलते कम से कम दस लाख लोग विस्थापित हो चुके हैं। इन विस्थापित आदिवासियों में अधिकांश स्त्री-पुरुष आस-पास के शहरों में दिन-दहाड़ी के रूप में काम करते हैं। आदिवासी लड़कियाँ और औरतें लोगों के घरों में काम करती हैं। विस्थापित हुए आदिवासियों को एक तरह आर्थिक-सामाजिक शोषण का सामना करना पड़ रहा है और वहीं दूसरी ओर आदिवासी औरतों को शारीरिक शोषण का शिकार होना पड़ता है। भारत सरकार के नीति आयोग के एक अध्ययन के अनुसार महानगरों में विस्थापित आदिवासी

लड़कियों और औरतों में से अधिकांश को किसी न किसी रूप में शोषण का सामना करना पड़ रहा है। इन्हें न्यूनतम मजदूरी संबंधी कानूनों की कोई जानकारी नहीं होती है और न ही सरकारी ऋण योजनाओं की जानकारी, जिसके फलस्वरूप इनका लगातार आर्थिक शोषण होता रहा है। आदिवासी समाज में परम्परा से विद्यमान खुले और बराबरी पर आधारित स्त्री-पुरुष संबंधों को दिकू समाज के लोग स्वछंद यौनाचार के रूप में देखते आए हैं। इसलिए वे आदिवासी स्त्रियों को उपभोग की वस्तु समझते हैं। तमाम गैर-बराबरियों से भरा दिकू समाज अपनी ही मानसिकता से आदिवासियों को देखता आया है। दरअसल, वैश्वीकरण की प्रक्रिया के चलते आर्थिक प्रक्रियाएँ एक मुनाफा आधारित व्यवस्था के ढांचे का निर्माण कर चुकी हैं। जबकि आदिवासी परम्परा और संस्कृति में मुनाफे की किसी अवधारणा का कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। रचाव-बचाव की प्रक्रिया में रहने वाले आदिवासियों के जीवन को इस मुनाफे की संस्कृति वाली व्यवस्था ने तहस-नहस कर डाला है।

आदिवासी जनसंख्या के आधार पर झारखण्ड और छत्तीसगढ़ जैसे राज्य तो बना दिए गए और पूरी आदिवासी समाज की सत्ता का नेतृत्त्व गैर-आदिवासी ही कर रहा है। इस तरह आदिवासियों को उजाड़कर विकास की महत्त्वपूर्ण परियोजनाओं का लाभ दिकू समाज ले रहा है। जिसकी वजह से आज आदिवासी समाज आर्थिक समस्याओं से निरंतर जूझ रहा है। आज आदिवासी के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे इन विकासवादी सत्ताओं के खिलाफ़ पूरी ताकत के साथ खड़े हों या पूँजीवादी सत्ता से अपने लोकतांत्रिक हकों की माँग कर स्वयं को भी इन परिस्थितियों के अनुसार बदल लें। इस देश में आदिवासी आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक

समस्याओं से जूझ रहे हैं । और आज जब देश का आदिवासी समाज चौतरफा समस्याओं और चुनौतियों से घिरा हुआ है, तो जरुरत है कि इस बारें में गंभीर विचार-विमर्श किया जाए ताकि आदिवासी समाज के लिए सही दिशा विकसित की जा सके । पिछले कुछ वर्षों से नियमगिरि में चल रहे वेदांता विरोधी आंदोलन को सांकेतिक तौर पर देखने की जरुरत है । एक तरफ वेदांता जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनी और दूसरी तरफ आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता का सवाल । वास्तव में आदिवासी ही देश की मुख्यधारा हैं, इस संबंध में डॉ.रामदयाल मुंडा कहते हैं-"आदिवासियों को आज हाशिए की जिन्दगी जीने के लिए विवश होना पड़ रहा है । आज आदिवासियों की दशा किसी से छुपी हुई नहीं है । हम इसके बारें में जानते हैं । पर आदिवासियों की दशा क्या है और क्या होनी चाहिए, इस सवाल पर विस्तारपूर्वक चर्चा करने की आवश्यकता है। आदिवासी चेतना का ही परिणाम है कि आज आदिवासी एंजेंडे में आ रहे हैं, लोग माने या न मानें। लोग कहते हैं कि आदिवासी हाशिए पर हैं लेकिन वास्तव में कालक्रम में आदिवासी ही केंद्र में थे जिनको धीरे-धीरे हमने हाशिए पर धकेल दिया।"[146]

दरअसल, आज के आदिवासी साहित्य में विस्थापन यानी अस्तित्व के संकट पर काफी-कुछ लिखा जा रहा है । देश की आजादी के बाद राष्ट्रीय विकास की कीमत आदिवासियों को अपने जल-जंगल-जमीन देकर चुकानी पड़ रही है । उन्हें औद्योगिक विकास में बाधक मानकर विस्थापित होने को बाध्य किया जा रहा है । औद्योगिक विकास के नाम पर विस्थापित किए जाते इन आदिवासियों की पीड़ा पर

[146] आदिवासी विमर्श, डॉ. रमेश चन्द मीणा, पृ. 5

रमणिका गुप्ता लिखती हैं-"आजादी के बाद देश के विकास का यह कार्यक्रम आदिवासी की कीमत पर हुआ है। विकास की कीमत वह अपने विस्थापन से अदा करता रहा है। उसके खेत खदानों में बदल गए और जंगल लकड़ी की टालों में समा गए या कुर्सियों, मेजों और फर्नीचर में बदल गए। गाछ खूंटे और बल्ले बन गए और बन गई रेल की पटरियां।"[147] वस्तुतः आदिवासियों का संघर्ष जल, जंगल, जमीन का रहा है। आदिवासियों के जीवन केंद्र में प्रकृति है, किन्तु हर युग में विकास के नाम पर इनसे इनके प्राकृतिक संसाधनों को दिकू लोग छीनते रहे हैं। इसलिए भौतिक सुविधाओं का भार आदिवासी समाज पर पड़ रहा है और कभी उनके बहुमूल्य उत्पादों को कोड़ियों के दाम खरीदा जा रहा है और कभी सैनिक ताकत के बल पर उन्हें जंगल से बेदखल किया जा रहा है। जब आदिवासी प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा के लिए विरोध पर उतर आते हैं तो उन्हें अपराधी जनजाति का तमगा पहना दिया जाता है।

3.1.1. 'विकास' के मॉडल के नाम पर विनाश

विकास एक जादुई शब्द है, जो बेदखली, विस्थापन और संघर्ष जैसे प्रचलित शब्दों के संदर्भ में प्रयुक्त होता है। विकास की प्रक्रियाओं का संबंध विचारधाराओं के साथ होता है। अत: जब हम विकास और विनाश का विश्लेषण करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि विकास की सफलता विचारधारा के अनुरूप सफल नीतियों के कारण विनाश की परणिति विचारधाराओं की उपेक्षा के कारण होती है। आदिवासी समाज के प्रभावशाली सामाजिक मूल्यों पर आधारित विचारधारा एक

[147] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 99

लम्बे जीवन काल के रूप में परिभाषित हुई, जो पहाड़ों, पर्वतों, जंगलों और जमीनों के साथ अपने अस्तित्व की स्थापना के क्रम में जीवित रही। आर्थिक क्षेत्र में जंगल और जमीन, पहाड़ और नदी तथा दूसरी प्राकृतिक सम्पदाएँ जो जमीन के ऊपर या नीचे हैं, प्रकृति की देन मानी जाती हैं । जिनका जीवन निर्वाह के लिए उपयोग तो किया जा सकता है, लेकिन इसकी नई औद्योगिकी नीति के द्वारा इनका अत्यधिक दोहन किया जाता रहा है जिससे प्राकृतिक असंतुलन का खतरा दिखाई देने लगा है। आदिवासी समाज की यह मान्यता है कि आधुनिकता/आधुनिकीकरण को सिर्फ आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि प्रकृति के संतुलित दृष्टिकोण के आधार पर देखने की जरुरत है । तभी हम पर्यावरणीय असंतुलन , वायुमंडल प्रदूषण एवं ग्लोबल वार्मिंग जैसी खतरनाक समस्या से मुक्त हो सकते हैं और तभी हम अपने अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं । इस संदर्भ में-"विकास बनाम विनाश की सम्भावना को कम करने के लिए कुछ ठोस विकल्प की तलाश निम्न बिन्दुओं के आधार पर तय की गई हैं जो इस प्रकार से हैं:-

- सिर्फ आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा आधुनिकता का मानक न बने बल्कि उसमें मानवीय मूल्यों का समावेश हो ।
- परम्परावादी आदिवासी समाज की विशिष्ट प्रतिभा की खोज करके उनके विकास को समुचित अवसर दिया जाए ।
- आदिवासी संस्कृति, सभ्यता और जीवन-शैली की उपेक्षा न हो । उन्हें अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुरूप विकास की मुख्यधारा में शामिल होने दिया जाए ।

- नई अर्थव्यवस्था के अंतर्गत पारम्परिक अर्थव्यवस्था के साथ समन्वय की दिशा तलाशी जाय, जिसमें आदिवासी अर्थतंत्र पर आदिवासियों का मालिकाना हक़ बरकरार रहें।
- ग्रामीण जनजीवन और उनके आर्थिक संसाधनों पर आधारित विकास की नीतियाँ बने, जिसमें निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी हो।
- आदिवासी समाज की संरचना को सुरक्षित रखते हुए उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रिया में सहभागी बनाया जाए।"[148]

वर्तमान समय में भारत सरकार विभिन्न योजना, परियोजनाओं के द्वारा आदिवासियों, दलितों, पिछड़ों के विकास का दंभ भर रही है। लेकिन क्या वास्तव में इस समाज का विकास हो रहा है ? क्या इन योजनाओं की रणनीति और क्रियान्वयन में पिछड़े समाजों का प्रतिनिधित्व है ? उत्तर है नहीं, आज के दौर में 'नक्सलवादी' आंदोलन ने आदिवासी समाज और जल, जंगल, जमीन की समस्याओं की तरफ भारत सरकार का विशेष ध्यान आकर्षित किया है और समस्याओं के समाधान के लिए विकास की आवश्यकता को महसूस कराया है। विकास के नाम पर आदिवासी बहुल क्षेत्रों में औद्योगीकरण, परियोजनाओं, खनन कार्यों और पुलिस-फ़ोर्स की बाढ़ आ गयी। सरकार और मीडिया के माध्यम से लोग समझ रहे हैं कि आदिवासियों का विकास किया जा रहा है लेकिन सच यह है कि वहाँ विकास के नाम पर विस्थापन अधिक हो रहा है। 'आज विकास के बदले विस्थापन अनिवार्य माना जा रहा है।' इसलिए विकास के नाम पर विनाश बाहरी शक्तियों के द्वारा किया जा रहा है।

[148] आदिवासी विकास से विस्थापन, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 51

विकास से विस्थापन पर रमणिका गुप्ता का मानना है कि आदिवासियों का जंगल, जमीन पर अधिकार तो दूर उनके जंगल प्रवेश तक पर रोक है। कारखानों का विकास हो या बड़े-बड़े बाँधों का, इनके चलते वहाँ के स्थायी निवासी खासकर आदिवासी ही विस्थापित हुए हैं।

हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले प्रमुख कवियों में हैं- महादेव टोप्पो, हरिराम मीणा, रामदयाल मुंडा, ग्रेस कुजूर, निर्मला पुतुल, रणेन्द्र, अनुज लुगुन, विनोद कुमार शुक्ल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, एकांत श्रीवास्तव आदि। इन कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी अस्मिता को पहचानने की बात कही है। आदिवासी कविता के खिलाफ हो रहे सारे षड्यंत्र को समकालीन कविता अपना विषय ही नहीं बनाती बल्कि उनके खिलाफ एक प्रतिरोध की जमीन तैयार करने का काम करती है-

'ओ रे/मानवता के आदिम नुमाइंदों,
तुम जंगली ढ़ोर, गँवार हो
एक सलाह है तुम्हें सभ्य बनाने की
रोपना होगा, मुख्यधारा की उर्वरा भूमि पर।.."[149]

वर्तमान में आदिवासियों में अस्तित्व संकट के साथ पहचान की समस्या भी लगातार गहराती जा रही है। लोग उन्हें सामान्य मनुष्य के तौर पर नहीं बल्कि जंगली, वनवासी, असभ्य और संविधान में आरक्षित मनुष्य के रूप में परिभाषित करते हैं। आदिवासी समाज के विस्थापन के दंश को महादेव टोप्पो की कविता **'वे और हम'** अभिव्यक्त करती है-

[149] सुबह के इंतजार में , हरिराम मीणा, पृ. 41-42

'पीपल को उन्होंने चुना /ले गए हमारे पहाड़ों से
उसे किया महिमामंडित उसे पूजा
आती हैं लेकर ट्रक /हमारे पेड़ों का खरीददार बन
पूजते हैं जिसे हम /उसे वे बेहतर इमारती लकड़ी बताते हैं
राष्ट्र की विकास प्रक्रिया में /जंगल के लोग

पहाड़ के लोग /उजड़ रहे हैं।"[150]

आदिवासी कवि रामदयाल मुंडा अपनी कविता **'विकास का दर्द'** में विकास के नाम पर होने वाले आदिवासियों के दर्द को अपने शब्दों के माध्यम से कविता में यों व्यक्त किया है और इस कविता के माध्यम से कवि ने विकास की प्रक्रिया में होने वाले विस्थापन को विनाश का मुख्य कारण माना है-

'बन गया हूँ गीदड़
रहा दौड़ शहर की ओर
मरने के पहले या कि एक पेड़
विशाल शाल का,गिरा जा रहा चीरा
बीच मशीन आरा

देश के लिए,कहते हैं विकास के लिए..।"[151]

यह कविता आदिवासी विकास को ही नहीं बल्कि बदलते आदिवासी स्वर को भी प्रमुखता से व्यक्त करती है। विकास के नाम पर होने वाला विकास प्रकृति को विनाश की ओर धकेल रहा है। ऐसे में आदिवासी समुदाय के सामने विस्थापन एक विकट समस्या है। इसी संदर्भ में महादेव टोप्पो विकास के नाम पर होने विनाश को सबसे बड़ा खतरा बताते हुए अपनी कविता **'सबसे बड़ा खतरा'** में लिखते हैं-

'अपने ही घरों में/अपने ही/जंगलों पहाड़ों के साम्राज्य में

[150] जंगल पहाड़ के पाठ(कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 62
[151] आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, रमणिका गुप्ता, पृ.42

शेर थे कभी हम/अब मेमने हुए जा रहे हैं

शेर से मेमने होने की प्रक्रिया में

सिर्फ अपने खेत खलिहान मकान /ही नहीं खोये हैं हमने

खोयी है सैकड़ों वर्षों से अर्जित-

पुरखों के गाढ़े पसीने की कमाई

अपनी भाषा संस्कृति और इतिहास ..।"[152]

आदिवासी कवि अपनी कविताओं के माध्यम से अपनी समस्याओं को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। बाजारवाद एवं भूमंडलीकरण के फलस्वरूप आदिवासियों को उनके जल, जंगल एवं जमीन से बेदखल कर दिया गया अत: विकास के नाम पर उनके जीवन में विस्थापन एक समस्या बन गई। आदिवासी कवि हरिराम मीणा की कविता में विस्थापन का दर्द इस तरह अभिव्यक्त हुआ हैं -

'देखो तुम देख रहे हो कि वो आ रहे हैं।
तुम्हारी नसें तन रही हैं/तुम्हारी भुजाएं फड़क रही हैं
तुम्हारे तीर-कमान तने हैं

तुम एकजुट हो मगर तुम कुछ नहीं कर रहे ?

देखो आखिर तुम्हें खदेड़ ही दिया न

तुम्हारी जमीन से तुम्हें नेस्तानाबूद करने के लिए

पर फिर भी तुम चुप हो?/क्यों?/आखिर क्यों?'[153]

दरअसल, आज विकासशील देशों में सभ्य बनने की होड़ में आदिवासी समुदाय पीछे रह गया है । इन कविताओं में आदिवासी विकास का पैमाना आदर्शवादी

[152] आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, रमणिका गुप्ता, पृ. 50

[153] अरावली उद्घोष, जनक सिंह मीणा, (सं.), अंक-101, जनवरी, 2014, पृष्ठ सं.-36

मॉडल के रूप में प्रस्तुत करके दिखाने का प्रयास किया गया है। यदि यह विस्तार है तो आदिवासी जीवन दर्शन कहाँ तक सीमित हो जायेगा । आदिवासी अस्मिता के संकट से रूबरू करवाती आदिवासी कवयित्री जसिंता केरकेट्टा अपनी कविता **'टूटते पहाड़ और टूटती जिंदगियां'** में प्रतिरोध के स्वर को अभिव्यक्ति देती हैं। इस कविता के माध्यम से कवयित्री बताना चाहती हैं कि आदिवासी इलाकों में विदेशी कंपनियों के द्वारा जमीन को लीज पर देकर उन पर कल-कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं, ऐसे में आदिवासी समुदाय अपनी जमीन से विस्थापित होकर गरीबी में सराबोर जीवन जीने को अभिशप्त हो गये है । इस संदर्भ में एक प्रतिरोध का स्वर इनकी कविताओं में देखने को मिलता है। जसिंता केरकेट्टा अस्तित्व के संकट के मुद्दे को भी प्रमुखता के साथ उठा रही है । हमारा श्रमजीवी समाज इन विदेशी भूचालों से घिरकर अपने श्रम से धीरे-धीरे छूट रहा है -

'पहाड़ के पहाड़ लिए जाते हैं
यहां लीज पर/लीज मिले पहाड़ों के सीने पर
होता है हर रोज विस्फोट
एक पहाड़ अब बन जाता है कोई खंडहर
उन खंडहरों में एक उम्र गुजारती हैं
परित्यक्त, विधवा, एकल, गरीब महिलाएं...
खंडहर के अन्दर रिसते पानी को पीते हुए
किसी कालेपानी की सजा सी, धीमी मौत मरने की..।"[154]

आजादी के बाद आदिवासियों के सामने विकास के बहाने विस्थापन की समस्या कम होने की बजाय बढ़ती जा रही है । औद्योगीकरण, बाजारीकरण और वैश्वीकरण

[154] युद्धरत आम आदमी पत्रिका, रमणिका गुप्ता, (सं.), अंक-16, जनवरी, 2015, पृष्ठ-50

जैसी अवधारणाओं ने तो आदिवासी समुदाय के सामने विकास के बजाय विस्थापन की समस्या सबसे अधिक पैदा की है। अस्सी प्रतिशत से भी अधिक प्राकृतिक संसाधन आदिवासी क्षेत्रों में होने के कारण वहाँ पर कारखानों, उद्योगों की स्थापना की गयी लेकिन, औद्योगिक ईकाई के चलते जंगल, जमीन को उजाड़ना प्रारम्भ कर दिया गया।

3.1.2. घुसपैठ की समस्या

वर्तमान दौर में एक बहुत बड़ी विडम्बना है कि आज आदिवासी समाज कई समस्याओं से घिरा हुआ है । हजारों वर्षों से जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले आदिवासियों को हमेशा से दबाया और कुचला गया है जिससे उनकी जिन्दगी अभावग्रस्त रही है। केंद्र सरकार आदिवासियों के नाम पर हर साल हजारों करोड़ों रूपये का प्रावधान बजट में करती है। लेकिन इसके बावजूद उनकी आर्थिक स्थिति और जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है। चूँकि जल, जंगल, जमीन की लड़ाई लड़ने वाले आदिवासियों को अपनी जमीन से बहुत लगाव होता है। उनकी जमीन बहुत उपजाऊ होती है। जनसंख्या वृद्धि के कारण भूमि की माँग में वृद्धि हुई है। इसलिए बाहरी लोगों ने आदिवासी क्षेत्रों में घुसपैठ किया है, जिससे भूमि-अधिग्रहण काफी हुआ है। मगर इन सबके बावजूद, तमाम सरकारी परियोजनाओं के बावजूद आदिवासी समुदाय व्यापक असुरक्षा की भावना के साथ जी रहा है । समाजगत समस्या भी इनके लिए जिम्मेदार है। उन्हें अपने पारम्परिक आजीविका के स्रोतों से बेदखल होने का डर है। साथ ही अपनी जमीन और परिवेश से उजाड़े जाने का खतरा है। बाहरी घुसपैठ के कारण आज वनों की संख्या में काफी ह्रास हुआ है।

खनन कम्पनियों के द्वारा उन्हें विस्थापित किया जा रहा है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता घुसपैठों के परिणाम पर चिंतन के साथ तर्कपूर्ण अपनी बात कहती हैं-"आजादी के बाद तो जैसे एक होड़-सी मच गई थी इन क्षेत्रों में पाए जाने वाले अकूत जंगलों को हड़पने की। इनकी सुन्दर स्त्रियों को खरीदने की या इनकी जरखेज जमीन पर जाकर येन-केन-प्रकारेण कब्ज़ा करने की, चाहे इनकी बेटियों से विवाह ही क्यों न करना पड़े। भारतीय कानून के अनुसार पूर्वोत्तर में भारत के अन्य हिस्सों के लोग जमीन नहीं खरीद सकते थे, इसलिए भारतीय व्यापारी अन्य दबंग लोग वहाँ बसने की इजाज़त लेने हेतु सच्ची-झूठी शादियाँ रचाने लगे। ये लूट केवल भारत के मैदानी क्षेत्रों के लोगों ने ही नहीं मचाई, इस लूट में सीमा से लगे बांग्लादेशी भी शामिल हो गए। इसका एक और भयंकर परिणाम निकला इस बाहरी घुसपैठ का।"[155] इसलिए पूर्वोत्तर के कवियों ने अपनी सभी अनुभूतियों, संघर्षों, परम्पराओं, हीन-भावनाओं या आत्म-सम्मान को कविता में बाँधा है। घुसपैठ या अपने घर में परदेशी हो जाने के एहसास की पीड़ा, अपनी भाषा, संस्कृति व मूल्यों के प्रति सम्मान या उदासीनता को अपनी कविताओं में उकेरा है।

इस संदर्भ में वासवी ने आदिवासी समाज में घुसपैठ जैसी समस्या को प्रमुखता के साथ उठाया है-"भारत में पाँव पसारने के बाद अंग्रेजों ने आदिवासी इलाकों में घुसपैठ किया तो आदिवासी इलाका आंदोलित हो उठा। पहाड़, जंगल, नदी, गाँव में बसा जीवन जब बाहरी लोगों के हस्तक्षेप से अशांत होने लगा तब विद्रोहों की

[155] आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 67

शुरुआत हुई । इतिहास साक्षी है आदिवासी क्षेत्रों में अंग्रेजों और बाहरी लोगों के खिलाफ़ आदिवासियों ने हथियार उठाये और झुकने को विवश किया ।"[156]

निर्मला पुतुल की कविता में बाहरी घुसपैठिये से आदिवासी समाज को सावधान रहने की चेतावनी दी है । यहाँ कवयित्री ने आदिवासी समाज में आए हुए बाहरी **घुसपैठ** को प्रमुख समस्या के रूप में देखने की कोशिश की है और उन्होंने अपनी कविताओं में आदिवासी समाज की मूल संस्कृति और भाषा को बचाए रखने की बात कही है। निर्मला पुतुल बाहरी लोगों के प्रति आदिवासी समाज को सचेत करती हैं-

'ये वे लोग हैं
जो हमारे ही नाम पर लेकर गटक जाते हैं
हमारे ही हिस्से का समुद्र ।"[157]

एक तरफ बाहरी लोगो की घुसपैठ से अपने ही घर में आदिवासी परायापन महसूस कर रहा है , तो दूसरी ओर सरकार की विदेशी नीतियों के कारण उनके जंगल कट रहे हैं। विकास की सरकारी नीतियों के कारण आदिवासी विस्थापित होकर पलायन कर रहे हैं । जिससे उनकी संस्कृति, पहचान, मूल्यबोध, भाषा व जीवन-शैली यानी अस्तित्व का विनाश निश्चित है। रामदयाल मुंडा इस विनाश की भविष्यवाणी पर संकेत करते हुए अपनी बात कहते हैं-

'मुझे विकास का ये असह्य दर्द देर तक सहना न होगा
समय से पहले ही मेरा काम तमाम होगा ।"[158]

[156] क्रांतिकारी आदिवासी, संपा. केदार प्रसाद मीणा, पृ. 119
[157] आदिवासी साहित्य विमर्श, संपा. गंगासहाय मीणा, पृ.142
[158] आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगासहाय मीणा, पृ.142

आदिवासी अपने विस्थापन के षड्यंत्र को समझ रहा है और अपने समाज को आगाह करता है। हरिराम मीणा का संवाद अंडमान निकोबार तक के आदिम मनुष्यों से होता है। वे उनकी ख़त्म होती नस्लों पर चिंतित हैं, जमीनों से उनकी बेदखली पर वे कह उठते हैं-

'जिन्होंने हमें गोलियों से भूना /वे इंसान थे
जिन्होंने हमें टापुओं से इधर-उधर खदेड़ा
वे इंसान हैं/और जो हमारी नस्ल को उजाड़ेगें
वो इंसान होंगे.. ।"[159]

घुसपैठ के कारण अपनी संस्कृति को हेय मानने की प्रवृत्ति या अपने मूल्यों के प्रति विमुखता के विरुद्ध पूर्वोत्तर के कवि का मन बैचेन हो उठा है। वह अपनी संस्कृति पर आघात करने वालों को कभी अपने व्यंग्य बाणों से भेदने लगा है, तो कभी शोकगीत रचकर चेताने लगा है। मेघालय के पॉल लिंगदोह की कविता **'बिकाऊ है'** अपनों को कोसती है, जब वे स्वयं अपनी संस्कृति को, खुद ही दूसरों के हाथों बेचने को उद्धत दिखते हैं। वे शर्म से लज्जित होकर कह उठते हैं-

'बिकाऊ है /अपनी समूची संपदा से लदी-फंदी धरती के साथ
यह आत्मविस्मृत, खंडित देश,
बिकाऊ है हमारी बोझिल, पुरातन कबीलाई जड़े
जिन्होंने हमारी तरक्की के चक्कों को जकड़ रखा है...
बिकाऊ है हमारा स्वाभिमान,
हमारी मान्यताएं, हमारी सामूहिक चेतना..।"[160]

[159] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. 203
[160] आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 68-69

निरंजन चकमा त्रस्त हैं घुसपैठियों से इसलिए वे अपनी कविताओं के माध्यम से अपनी जमीन से बेदखल हुए आदिवासियों के विस्थापन के दुःख-दर्द को व्यक्त कर रहे हैं-

'क्योंकि कर दिया हैं उन्हें बेदखल

अपनी मातृभूमि से घुसपैठियों ने।"[161]

हरिराम मीणा बताते हैं कि आदिवासी इलाकों में बाहरी तत्वों की घुसपैठ सबसे बड़ी समस्या रही है। क्योंकि बाहरी लोगों के हस्तक्षेप से आदिवासी जीवन पर संकट पैदा हो गया है। इस सन्दर्भ में ग्रेस कुजूर ने अपनी कविता **'एक और जनी शिकार'** में आदिवासी जीवन के अस्तित्व पर आने वाले संकट के बारे में कहती हैं-

'हे संगी क्यों घूमते हो

झुलाते हुए खाली गुलेल

क्या तुम्हें अपनी धरती की

सेंधमारी सुनाई नहीं दे रही।"[162]

पूर्वोत्तर की आदिवासी कविताओं में चिंता, खुशी, उल्लास, बदलाव की चाहत, वैयक्तिक नहीं है, उसका एक सामाजिक-सामूहिक संदर्भ है। आदिवासी अपने आदिम मूल्यबोध के साथ आधुनिक परिवेश में बराबरी चाहता है। वह परिवर्तन चाहता है, पर सामूहिकता को कायम रखते हुए। इसलिए आदिवासी समाज व्यक्ति की बात नहीं समाज के सामूहिकता की बात करता है।

[161] आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 71

[162] समकालीन आदिवासी कविता, संपा.हरिराम मीणा, पृ. 10

3.1.3. मिथक व इतिहास

भारतीय मिथक एवं इतिहास के संदर्भ में बात करते हुए आदिवासी चिंतक हरिराम मीणा लिखते हैं-"भारतीय मिथक और इतिहास परम्परा में बहुत सारे ऐसे संदर्भ है जिनका जिक्र परम्परागत वर्चस्वकारी वर्ग अपने पक्ष में करता रहा है, यह साबित करने के लिए कि भारतीय समाज एवं संस्कृति में शांति, सद्भाव, वसुधैव कुटुम्बकम्, नारी का सम्मान आदि को उच्च स्थान दिया जाता रहा है। जितने भी युद्ध होते रहे हैं उनको अंततः धर्म युद्ध सिद्ध करने के प्रयास किए गये चाहे वे कितने भी हिंसक व नरसंहारी रहे हों, जबकि राम-रावण व महाभारत युद्ध की जड़ में भद्र वर्ग के किसी बड़े पात्र से संबंधित कोई व्यक्तिगत कारण रहा था। राम-रावण संग्राम में रावण के द्वारा सीता हरण के कृत्य को पृथक से देखा जाना चाहिए और समस्त शत्रु पक्ष के विनाश के अभियान से अलग से, जो सुरासुर आर्य-अनार्य संग्राम शृंखला को एक प्रकार से आगे बढ़ाता है।"[163] हाशिए के समाज से संबंधित जिन संदर्भो की बात हो रही है, उसे हम इतिहास और मिथक के संदर्भ में हरिराम मीणा के शब्दों में ही देख सकते हैं -"मिथक और इतिहास में देखा जाए तो स्त्री, शूद्र, राक्षस आदि एवं कृषक-शिल्पी आदि मानव समुदाय सामने आते हैं। सतयुग में इंद्रलोक की अप्सराओं, शकुंतला, गार्गी व माधवी जैसे नारी पात्र हमारे सामने हैं जिन्होंने पुरुष वर्चस्व के कारण उत्पीड़न सहा। त्रेतायुग में सीता और द्वापर युग में द्रोपदी जैसे चरित्र मिलते हैं जिन्होंने अपने पक्ष की लड़ाई लड़ी। यह स्त्री का परम्परागत प्रतिरोध था। यह प्रतिरोध आज नारी मुक्ति आंदोलन के रूप में हमारे सामने है। दलित-

[163] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. 6

आदिवासी लोक के अन्य घटकों से संबंधित उदाहरणों में त्रेतायुग के उन सारे आदिवासी समुदायों को लिया जा सकता है जो राम के पक्ष में लंका की लड़ाई लड़े।"[164] इस तरह से कई उदाहरण हमारे सामने आदिवासी इतिहास के तथ्यों को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हुए हैं।

इतिहास की बलिदानी चेतना की गाथाओं में सभी आदिवासी नायकों को जगह नहीं दी गयी । इसमें आप इतिहासकारों का पूर्वाग्रह कह लीजिये या उनका एकांगी दृष्टिकोण। अंग्रेजों से लोहा लेने और कई इलाकों में तो उन्हें घुटने टेकने के लिए मजबूर करने में सशस्त्र स्त्रियों के दल ने भूमिका निभाई। इस मायने में भारत के मध्य क्षेत्र में आदिवासी इलाकों में हुए ऐतिहासिक संघर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में हुए विद्रोहों में तीर-धनुष और पम्परागत हथियारों से जूझने वाली स्त्री-योद्धाओं को एकदम से विस्मृत किया जाता है। इसी संदर्भ में वासवी आदिवासी इतिहास पर दृष्टि डालते हुए लिखते हैं-"आधुनिक भारत में विकास के नाम पर आदिवासी समाज पर उपनिवेशवादी हमले हो रहे हैं तब औरतें संघर्ष के लिए अँगड़ाई ले चुकी हैं। समय बदला है तो इतना ही कि अंग्रेजों ने आदिवासियों की भूमि-व्यवस्था, सामूहिक जीवन, सांस्कृतिक विशिष्टता और उनके गीत-नृत्य भरे जीवन को तहस-नहस कर डाला था और अब उन्हीं के बताये रास्ते पर आजाद भारत के स्वछंद लोग आदिवासियों की जमीन पर खुला कब्ज़ा कर जंगल संस्कृति को प्रदूषित करने का अभियान चला रहे हैं। इतिहासकारों के मुताबिक छोटे-बड़े जितने आदिवासी विद्रोह हुए उसकी जड़ में बाहरी लोगों का सांस्कृतिक जीवन पर

[164] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. 5

धावा और आदिवासी औरतों से जबरदस्ती बदसलूकी करना भी रहा है । धरती आबा ने जो उलगुलान किया उसमें भूमि लूट और संस्कृति बचाने का आह्वान है । तब बिरसा ने जो एक सौ से अधिक बैठकें की थीं उसमें बोलते हुए कहा था कि'हमारी जमीन(हमारा राज) तो वैसे ही चली जा रही है जैसे आँधी-तूफान में उड़कर चला जाता है।"[165]

इस संदर्भ में आदिवासी इतिहासकार इतिहास-बोध की परम्परा का उल्लेख करते हैं कि राजस्थान में आदिवासी लेखकों ने गुरु गोविन्द के विद्रोह और कालीबाई के बलिदान को भी खोज निकाला है । रमेश चन्द्र बडेरा और खेमराज पारगी ने राजस्थान के उन जनगीतों के माध्यम से गोविन्द गुरु और कालीबाई के इतिहास को खोजा है। हरिराम मीणा ने भी अपने लेखों में इस पर शोध किया है और आज यह तथ्य सामने आया है कि मानगढ़ में जलियांवाला बाग़ से भी बड़ा कांड घट चुका था, जहाँ अंग्रेजों ने राजस्थान और गुजरात के रजवाड़ों को साथ लेकर एक रात में पन्द्रह सौ आदिवासियों को मानगढ़ की पहाड़ियों पर गोलियों से भून डाला था पर इसे इतिहास में दर्ज नहीं किया गया था । शिक्षा के समर्थक गोविन्द गुरु ने लड़के-लड़कियों के लिए स्कूल खुलवाने और सरकार को लगान न देने तथा सूदखोरों को सूद न देने की मुहिम चलाई, जो आदिवासी लोकगीतों और लोककथाओं में व्याप्त है और आज उन्हें उकेर रही है उनकी कलम, पत्थरों में उकेर रही है उनकी छेनी । गोविन्द गुरु का निम्नलिखित गीत आजादी की भविष्यवाणी साबित हुआ है, जो दक्षिण राजस्थान के चप्पे-चप्पे में गूंजता है-

[165] क्रांतिकारी आदिवासी, संपा.केदार प्रसाद मीणा, पृ.120

'भूरेतिया न मानू रे न मानू रे
दिल्ली में म्हारी कलम है
अहमदाबाद म्हारी जाजम है

जान्बू में म्हारी फौजें हैं /मानगढ़ में म्हारी धूणी है

पंचराज थापूदुई /तो कई गया

गोविन्द गुरु है /भूरेतिया न मानू रे मानू रे..।"[166]

इतिहास-बोध की परम्परा में कवि ज्ञानेद्रपति के 'भिनसार' काव्य-संग्रह में इतिहास के अनछुए पहलुओं का चित्रण बारीकी से किया गया है। आदिवासी को इतिहास में हाशिये पर ही जगह मिली है-

'तुम्हारे पढ़ाये इतिहास के अलावा
तुम्हारे बताये भाष्य के अलावा
मैंने एक शब्द-एक अक्षर नहीं पढ़ा कभी

तुमने मुझे एकलव्य की महानता बतायी

और मैं एकलव्य बनने को सदा प्रस्तुत था

तुमने मुझे विन्ध्याचल की कथा सुनाई

और मेरे अगस्त्य ! मेरा सर /सदा तुम्हारे सामने झुका था।"[167]

इतिहास में आदिवासी पहचान की भूमिका को स्पष्ट करते हुए आदिवासी कवि महादेव टोप्पो ने अपनी कविता 'रचने होंगे ग्रंथ' में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति का मानदंड दिया है। आदिवासियों के उज्जवल इतिहास और उनकी प्राचीनतम समृद्ध संस्कृति को उजागर करने हेतु आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी प्रतिभा का भरपूर उपयोग किया है। उनकी संस्कृति को इतिहास के द्वारा किस तरह से बेदखल करने

[166] आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगासहाय मीणा, (संपा.), पृ. 42
[167] भिनसार , ज्ञानेंद्रपति, पृ. 158

का प्रयास किया गया है । उनके इतिहास को महादेव टोप्पो ने अपनी कविता के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है –

'इतिहास तुम्हारा , इतिहास के पन्नों पर
गढ़ा नहीं शब्दों ने , ना ही हो सका दर्ज ग्रंथों में ।
तुम्हारी विजय-गाथाओं ,और संघर्षों के गवाह
पेड़ हैं, नदियाँ हैं, चट्टानें हैं ।
इससे पहले कि वे पुन: तुम्हारा अपने ग्रंथों में
अन्य जानवर के रूप में करें वर्णन
तुम्हें अपने आदमी होने की
तलाशनी होगी परिभाषा

और रचने होंगे स्वयं अपने ग्रन्थ ।"[168]

आदिवासी इतिहास में अन्याय से टकराने वाले बिरसा को पुन: आने का निमंत्रण तथा क्रांति में विद्रोह के जन्मदाताओं से प्रेरणा लेने का संदेश देते हुई निर्मला पुतुल कहती हैं, आज भी तुम जैसे योद्धाओं की जरुरत है-

'एक पहाड़िया विद्रोह का भस्म उठा लाओ
बिरसा मुंडा-टंट्या की धधकती अस्थियों से

तान लो जरा प्रत्यंचा पर विद्रोह

करो महाजुटान महाक्रान्ति का अपनी कमान पर ।"[169]

इस संदर्भ में भुजंग मेश्राम की कविता **'ओ मेरे बिरसा' में** बिरसा के संघर्ष की यशोगाथा का जीवंत चित्रण किया गया है । बिरसा के द्वारा लड़ी गई लड़ाई को कवि ने अपनी कविता के माध्यम से बताने की कोशिश की है-

'तब तुमने ही तो किया था संघर्ष /गोरों को खदेड़ने की खातिर

[168] अरावली उद्घोष , जनकसिंह मीणा, (संपा.), अंक-100, पृ. 72
[169] अरावली उद्घोष पत्रिका, संपा. डॉ.जनक सिंह मीणा, पृ. 37

सिंहभूम, मंडला, वसई /चंद्रपुर को करने को आजाद

बचाने के लिए हरे-भरे जंगल /आज न गोरे हैं

न सपनों की आजादी /आज ना घने बीहड़ हैं

हैं केवल बीहड़ों में फैला असंतोष

होठों पर तेरा नन्हा सा गीत

उलगुलान! उलगुलान! उलगुलान!"[170]

अर्थात् आदिवासी कविताओं में इतिहास के अनछुए पहलुओं पर बेबाक राय कवियों ने रखी है। और वे इतिहास से निर्मित्त मिथकीय पक्ष और इतिहास संबंधी सूत्रों की खोज भी करते हैं। उनकी कविताओं में इतिहास संबंधी सैध्दांतिक तथ्यों को महत्त्वपूर्ण माना है।

3.1.4. सांस्कृतिक अस्तित्व

'संस्कृति' का अर्थ सामान्य तौर पर सिखाया जाने वाला मानवीय व्यवहार होता है। मनुष्य ने इसी प्रक्रिया से अपना समाज, इतिहास और सब कुछ बनाया है। भारत में तमाम संस्कृतियों के मुकाबले आदिवासी संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान है। आदिवासी संस्कृति के पृष्ठों में मनुष्य के उत्थान पतन की कहानियाँ छिपी हुई हैं। आदिवासी समुदाय के जन्मजात गुणधर्मों में सरलता, सहजता, सामुदायिकता, बंधुता, सामूहिकता, समानता व प्रकृति से घनिष्ठता की भावना विद्यमान है। आदिवासियों का दृष्टिकोण उपयोगतावादी तथा विचारधारा 'जियो और जीने दो' की पक्षपाती रही है। मुख्यधारा से जंगलों में निवास करने वाली आदिम जनजातियाँ

[170] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 110

आज भी सांस्कृतिक विलक्षणताओं के साथ जीवनयापन कर रही है । राजेन्द्र अवस्थी ने 'जंगल के फूल' उपन्यास द्वारा मुख्यधारा के द्वार पर दस्तक दी । इसके बाद मनमोहन पाठक के उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में उराँव तथा श्री प्रकाश के उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते है' में मिजो जनजाति की संस्कृति को दिखाने का प्रयास किया गया है । दूसरे शब्दों में कहें कि "आदिवासी समाज में प्रकृति पूजा, मेला, उत्सव, हाट-बाज़ार के साथ सामूहिक रीति-रिवाजों का ईजाद आदिवासी संस्कृति से ही संभव हो पाया है । आदिवासी परम्परा में पूर्वज पूजा और जन्म देने वाली देवियों और देवताओं की पूजा का उदाहरण देखने को मिलता है । महाश्वेता देवी ने तो काली, दुर्गा , कृष्ण और गणेश को आदिवासियों का हिस्सा बताया है। आदिवासियों में शिव की पत्नी के रूप में उर्वर देवी और अनेक जंगल देवताओं की पूजा का प्रचलन रहा है जिसे भारतीय समाज में सर्वत्र देखा जा सकता है । कहने के लिए ये सब कुछ उदाहरण हैं मगर, देखने पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति के हरेक क्षेत्र में आदिवासी संस्कृति की छाप को स्पष्टत: देखा जा सकता है ।"[171] लम्बी संस्कृति की परम्परा कोई भी हो उसमें कुरीतियाँ, कुप्रथाएँ, अंधविश्वास पनपते हैं । आदिवासी समाज भी इनसे मुक्त नहीं है। इन बुराईयों के चलते समय-समय पर समाज में कई आंदोलन हुए । इसके निष्कर्ष में 'आदिवासी संस्कृति का सार क्या है, इस पर हरिराम मीणा ने संस्कृति की विशिष्टताओं को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से इंगित किया है जो इस प्रकार हैं-

- आदिम मूल्यों का संरक्षण आदिवासी संस्कृति का मुख्य ध्येय है ।

[171] आदिवासी विमर्श, डॉ. रमेश चन्द मीणा, पृ.37

- सामूहिकता आदिवासी संस्कृति का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण गुण है।
- आदिवासी संस्कृति में जहाँ सामुदायिक सहयोग एक मुख्य तत्त्व के रूप में दिखता है।
- आदिवासी संस्कृति का गहरा संबंध जीवन से होता है। भद्रजन की संस्कृति फैशन व दिखावे के रूप में प्रस्तुत होती है।
- आदिवासी संस्कृति प्रकृति से निकटता से जुड़ी रहती है।
- आदिवासी संस्कृति का गहरा जुड़ाव श्रम से है। उदाहरण के लिए, फसलों की बुआई-निराई-कटाई से संबंधित नृत्य-गीत सहज रूप में रचित-सृजित होते हैं।
- आदिवासी सांस्कृतिक संसार में प्रकृति-प्रेम, आदिम सौन्दर्य-बोध, नृत्य-गीत, उत्सव-पर्व-मेले, धार्मिक आस्थाएँ, सामाजिक संस्कार आदि मूल्य-व्यवस्था से गहरा संबंध रखने वाली क्रियाशील प्रयोजनधर्मी सहज एवं आत्मीय अभिव्यक्तियाँ हैं।"[172]

भूमंडलीकरण के दौर में बाजारवादी शक्तियों के कारण आदिवासी संस्कृति पूंजीवाद का शिकार हो गई है , आज पूरी दुनिया बाजारवाद के युग में स्वदेशी संस्कृति को त्यागकर विदेशी संस्कृति का अनुसरण कर रही है । इसके चलते आज हमारी आदिवासी संस्कृति और भाषा पर अस्तित्व का संकट मंडरा रहा है। इसी चिंता को ध्यान में रखकर ग्रेस कुजूर अपनी कविताओं में आदिवासी संस्कृति के लुप्त हो जाने की चिंता व्यक्त करते हुए कहती हैं-

[172] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. 104-105

‘अब कहां है वह अखरा ?

किसने उगाए वहां नागफनी
बार-बार उलझता है
जहां तुम्हारी तोलोंग का कूदना?

क्यों उदास हैं आज पत्वा के उजले पंख।“[173]

इस तरह आदिवासी समुदाय की पहचान व संस्कृति विकास के इस दौर में विलुप्त होने के कगार पर पहुँच चुकी है, ऐसे में यह चिंताजनक बात हो जाती है। आदिवासी कविता आर्य व आदिम संस्कृति के संघर्ष की पहचान है । आदिवासी द्वारा अपने मूल आर्थिक हितों के साथ-साथ अपनी संस्कृति अर्थात् धार्मिक प्रतीकों व मिथकों को भी बचाने का प्रयास आदिवासी कविता में किया गया है जिसे हम जड़ों की तलाश कह सकते हैं –

‘हम चाहते हैं कुशलता अपनी
अपने परिवार की
अपनी जमीन की

हम चाहते हैं मिलकर जीना-

एक कर दो हमें और हमारे कबीलों को ।”[174]

इन आदिवासियों की मौलिक संस्कृति की विशिष्टताओं का हिन्दू संगठनों से प्रभावित होना दूसरा कारण है, जिनमें आरएसएस के विद्यालय एवं उसकी विभिन्न शाखाएं व हिन्दू संगठन द्वारा वनवासी परिषद की स्थापना आदि है । बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित होती आदिवासी संस्कृति को लेकर कवि लिखता है-

‘लाया था वह हमारे लिए चिट्ठियां

[173] युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, (सं.), उद्धृत आलेख, अंक-22, जुलाई-2015, पृष्ठ सं-48
[174] युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, (सं.), अंक-22, जुलाई-2015, पृष्ठ सं-48

साहित्य और बाइबिल
वह था वेल्श का निवासी तामी लाय द्वेष

और हमारी हरित भूमि पर छिड़क दिए

हमारे पुरखों का रक्त"।[175]

इस प्रकार आदिवासी संस्कृति अपनी मौलिकता के अर्थ में हिन्दू धर्म व ईसाई संस्कृति से प्रभावित होती है जिनसे इनमें भी अपसंस्कृति की शुरुआत होती है। इन सबसे अच्छा और बुरा होना एक अलग बात है किन्तु जब इनकी संस्कृति की बात आती है तो वहां मौलिकता छुटती है। इन आदिवासियों की आदिम जीवन शैली प्रभावित होती है, क्योंकि आदिवासी वे हैं जो आज भी अपनी आदिम जीवन शैली अथवा संस्कृति के अनुसरणकर्ता हैं। जबकि इन आदिवासियों के लोकदेवता, पर्व, उत्सव व सांस्कृतिक आयोजनों पर बाहरी संस्कृति का असर दिखाई देता है-

'कोई कुछ नहीं बोलता है उनके हालात पर
बोलते हैं लोग केवल, उनके धर्मांतरण पर

चिंता है उन्हें। उनके हिन्दू या ईसाई हो जाने की"[176]

दरअसल,जब संस्कृति की बात आती है तो नाच-गान को ही संस्कृति माना जाता है। उनके गीतों, नृत्यों में संस्कृति की झलक देखने को मिलती है। आज संस्कृति पर जो आधुनिकता का प्रभाव दिखाई दे रहा है वे ईसाई संस्कृति का प्रभाव है। आज राजस्थान ही नहीं सम्पूर्ण देश के आदिवासी साहित्यकार चिंतित हैं। वे अपनी जड़ों से उखड़ती संस्कृति को देखकर अपनी ही युवा पीढ़ी की चिंता को व्यक्त करते हैं। इस तरह आदिवासी कवि आज संस्कृति के विलुप्त होने को लेकर चिंतित हैं-

[175] युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, (सं.), अंक-22, जुलाई-2015, पृष्ठ सं-49
[176] युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, (सं.), अंक-22, जुलाई-2015, पृ. सं-50

‘कैसे करोगे साबित

सभ्यता की इस अदालत में

कि यह भौम(जमीन) तुम्हारी थी ।’’[177]

आदिवासी समुदाय की संस्कृति भारत में सबसे समृद्ध मानी गयी है, लेकिन बाज़ारवाद और भूमंडलीकरण के चलते आज संस्कृति पर हमले हो रहे हैं ऐसे में इन संस्कृतियों को बचाना एक चुनौती है । भारत का मूलनिवासी अपनी संस्कृति को बचाने के लिए संघर्ष कर रहा है , इसी संदर्भ को रेखांकित करती हुई आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी कविता में चिंता व्यक्त करती हैं-

‘कोई जनजाति कहता है

तो कोई पुकारता है कहकर वनवासी

तैयार नहीं हैं वे सब के सब

आदिवासी मानने को हमें ।’’[178]

नृत्य-गीत-संगीत के अवसरों पर पुरुषों द्वारा बजाए जाने वाले माँदर, नगाड़ा, बाँसुरी, ढोलकी तथा स्त्रियों द्वारा बजाई जाने वाली झाँझ इन लोगों के प्रमुख वाद्ययंत्र है । जंगलों या खेत-पथारों में पत्ते या साग तोड़ती, धान की रोपनी करती, कहीं कोई काम करती हुई जनजातीय लड़कियाँ कोई न कोई गीत गुनगुनाती हैं जो ‘सरिता सिंह बड़ाईक’ के गीतों में इस प्रकार से अभिव्यक्त होती है-

‘अखरा में नाचती हुई/बूढ़ों जवानों और

नवयोवनाओं की टोली/याद दिला रही है/आज रोपनी

काले घने बादलों के बीच भीगता हुआ सर

[177] युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, (सं.), उद्धृत आलेख, अंक-22, जुलाई-2015, पृष्ठ सं-51

[178] युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, (सं.), उद्धृत आलेख, अंक-22, जुलाई-2015, पृष्ठ सं-51

माथे से टपकती बूंद/हाथों में दान का बीड़ा

घुटने तक कादों में धंसे पांव/गा रहा है सारा गांव
दो होठों के बीच/सुरीली 'सरिता' का बहाव

कितनी कर्णप्रिय/दूर से आती हुई/मांदर की आवाज"।[179]

इस तरह आदिवासी कवि अपनी कविताओं के माध्यम से आदिवासी संस्कृति के विलुप्त होने की चिंता को बताने का प्रयास कर रहे हैं । इनकी कविताओं में आदिवासी की पीड़ा देखी जा सकती है।

3.1.5. पलायन और विस्थापन

तेजी से बदलते हुए सामाजिक परिवेश, शहरीकरण और विकास की गति ने आदिवासियों को रोजगार की तलाश के लिए पलायन को मजबूर कर दिया है । झारखंड के आदिवासी पलायन की विभीषका से बुरी तरह जूझ रहे हैं। यहाँ के अब गाँव के गाँव सूने हो चुके हैं। इस इलाके की पलायन की मुख्य वजह स्थानीय स्तर पर रोजगार का अभाव है । यहाँ के लोगों के लिए पलायन के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं है। इस संदर्भ में वासवी का मानना है कि 'अस्सी के दशक में गरीबी के कारण झारखंड क्षेत्र के शहरों में आदिवासी लड़कियों को दाई के रूप में काम करने के लिए ले जाने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । रोजगार के विकल्प के रूप में महिलाओं द्वारा संपन्न घरानों में बर्तन धोने, झाड़ू लगाने, कपडा धोने इत्यादि कार्यों के माध्यम से आय प्राप्त करने की शुरुआत हुई। इस प्रक्रिया में उत्तरोत्तर बदलाव आते गए और ग्रामीण महिलाओं ने इस कार्य को अपने आय के साधन के रूप में विकसित किया।

[179] अरावली उद्घोष, शंकरलाल मीणा, (सं.), उद्धृत आलेख ,पृष्ठ सं.-98

बाद में गाँव में कुछ ऐसे लोग सक्रिय हुए जिन्होंने शहरों के आदिवासी परिवारों एवं शिक्षण संस्थाओं को दाई के रूप में काम करने के लिए लड़कियों को भेजने का काम शुरू किया। इस प्रक्रिया में सैकड़ों लड़कियाँ झारखंड क्षेत्र के विभिन्न जिलों से भेजी जाती थी।"[180] इस संदर्भ में पलायन के प्रमुख कारण बताये गए हैं जो इस प्रकार से हैं-

- गरीबी एवं शहरी जीवन-शैली का आकर्षण।
- जमीन कम हो जाने के कारण आय के साधनों में कमी।
- परिवार का ऋणग्रस्त होना।
- रोजगार का विकल्प न होना।
- शिक्षा का अभाव होना।

आजादी के बाद आदिवासियों के जीवन में पीड़ा एवं यातनाओं की वृद्धि हुई है। हमने आदिवासियों को उनके घर से बेघर कर दिया है। उनके सामने रोजी रोटी का संकट खड़ा हो गया है। अपने घर परिवार को चलाने के लिए भूखे नंगे बच्चों को पालने के लिए, अपने पेट की आग बुझाने के लिए आदिवासी स्त्रियाँ अपने जिस्म को बेच रही है। रोजी-रोटी के सवाल को डॉ.रणजीत ने अपनी कविता में उठाया है-

'अकेला चीख रहा है कुआरी रात का अवैध बच्चा
बादलों की जवान बेटियाँ
जिस्म की दुकान कर रही हैं।"[181]

[180] आदिवासी कौन, संपा.रमणिका गुप्ता, पृ.68

[181] आदिवासी साहित्य विविध आयाम, संपा. डॉ.रमेश सम्भाजी कुरे, डॉ.मालती धोड़ोपंत शिंदे, पृ. 46

इसी रोजी-रोटी के संदर्भ में जनवादी कवि नागार्जुन ने अपनी कविता में आदिवासियों की मुख्य समस्या को बखूबी उठाया है। आदिवासियों के खस्ता हालत का बयान करते हुए नागार्जुन अपनी कविता में बताते हैं कि शहरों में लकड़ी का गठ्ठर बेचने पर आदिवासियों के चूल्हे जलते हैं –

'मुझे मालूम भी है भीलों के घर चूल्हे तब सुलगेंगे
जब लौट आयेंगी उनकी लकड़ियाँ
पहुँचाकर लकड़ी के गठ्ठे
गाँव,कस्बे और शहर...।"[182]

आज आदिवासी के अस्तित्व पर खतरा मंडरा रहा है। क्योंकि एक तरफ उनके खिलाफ़ 'सलवाजुडूम' खड़ा करके आदिवासी को आदिवासी के विरुद्ध खड़ा करके लड़ाया जा रहा है। सरकार द्वारा विकास के नाम पर करोड़ों रूपये ऐसी योजनाओं में खर्च किए जा रहे हैं जो उन्हें विस्थापित कर पलायन करने को मजबूर करती हैं, बेरोजगार करती हैं।

आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगिक कल-कारखानों की वजह से जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण जैसी गंभीर समस्याएँ पैदा तो होती ही हैं, इसके साथ-साथ वहाँ का आदिवासी भी अपने गांव, घर, जमीन से बेदखल हो जाता है। इन कारखानों की वजह से आदिवासी समाज उजड़ गया और विवश होकर पलायन करने के लिए मजबूर हो गया। रोजी-रोटी की तलाश में उन्हें अन्य जगहों पर जाकर मजदूरी करनी पड़ी। निर्मला पुतुल ने अपनी कविताओं में इन समस्याओं का जिक्र किया है। वे कहती हैं कि जब जंगल कट गए और जमीन छीन ली गई तो ऐसे समय में अपनी

[182] आदिवासी साहित्य विविध आयाम, संपा. डॉ.रमेश सम्भाजी कुरे, डॉ.मालती धोड़ोपंत शिंदे, पृ. 47

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महिलाओं को ईट-भट्टों में रोजी-रोटी के लिए मजदूरी करनी पड़ी। कुछ महिलाओं ने हंडिया बेचना शुरू किया तो कुछ महानगरों में आकर धाय और बाई का काम करने लग गई। इसी संदर्भ को निर्मला पुतुल अपनी कविता के माध्यम से बताती हैं-

'मैंने देखा था था चुड़का सोरेन!
कठुआई अंगुलियों से दोना-पत्तल-चटाई बुन
बाज़ार ले जाकर बेचते हुए तुम्हारी मां को भी
और चिलचिलाती धूप में
ईट पाथते, पत्थर तोड़ते, मिट्टी काटते हुए भी
चिड़ियों की तरह फड़फड़ाते हुए एक बार देखा उसे।"[183]

विकास के नाम पर नाम होने वाले विस्थापन पर पूर्वोत्तर भारत में विस्थापन की समस्या को लेकर प्रो. मोनीरुल हुसैन ने अपनी शोधपरक पुस्तक में उस क्षेत्र के विस्थापन को लेकर विस्तार से लिखा है। उनका मानना है कि भूमि-अधिनियम के तहत विकास के नाम पर विस्थापितों की भूमि अधिग्रहण की जाती है जिससे आदिवासी पलायन के लिए मजबूर हो जाते हैं।

3.2. हिन्दी आदिवासी कविता में अस्मिता के सवाल

वर्तमान समय 'अस्मिताओं के उदय' होने का समय है। 'अस्मिताओं के उदय' का सवाल आज महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। आज का दौर अब तक हाशिए पर खड़े आदिम समुदायों की 'अस्मिता' के उदय का दौर है। आज अस्मिता विमर्श एक बौद्धिक विमर्श का केंद्रीय सवाल बन गया है। जाति, नस्ल या संस्कृति हो या

[183] नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. 44-45

भाषाई प्रदेश सब अस्मिता के उदय का कारण बन रहे हैं। आज वैश्वीकरण और उत्तर आधुनिकता की प्रक्रिया के बीच 'अस्मिता' एक महत्त्वपूर्ण सवाल के रूप में उभरकर सामने आ रहा है। अस्मिता का सवाल भूमंडलीकरण के नारों को चुनौती देता हुआ उठ खड़ा हुआ है। 'अस्मिता' शब्द वैश्विक एकरूपता के प्रतिरोधस्वरूप एक जन आंदोलन की उभरती आवाज बन गया है।

दरअसल व्यक्ति की अस्मिता के कई आयाम होते हैं। एरिक्सन ने अस्मिता को 'समानता में और किसी साझी विश्व छवि में विश्वास' का नाम दिया है। अस्मिता को परिभाषित करते हुए विद्वानों ने व्यक्ति के अनुभव व जीवन-चक्र से जोड़ते हुए निम्न सोपानों के रूप में दर्शाया है-

अस्मिता के घटक

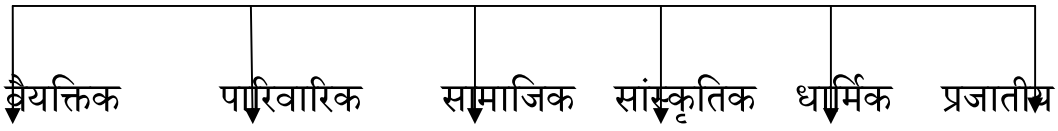

इन आधारों पर अध्येताओं ने अस्मिता एवं वैयक्तिक विकास के बीच अंतर्संबंधों का विश्लेषण किया है-"उन व्यवहारिक/वैयक्तिक अभिलक्षणों के समूह द्वारा भी व्यक्ति की अस्मिता को इंगित किया जाता है, जिनके आधार पर वह व्यक्ति किसी समूह विशेष का सदस्य माना जाता है। इस प्रकार से व्यक्ति की अपनी अस्मिता किसी न किसी सामूहिक अस्मिता के साथ जुड़ जाती है।"[184] अस्मिता व्यक्ति के सम्पूर्ण परिवेश के सवालों से रूबरू करवाती है। अस्मिता का संबंध बुनियादी किस्म के सवालों से जुड़ा हुआ है। जैसे कि मैं कौन हूँ? मेरा अपने समाज से क्या रिश्ता है। इस

[184] आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, बन्नाराम मीणा, पृ. 13

तरह से अस्मिता आत्म की वह व्याख्या है जो व्यक्ति को सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों से जोड़कर रखती है। अस्मिता का रिश्ता किसी व्यक्ति से नहीं बल्कि पूरे समुदाय की समूह चेतना से जुड़ा हुआ है। दरअसल, 'अस्मिता' व्यक्ति के परिवेश और देशकाल की जीवंत अभिव्यक्ति है-"अस्मिता सत्ता के समीकरण और शक्ति के संतुलन में अपने हिस्से पर दावे की सैद्धांतिकी हैं।"[185] अस्मिता का सवाल आदिवासी समाज के जीवन-यापन के साधन-जल,जंगल,जमीन के साथ जुड़ा हुआ है। इसका उद्गम आदिवासी पहचान को बनाए रखता है, तो साथ ही साथ उसकी भाषा एवं संस्कृति के सवाल को उसकी पहचान के साथ जोड़कर रखता है।

रमणिका गुप्ता ने दलित और आदिवासियों की अस्मिता के सवाल के मूलभूत अंतर को स्पष्ट किया है-"दलित और आदिवासियों की अस्मिता में बड़ा अंतर यही है कि दलितों को गाँव के बाहर भारतीय संस्कृति से बहिष्कृत करने के बाद भी,उसी के अधीन रहकर उसे मानने पर मजबूर किया गया। उसे जीने की मानवीय शर्तों से वंचित रखा गया। उसका आत्मसम्मान ध्वस्त कर दिया गया। इसके विपरीत आदिवासियों को सभ्यता से ही बहिष्कृत कर जंगलों में ठेल दिया गया। उनके पास जंगल और जमीन थे। आदिवासी अपनी संस्कृति की विरासत को हमेशा कायम रखा और वह आत्मसम्मान के साथ जीता रहा, लेकिन अब उसकी सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना, स्वायत्तता और अस्तित्व पर ही खतरा पैदा हो गया है।"[186] यदि जंगल और जमीन न हो तो आदिवासी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। आदिवासी अस्मिता पर हरिराम मीणा का मानना है कि 'सर्वोच्च न्यायालय ने

[185] अस्मिता-विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, पृ. 35

[186] आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता, पृ. 50

कैलाश व अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य(2011) के प्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा है कि इस देश के असली वारिस भारत के आदिवासी ही हैं' जिन्हें अतीत में बाहरी घुसपैठियों ने 'राक्षस' कहकर उन्हें मारा और उन्हें दुर्गम जंगलों में रहने के लिए विवश कर दिया । उन्हें बाहरी आक्रांताओं के वंशजों के द्वारा आदिवासियों की जमीन एवं उनके द्वारा सुरक्षित प्राकृतिक सम्पदा को लूटकर उन्हें प्रताड़ित किया जा रहा है । भारतीय संविधान में आदिवासियों के कल्याण हेतु निर्मित आरक्षण के प्रावधानों की यही पृष्ठभूमि है । आदिवासी अस्मिता एवं अधिकारों का सवाल प्रत्यक्ष रूप से आदिवासी उत्थान से जुड़ा हुआ है। आदिवासी समाज की अस्मिता और उत्थान के लिए किये गए आरक्षण जैसे विशेष प्रावधानों का मुद्दा सीधे रूप से आदिवासी अस्मिता, स्वायत्तता, आत्मसम्मान, संस्कृति एवं विकास से संबंध रखता है । यदि इस संदर्भ में बात की जाती है तो यह स्वायत्तता राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, समाज और संस्कृति सभी स्तरों पर प्रासंगिक दिखाई देती है । आदिवासी समाज बहुत लम्बे समय तक अपनी स्वायत्तता के साथ जीवन जीता आया है । इसी कारण उसकी अस्मिता व आत्मसम्मान की समृद्ध परंपरा रही है। क्योंकि सामाजिक व सांस्कृतिक स्वायत्तता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है जो आदिवासी अस्मिता से सीधे-सीधे संबंध रखता है । इस परिप्रेक्ष्य में सबसे बड़ा यह सवाल उभरकर आता है कि आदिवासियों के मूलभूत आधिकारों एवं अस्मिता की दृष्टि से उसकी समृद्ध संस्कृति को कैसे संरक्षित किया जा सकता है?

3.2.1. पुरखों के प्रति दृष्टिकोण

तथाकथित सभ्यता में आदिवासी समाज अपने परम्परागत पुश्तैनी अधिकार की बात करता है और आज इसी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहा है, वे प्रतिरोध के स्वर के साथ सरकार की गलत नीतियों का विरोध कर रहे हैं। एक ओर आदिवासी समाज हाशिये का जीवनयापन करने के लिए मजबूर है तो दूसरी ओर अपनी पहचान की जद्दोजहद में है। इस संदर्भ में कवि शशिभूषण मिश्र अपनी कविता के माध्यम से परम्परागत या पुश्तैनी अधिकार के प्रति चेतना की बात करते हैं-

'हमें मत भगाओ यहाँ से/बाबा आदम के ज़माने से
जब शायद तुम नहीं आये थे
तब से इसी मिट्टी और इसी जंगल में

जीती आयी है हमारी कई पुश्तें /मत विस्थापित करो हमें

हमारे पुरखों के श्रम, जल का सोता/फूटेगा जरुर एक दिन

और सब कुछ कर देगा हरा भरा/खुद करने को तैयार हमें

हमारे आगामी इतिहास का नक्शा।"[187]

वंदना टेटे भी अपनी कविताओं में आदिवासी पुश्तैनी अधिकार के जीवन संघर्ष को प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार उन्होंने आदिवासी जीवन और दर्शन के सहज चित्रों को कविता के माध्यम से पाठकों तक पहुंचायी है। यही उनके लेखन की विशिष्टता है जो आम जन के मानस पटल को प्रभावित करती है-

'तुम्हारे विकास का गणित /मेरी समझ में नहीं आता
मेरी आँखे वर्तमान के अंधेरे /में कुछ ढूंढ़ती रह जाती हैं

[187] जनकृति(अन्तर्राष्ट्रीय मासिक ई पत्रिका), अप्रैल-2015, पृ.-1

और मेरे पाँव टिकने की जगह ढूंढते।

उजाले के आते ही /दिखती हैं अजीब चीजें

जिनसे मेरा दूर-दूर तक का /कभी वास्ता न था...।"[188]

अनुज लुगुन की कविता में पुस्तैनी परम्परा के इतिहास को लेकर चर्चा हुई है। अनुज अपनी परम्परा को नहीं भूलते हैं बल्कि आदिवासी इतिहास का जिक्र अपनी कविताओं में बारीकी से करते हैं। वे बताते हैं कि आदिवासी समाज ने अपनी पुरखा संस्कृति को बचाने के लिए साहस और शौर्य दिखाकर अपना बलिदान दिया है –

'इन मृत पत्थरों पर जीवित है
हमारी सैकड़ों पुश्तों की विरासत
लेकिन सरकारी पट्टों पर

इनका कुछ पता नहीं है /ये हमारे घर है

और इस तरह /हम बेघर सरकारी पट्टों पर

हमारी विरासत पर दखल हुई

सरकारी पट्टों की।"[189]

महादेव टोप्पो की यह कविता युगों से चल रहे संघर्ष के योगदान में आदिवासी लड़ाई का इतिहास बताती है और पुरखों के आदिम इतिहास का चित्रण भी इस कविता में मार्मिक ढंग से हुआ है-

'तुम्हारी विजय गाथाओं
और संघर्षों के गवाह
पेड़ हैं, नदियाँ हैं, चट्टानें हैं

पुरखों की आत्माएं हैं

[188] वंदना टेटे, (संपा.), कोनजोगा (कविता संग्रह), पृ. 70

[189] परिंदे द्वैमसिक पत्रिका, डॉ. शिवदान सिंह भदौरिया, (संपा.), पृ. 44

ससनदिरी हैं /जाहेरथान हैं

तुम्हारे लोकगीत हैं..।"[190]

इस तरह इनकी कविता में पुरखों के इतिहास का जिक्र आदिम संस्कृति के रूप में हुआ है । क्योंकि परम्परागत यानी पुश्तैनी अधिकारों के प्रति चेतना आदिवासी कविताओं में सीधे तौर पर दिखाई देती है।

3.2.2. **आदिवासी स्त्री अस्मिता**

दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री जाति हमारे देश में परम्परागत रूप से हाशिए का जीवन जीने के लिए बाध्य है। वर्तमान में चल रहे विमर्शों में स्त्री विमर्श के माध्यम से भारतीय स्त्री हाशिए उलाँघती नजर आती है। अपनी अस्मिता और अस्तित्व के सवाल का जवाब खोजती हुई गली से दिल्ली तक पहुँच रही है। पुरुषवादी मानसिकता से अपनी मुक्ति को तलाशती इन महिलाओं ने अपने लेखन के माध्यम से वर्चस्वकारी शक्तियों पर जोरदार प्रहार किया है। पुरुषों के समान हकदार कही जाने वाली आदिवासी स्त्री क्या अपनी अस्मिता और अस्तित्व के सवाल से मुक्त है ? कहने के लिए **'मुक्ति'** शब्द बड़ा आसान है। आदिवासी स्त्री अपने समाज के पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलती है। बाहरी सभ्य समाज के घुसपैठ के साथ ही आदिवासी स्त्रियों का हक़ भी छीन लिया गया। उनके आने से संपत्ति के अधिकार से स्त्रियों को वंचित कर दिया गया। आदिवासी स्त्री एक ओर वर्तमान बाजारवाद के कारण मुख्यधारा के समाज से शोषित है तो दूसरी ओर स्त्री होने के

[190] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. 206

कारण अपने ही समाज में शोषित है। इस दोहरे शोषण के दर्द में भी वह अपनी अस्मिता और अस्तित्व को नहीं भूलना चाहती है।

इसी सन्दर्भ में रमेश चन्द मीणा अपने लेख 'आदिवासी औरत :अस्मिता का संकट और प्रतिरोध' में विचारणीय मुद्दों को सवाल के रूप में रखते हैं-"आदिवासियों का हर समुदाय जब अपनी अस्मिता की तलाश में हो तब ऐसे में आदिवासी औरत की स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। आदिवासी समाज में औरत की स्थिति को देखने की बजाए मैं आम समाज में (गैर-आदिवासी आदमी की निगाह में) आदिवासी औरत की क्या पहचान है? इस सवाल पर विचार कर लेना इसलिए भी जरूरी समझता हूँ कि वे लोग जो अपने आप को सभ्य कहलाते हैं उनकी निगाह में आदिवासी औरत क्या है? एक आदिवासी औरत अपने समुदाय से इतर लोगों की दृष्टि में वस्तु भर ही समझी जाती रही है। विशेष तौर पर आदिवासी गरीब महिला की स्थिति इस समय मायने में और भी नाजुक और चिंतनीय रही है। हमेशा से गैर-आदिवासियों ने आदिवासी महिलाओं का शोषण वस्तु समझकर ही किया है। कथित सभ्य समाज के लोग उन्हें जंगली, असभ्य और बदचलन कह बैठते हैं। ऐसे सभ्यजनों के चेहरे से नकाब उतारने का काम विपिन बिहारी की कहानियों में हुआ है।"[191]

निर्मला पुतुल के माध्यम से आदिवासी स्त्री की पीड़ा साहित्य में अभिव्यक्त हुई है। उनकी कविता 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए' पाठकों के बीच बहुत लोकप्रिय है, जिसमें वे तमाम स्त्रियों की प्रतिनिधि बनकर पुरुषों से सवाल कर रही हैं कि-

[191] आदिवासी विमर्श, डॉ.रमेश चन्द मीणा, पृ. 59

‘क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए
एक तकिया कि कहीं से थका-मांदा आया

और सिर टिका दिया

कोई डायरी,कि जब चाहा

कुछ न कुछ लिख दिया

खामोश खडी़ दीवार

कि जब जहाँ चाहा/या कोई चादर
कि जब जहाँ जैसे-तैसे/ओढ़-बिछा ली?[192]

आदिवासी स्त्री को देहमात्र समझने वाले समाज को सरिता सिंह बड़ाईक अपनी कविताओं के माध्यम से चुनौती देती हैं। वे ‘घासवाली’ कविता में कह उठती हैं, ‘मैं घास बेचती हूँ बाबू देह नहीं’ । आदिवासी स्त्री की पीड़ा सरिता की कविताओं में केन्द्रीय विषय-वस्तु के रूप में बार-बार दस्तक दे ही देती है। प्रसव पीड़ा में चल बसी बुधनी की पीड़ा को सरिता सिंह बड़ाईक इन शब्दों में बयान करती हैं-

‘श्मशान जाने से पहले
नागफनी कांटे से
भेदे गये हथेली और पाँव
अरवा-सुतरी से बांधी गई बेटी

सरसों छीटी गई

घर से श्मशान तक

काँटे चुभे पाँव से सरसों न चुन सकें हाथ

और वापस न आ सके बेटी अपने गाँव !’’[193]

[192] आदिवासी चिंतन की भूमिका, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली,2017 , पृष्ठ सं.-53
[193] आदिवासी चिंतन की भूमिका, गंगा सहाय मीणा, पृष्ठ सं.-57

स्त्री शोषण के विभिन्न रूपों का खुलासा करने के बाद सरिता झारखंड की स्त्रियों से आह्वान करती है और विद्रोही उद्घोष का शंखनाद करती है जो विविध स्तर पर हमें देखने को मिलता है-

'आना होगा ॥
तुम्हें आना होगा आगे
झारखंड की नारी'।"[194]

सरिता सिंह बड़ाईक की कविता आदिवासी स्त्री की रूढ़ छवि को तोड़ती हुई इस ओर इशारा करती है कि आदिवासी समाज पितृसत्ता से मुक्त नहीं है । इस तरह स्त्री अस्मिता से जुड़े सवालों को केंद्र में रखकर सरिता बड़ाईक की कविताओं में स्त्री जीवन के पहलुओं को बारीकी से उकेरा गया है ।वंदना टेटे आदिवासी जीवन की इस सहजता से आगे बढ़कर स्त्री जीवन के विविध पहलुओं को भी अपनी कविता का विषय बनाती हैं । वे 'बेदखल होती स्त्री' कविता में स्त्री अस्मिता के सवालों को रेखांकित करती हैं-

'उपनामों का बोझ ढोये
खडी़ है जबरन अपनी जमीन पर
हाँ, बड़ी उद्दंडता से
क्योंकि फ़तवा जारी है/उसके खिलाफ
हुक्मरानों के लरियाये मुँह
और कुत्तों से तीखे दाँतों/के खिलाफ ।"[195]

स्त्री अस्मिता के कई ऐसे अनछुए पहलुओं पर सार्थक टिप्पणी करती हुई चंद्रकांत देवताले की कविता 'बालम ककड़ी बेचने वाली लड़कियाँ' जनमानस के समक्ष

[194] आदिवासी चिंतन की भूमिका, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली,2017 , पृष्ठ सं.-57
[195], आदिवासी चिंतन की भूमिका, गंगा सहाय मीणा ,अनन्य प्रकाशन, दिल्ली,2017 , पृष्ठ सं. 60

प्रस्तुत होती है जो संवेदना के स्तर पर चिंतन के लिए विवश कर देती है कि हमारे समाज में आर्थिक स्तर पर कितनी विषमता व्याप्त है। जो सम्पन्न वर्ग है जैसे महाजन, साहूकार व अन्य मौकापरस्त लोग वे आदिवासियों पर गिद्ध दृष्टि रखते हुए उनका शोषण करते हैं-

'उम्रदराज सेठ साहूकार/बनिया बक्काल
आँखों से तोलते-भाँपते कक़डियाँ
बंडी की जेबों से खनकाते रेजगी
कक़डियों को नहीं पर लड़कियों को मुग्ध कर देगी
रेजगी की खनक आवाज।"[196]

आदिवासी कविता आदिवासी अस्मिता, पहचान, संस्कृति तथा जल,जंगल, जमीन को बचाने की मुहिम का हिस्सा ही नहीं बल्कि आदिवासी चेतना का प्रतीक भी है। आदिवासी कविता आदिवासियों के इतिहास से भी परिचित कराती हुई लोकमानस में चेतना की भावना पैदा करती है। आदिवासी समाज की स्त्रियाँ 'सिनगी दई' की तरह मुग़ल सेना से लड़ाई लड़ती हैं।

आदिवासी कवियित्री निर्मला पुतुल की कविताएँ उन निगाहों को पहचानती हैं जो आदिवासी स्त्रियों को भोग्य वस्तु में बदलने के लिए आतुर हैं। ये निगाहें आदिवासी समाज को सस्ता मजदूर बनाकर, उनकी संस्कृति भाषा, जल, जंगल और जमीन को हथिया कर उन्हें पलायन के लिए मजबूर करती हैं। निर्मला पुतुल अपने समाज की

[196] रोशनी के मैदान की तरफ, चन्द्रकान्त देवताले, पृष्ठ सं. 50

विकृतियों से भी टकराती है, जब वे **'सजोनी किस्कू'** की व्यथा-कथा कहती है या चुड़का सोरेन के पिता को हंडिया पीकर बेखबर होने के खतरे से सचेत करती हैं-

'देखो तुम्हारें ही आँगन में बैठे
तुम्हारे ही हाथों बनी हंडिया
तुम्हें पिलाकर कोई कर रहा
तुम्हारी बहनों से ठिठोली ये वे लोग हैं
जो हमारे ही नाम पर लेकर गटक जाते हैं
हमारे हिस्से का समुद्र ।"[197]

ये कविताएँ आदिवासी में पहचान के आन्दोलन और अपनी संस्कृति, भाषा, जल, जंगल, जमीन और लाठा-जलावन को बचाने की मुहिम का हिस्सा नहीं तो और क्या हैं ? वे अपने समाज की विकृतियों को भी दूर कर आज के समाज के समक्ष सशक्त खड़े होना चाहते हैं। निर्मला पुतुल अपने समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, जड़ परम्पराओं पर तीव्र चोट करती हैं, जब वे कहती हैं-

'बस रहने दो
कुछ मत कहो सजोनी किस्कू
जब तुमने चलाया था हल...
तब डोल उठा था बस्ती के माँझी थान में
बैठे देवता का सिंहासन
गिर गई थी पुश्तैनी धानी कुर्सी पर बैठे..
मृगजहीन माँझी हाडाम की
तब बैल बनाकर हल में जोता था
खूंटे में बांधकर खिलाया था भूसा।"[198]

[197] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, संपा. गंगासहाय मीणा, अंक 4-5, अक्तूबर 2015 , मार्च-2016 , पृ .30
[198] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, संपा. गंगासहाय मीणा, अंक 4-5, अक्तूबर 2015 , मार्च-2016 , पृ .30

वे आदिवासी लड़कियों को फुसलाकर भगा ले जाते दिकू लोगों के बारें में चुड़का सोरेन को सतर्क करती है कि ये बाघ की तरह हमारे समाज में घात लगाए हुए बैठे इसलिए तुम इनसे सावधान रहना!

‘वह कौन सा जंगली जानवर था चुड़का सोरेन
जो जंगल में लकड़ी बीनने गई
तुम्हारी बहन मुंगली को उठाकर ले भागा।’’[199]

आदिवासी समाज मातृसत्तात्मक समाज रहा है। महिलाओं को वह स्वतंत्रता सदियों पूर्व इस समाज में प्राप्त हो चुकी थी, जिसकी नुमाइन्दगी भारतीय संविधान आजादी से पूर्व करने की कोशिश कर रहा है। लेकिन बाहरी दिकू लोगों व अपनी अन्धविश्वासी रूढ़िवादिता के कारण समाज अब पिछड़ने लगा है। आदिवासी कवि वाहरू सोनवणे आदिवासी औरत की संवेदना को इन शब्दों में उकेरते हैं-

‘जवानी में वेश्या, बुढ़ापे में डायन
ऐसे ही कहते हैं लोग
एक ऐसी चीज जिसे घाट में बाँट में

जहां मिले थाम लो जब भी चाहे अंग लगा लो।

पूरी हुई हवस तो, त्याग दो चीख न पुकार।’’[200]

वस्तुतः यह सच है कि किसी भी समाज की स्त्री चाहे वह आदिवासी जमात की ही क्यों न हों, पुरुषों के बनाये ढांचे का प्रतिरोध करती है तो लांछित होती है या व्यवस्था द्वारा पागल घोषित कर दी जाती हैं। निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, सरिता सिंह बड़ाईक आदि की अधिकांश कविताएँ आज की चमक-दमक से दूर साधारण

[199] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, संपा. गंगासहाय मीणा, अंक 4-5, अक्तूबर 2015 , मार्च-2016 , पृ .30
[200] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, संपा. गंगासहाय मीणा, अंक 4-5, अक्तूबर 2015 , मार्च-2016 ,पृ.30

आदिवासी स्त्री के दुःख दर्द के समूचे व्याकरण को समेटे हुए परम्परागत दृष्टि का विरोध करती नज़र आती हैं-

'क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?
बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?
अगर नहीं /तो फिर क्या जानते हो तुम
रसोई और बिस्तर की गणित से परे /एक स्त्री के बारे में?"[201]

आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री के आदिम मूल्यों का इतिहास बोध, प्राकृतिक संपदाओं के संरक्षण की चिंता अपने अस्तित्व, अस्मिता के साथ ही देखा-पढ़ा जा सकता है। आदिवासी कविता स्त्री अस्मिता की खोज एवं शोषण के विविध रूपों से उद्घाटित और उनके खिलाफ हो रहे अन्याय के प्रतिरोध का साहित्य है। आदिवासी कविता का मुख्य स्वर मुक्ति व विद्रोह का है। वह हर समय अपना विरोध दर्ज कराती है। पुरुष व स्त्री दोनों की समस्या आदिवासी समाज में लगभग समान है।

आदिवासी लेखिका वंदना टेटे 'तुम कौन हो ?' कविता में स्त्री जीवन की पीड़ा का चित्रण विविध रूपों में करती हैं। एक तरह से उन्हें संस्कृति का डर दिखाकर उन पर तरह-तरह के अत्याचार किये जा रहे हैं। कविता में कवयित्री आदिवासी स्त्री जीवन के विविध पहलुओं पर बेबाक टिप्पणी करती हुई लिखती हैं-

[201] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, संपा. गंगासहाय मीणा, अंक 4-5, अक्तूबर 2015 , मार्च-2016 , पृ .30

‘तुम जला दी जाती हो रूपकुंवर की तरह

समाज क़त्ल कर देता है तुम्हें ,

जब तुम प्रेम करती हो

आखिर कब तक

देती रहोगी लहूलुहान जिस्म ?

तुम सीता अहिल्या द्रोपदी और रूपकुंवर हो तो

सिनगी-कैली, फूलो-झानों, माकी

सोनी सोरी भी हो

इन्सान हो तुम

बहुत कुछ होने के अतिरिक्त ।”[202]

आदिवासी साहित्य में स्त्री जीवन के मूल्यों की बात को वंदना टेटे की कविता ‘बदल जाती हैं’ में प्रमुखता दी गई है। इस कविता के माध्यम से लेखिका ने स्त्री जीवन की प्राथमिकता देशकाल और स्थान परिवर्तन के अनुसार किस रूप में बदल दी है-

‘बदल जाती है प्राथमिकताएँ
जब बदल जाता है , समय और स्थान
पर क्या एक स्त्री भी ?

स्त्री की प्राथमिकताएँ भी , बदलते समय

बदलते स्थान के साथ बदलती है ?

उसकी ख़ुशी उसकी परेशानी..

मेरी प्राथमिकताओं में, प्रार्थनाओं में

तमाम जिम्मेदारियों

[202] कोनजोगा, वंदना टेटे, पृ. 51

व्यस्तताओं के बावजूद

प्राथमिकता में रही।"[203]

अत: कहा जा सकता है कि आदिवासी केन्द्रित कवयित्रियों द्वारा चित्रित अपनी रचनाओं में आदिवासी जन-जीवन, संस्कृति, सभ्यता और शोषण का चित्रण किया गया है। इनकी कविताओं में पुरुषसत्तात्मक समाज के वर्चस्व को तोड़ने की बात कही गई है। क्योंकि इनकी कविताएँ केवल स्त्री अस्मिता की बात ही नहीं करती बल्कि समाज में महिलाओं पर हो रहे अत्याचार, शोषण के खिलाफ़ अपनी आवाज बुलंद करती है।

3.2.3. प्रकृति के साथ रिश्ता

आदिवासी का अपना धर्म 'सरना' है जो प्रकृति का धर्म है। वह पेड़ों और अपने पूर्वजों की पूजा करता है। वे प्रकृति को अपने जीवन का मुख्य धर्म मानते हैं, उनके बोंगा पेड़ों के ऊपर रहता है, लेकिन वह आकाश में नहीं विचरता। उसके भगवान या देवता की जड़ें धरती में हैं। इस संबंध में हरिराम मीणा का मानना है कि 'आदिवासियों ने तो सपने में भी यह नहीं सोचा कि उनके साथ ऐसा होगा। वे तो उन्मुक्त प्रकृति की गोद में रहे हैं-प्रकृति की भाव-भंगिमाओं के साथ गाते-नाचते। इसी उन्मुक्तता के रहते अभावों भरी जिन्दगी की भी उन्होंने परवाह नहीं की। समृद्ध प्राकृतिक परिवेश में सीमित आवश्यकताओं के साथ एक लम्बी, विशुद्ध और सांस्कृतिक परम्परा रही है। जीवन का आधार रही यह प्राकृतिक संपदा, उनकी

[203] कोनजोगा ,वदना टेटे, पृ. 46

पुश्तैनी भौम और सांस्कृतिक धरोहर उनसे छीनी जा रही है। यह गंभीर संकट केवल आदिवासी वर्ग को झेलना पड़ रहा है।"[204]

प्रकृति और मानव का प्राचीनकाल से ही गहरा रिश्ता रहा है। प्रकृति के बिना मानव जीवन भी संभव नहीं है। पर्यावरण के साथ छेड़छाड़ हमें महँगी पड़ सकती है,क्योंकि पर्यावरण के साथ छेड़छाड़ करना आदिवासी जीवन के लिये ही खतरा नहीं है बल्कि विश्व समुदाय के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। पर्यावरण से छेड़छाड़ होने वाले भावी खतरों से ग्रेस कुजूर की कविता अवगत कराती है –

'इसलिए फिर कहती हूँ
न छेड़ो प्रकृति को
अन्यथा यह प्रकृति करेगी भयंकर बगावत
और तब न तो तुम होगें न हम होंगे।"[205]

औद्योगिक युग में विकास की रफ़्तार ने पर्यावरण के लिए खतरों का निर्माण किया है। इसके चलते आज आदिवासी जन के लिए प्रकृति के साथ होने वाली मार्मिक पीड़ा का चित्रण संताली आदिवासी कविता में देखने को मिलता है-

'ढ़ह गई बड़ी पहाड़ी
भसकी छोटी पहाड़ी
उल्टी पुल्टी हो गई दुनिया
ओ मेरे भाई तो ठीक, नहीं तो
हमें सौपा है हमारे पूर्वजों ने
धन सम्पदा से सम्पन्न
अपना राज्य मानवता से परिपूर्ण।"[206]

[204] समकालीन आदिवासी कविता,संपा. हरिराम मीणा, पृ. 10
[205] आदिवासी-विमर्श, वी. कृष्ण, भीमसिंह, (सं.), पृष्ठ सं.-104

आदिवासी समुदाय ने हमेशा से ही प्रकृति संरक्षण किया है और वह प्रकृति पूजक रहा है। उनके जीवन का आधार ,आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति रही है। इस युग में विकास के नाम पर उनसे उनकी सांस्कृतिक धरोहर और प्राकृतिक संपदा को छीना जा रहा है। प्रकृति एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का निकट का सम्बन्ध रहा है जो अब असंतुलित हो रहा है। ग्रेस कुजूर के ही शब्दों में-

'अब कहां है वह अखरा(नृत्य स्थल)
किसने उगाए हैं वहां
विषैले नागफनी
बार-बार उलझता है जहाँ तोलोंग का फुंदना"।[207]

जल, जंगल, प्रकृति और पर्यावरण के प्रति मानव जीवन के विविध सरोकारों की बात करते हुए निर्मला पुतुल अपनी 'बूढ़ी पृथ्वी का दुःख' शीर्षक कविता में लिखती हैं-

'क्या तुमने कभी सुना है
सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से
पेड़ों की चीत्कार?
किसी पेड़ की हिलती टहनियों में
दिखाई पड़े हैं तुम्हें
बचाव के लिए पुकारते हजारों-हज़ार हाथ?
क्या होती है तुम्हारे भीतर घमस
कटकर गिरता है जब कोई पेड़ धरती पर?
कभी पूछा है गुमसुम बूढी पृथ्वी से उसका दुःख?"[208]

---

[206] आदिवासी-विमर्श, वी. कृष्ण, भीमसिंह, (सं.), पृष्ठ सं.-104
[207] आदिवासी-विमर्श, वी. कृष्ण, भीमसिंह, (सं.), पृष्ठ सं.-104
[208] आदिवासी विमर्श : अवधारणा और आंदोलन,कुमार कमलेश, पृ. 19

अर्थात् जब पृथ्वी पर पेड़-पौधे ही नहीं रहेंगे तो पर्यावरणीय असंतुलन बिगड़ने लगेगा। मनुष्य का जनजीवन भी अस्त-व्यस्त हो जायेगा और ऐसे में प्रकृति का बचना भी असंभव हो जायेगा।

हर आदिवासी प्रकृति को माँ के रूप में मानता है। प्रकृति के साथ जीते हुए प्रकृति की गोद में जीवन गुजारता है। प्रकृति से अपनी जरुरत के अनुसार ही लेता है ,उससे अधिक नहीं। अपनी जमीन पर हल चलाने से पहले वह धरती माता से उन्हें कष्ट पहुँचाने के लिए क्षमा माँगता है। इस प्रकार प्रकृति साहचर्य के कारण ही प्रकृति का संरक्षण हो पाता है,विनाश नहीं। इस संबंध में कार्बी रचनाकार कविवर लांगकांग तेरांग लिखते हैं-

'पाना चाहते हो अगर प्यार और स्नेह
तो जाओ पेड़ के पास
धरना चाहते हो अगर धैर्य,
सब्र और सचाई
तो जाओ पेड़ के पास।"[209]

अत: इन कविताओं में कवि ने प्रकृति के विविध रंगों का जीवन चित्रण किया है, जिसका आधार आदिवासी जीवन-दर्शन रहा है। वे जीवन दर्शन की महत्ता का कविता में जिक्र करते हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में आदिवासी दर्शन को बचाना एक चुनौती साबित हो रहा है।

[209] आदिवासी विमर्श, अवधारणा और आंदोलन, कुमार कमलेश, पृ. 191

3.2.4. आदिधरम अस्मिता

आदिधरम से तात्पर्य भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं के उस मूल स्वरूप से है, जिसे हम एनिमिज्म, एनिमिस्टक रिलीजन, प्रिमिटिभ रिलीजन, एवोरिजिनल रिलीजन, आदिवासी धर्म, जनजाति धर्म, सारना धर्म, बोंगाइज्म आदि नामों से जानते हैं। भारतीय संविधान में आदिवासियों को सांस्कृतिक रूप से एक विशिष्ट समुदाय के रूप में माना गया है, लेकिन उसकी कोई अपनी अलग से धार्मिक पहचान नहीं है । परिणामस्वरूप जो आदिवासी स्पष्ट रूप से अपने को ईसाई, मुसलमान या बौद्ध नहीं बताते, वे 'हिन्दू' के अंतर्गत ही चिन्हित होने को विवश हैं। इस संदर्भ में डॉ.रामदयाल मुंडा का मानना है कि 'आदिवासी ने अन्य ईसाई, मुसलमान या बौद्ध धार्मिक समुदाओं में धर्मान्तरित होकर आंशिक रूप से अपने आदिवासीपन को खोया है। रामदयाल मुंडा ने धार्मिक व्यवस्था के तीन पक्ष माने हैं-

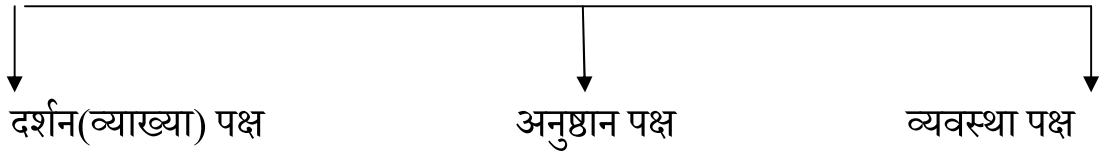

- दर्शन(व्याख्या) पक्ष
- अनुष्ठान(कर्मकाण्ड) पक्ष
- व्यवस्था(संगठन) पक्ष।"[210]

अर्थात् ये तीनों पक्ष विवेचना की दृष्टि से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। आदिवासियों के जीवन में इन तीन तत्त्वों की अनिवार्यता जीवन-सूत्र के रूप में जुड़ी हुई रहती है। इस

[210] झारखण्ड एन्सक्लोपीडिया, खंड-4, संपा. रणेंद्र, पृ. 527

संदर्भ में छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, उड़ीसा की सभी जनजातियों में तंत्र और धर्म एक साथ चलते हैं। यहाँ पर विविध आभिचारिक क्रियाएँ एक आर्थिक शक्ति के रूप में देखने को मिलती हैं, जबकि धर्म आदिम समूह की नैतिक एकता के माध्यम से नियति के रूप से आदिम संविधान का आधार प्रस्तुत करता है।

रामदयाल मुंडा की कविता **'वापसी पुनर्मिलन और अन्य नगीत'** में उनकी दो कविताएँ **'परिवर्तन'** और **'पुनर्मिलन'** संकलित हैं। इन कविताओं में धार्मिक मिथक कथाओं के जरिए वर्तमान समय को देखने की कोशिश की गई है। 'परिवर्तन' कविता भगवान शिव जी से संबंधित है। एक शिव भक्त भगवान शिव से नन्दी को छोड़कर भैंस में सवार होकर दर्शन देने की प्रार्थना करता है। जब भगवान भैंस में चढ़कर आ जाते हैं तो भक्त को पछतावा होता है कि कहीं से उसने अनुचित याचना तो नहीं किया! इस बीच भगवान शिव भक्त के मन की बात जान जाते हैं और कहते हैं-

'अरे, छोड़ो परम्परा की बात
इस समय फायदा अवसरवादी बनने में ही है
जब जिधर हवा की रुख देखी
उधर ही झुक गए, बाँस की तरह
परम्परा समय के उल्टे पड़ती थी
तो मैंने भी अपना वाहन बदल दिया।"[211]

युगों से वनवासी इन आदिवासियों ने अब तक अपनी जीवन-शैली, भाषा, रीति-रिवाजों और सांस्कृतिक परम्परा को कायम रखा है। प्रकृति उनकी सहचरी है। उनके

[211] वापसी पुनर्मिलन और अन्य नगीत, पृ. 4

पूर्वज ही इनके आराध्य होते हैं जिन्हें बोंगा कहते हैं । उनके बोंगा के लिए कोई मन्दिर, मस्जिद सरीखी स्थापना नहीं होती, बोंगा वृक्षों व चट्टानों में स्थान पाता है।

सृष्टि कथा आरम्भ में धरती के देवता सिंगबोंगा की पूजा आदिवासी समाज में की जाती है। उनका मानना है कि सृष्टि के जितने भी देवी-देवता है वे उनके आदि-पूर्वज माने जाते हैं । आदिवासी प्रकृति को भगवान 'सिंगबोंगा' का स्थान देते हैं यानी प्रकृति ही सिंगबोंगा है। इसलिए खेती की बीज बुआई में वे अपने देवता को सबसे पहले पूजकर अपना काम शुरू करते हैं जैसे-

'हे आकाश के परमेश्वर
पृथ्वी की धरती माँ
दूध से उगने वाले
दही से डूबने वाले
तुम ही आदि के हो
तुम ही अंत के हो।"[212]

3.2.5. भाषाई अस्मिता

भाषाई-अस्मिता का सवाल आदिवासी साहित्य में मुख्य विमर्श के रूप में सामने आया है । इस संदर्भ में वंदना टेटे का मानना है कि 'भाषा ही हमारी पहचान,अस्मिता,संस्कृति और इतिहास को बचाने वाली कड़ी है। यह हमारी सांस्कृतिक एकता का सबसे प्रमुख तत्त्व है। कोई भी भाषा गीत-संगीत और वाचिक

[212] आदि धरम, रामदयाल मुंडा, पृ. 51

अभिव्यक्ति भर नहीं होती बल्कि उसमें एक पूरी परम्परा,संस्कृति और जीवन-मूल्य समाहित होते हैं।"[213]

भाषाविद विद्वान clara nubile ने 'The danger of gender: caste,class and gender in contempory indian women writing' अपने लेख में भाषाई संदर्भ में अपनी बात रखते हैं-

'Language in India has a deep class and caste connotation: therefore, a conflictual relation with language becomes a conflict of identities…choosing a literary language is metaphor for choosing a Distinctive identity-not only cultural, but also social. In Indian subcontinent, the question of language in the wake of post A Colonial theories is still relevant and it is a hot issue in the literary and linguistic fields."[214]

भाषाई आंदोलन मुख्यधारा से अपने अधिकार प्राप्त करने की लड़ाई का रहा है। हिन्दी पट्टी में अनेक नाम आते हैं जिनमें रामविलास शर्मा की पुस्तक 'भाषा और समाज' का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इस संबंध में रमणिका गुप्ता रामविलास शर्मा की पुस्तक का हवाला देती हुई लिखती हैं-"रामविलास शर्मा की हिन्दी जातीयता की अवधारणा से सबसे बड़ा खतरा पैदा हुआ, इन बोलियों के अस्तित्व को। इससे सबसे बड़ा धक्का लगा ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, मगही, कन्नोजी, बागड़ी, कुरमाली, नागपुरिया आदि भाषा/बोलियों के भाषा होने के दावे

[213] आदिवासी साहित्य:परम्परा और प्रयोजन, वंदना टेटे, पृ. 64

[214] clara nubile,'The danger of gender: caste,class and gender in contempory indian women writing, Sarup & sons, 2003, page 82

को। हिन्दी की अवधारणा के चलते उनका आठवीं सूची में दर्ज होने का यह दावा हाशिये पर चला गया। वर्ष 2000 में केवल झारखण्ड में संताली भाषा की 147 पत्रिकाएँ निबंधित थीं तब संताली भाषा आठवीं सूची में दर्ज भी नहीं हुई थी। इस भाषा को आठवीं सूची में लाने के लिए लघु पत्रिकाओं के माध्यम से संघर्ष जारी रहा। अंततः संताली भाषा को साहित्य अकादमी ने मान्यता दी और अब भारत सरकार ने भी उसे आठवीं सूची में दर्ज कर लिया है। उसी प्रकार असम में असमी भाषा के अतिरिक्त, केवल आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली बोडो, कार्बी, राभा, गारो भाषाएँ हैं, जिनमें साहित्य रचा जा रहा है। इसी तरह भाषाई तौर पर इनमें भी कुछ शर्ते रखी गयी जो इस प्रकार से हैं-

- भाषा शिक्षा का माध्यम होना, यानी मातृभाषा में शिक्षा और विकास का पर्याप्त अवसर होना।
- उस भाषा में लिखित साहित्य रचा जाना और लोक साहित्य का संकलित होना।
- भाषा-भाषियों द्वारा अपनी भाषा को बराबर उपयोगी मानना।"[215]

इस तरह से आदिवासी भाषाओं के संरक्षण पर बात करते हुए प्रो.गणेश नारायण देवी ने भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण पर एक खाका तैयार किया है। गणेश देवी के अनुसार, "नौ करोड़ आदिवासी, छह करोड़ घुमंतू, यानी करीब 14-15 करोड़ आदिवासी लोग आज विकास के नाम पर विस्थापित किए जा रहे हैं। उनमें से एक-दो प्रतिशत 'क्रीमीलेयर' के लोगों ने सब कुछ हाईजैक कर लिया है। सरकार के पास

[215] आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता, पृ.63-64

इनकी भाषाओं के संरक्षण हेतु कोई ठोस योजना नहीं है। हमें यह समझना जरुरी है कि आदिवासी साहित्य, भारतीय साहित्य के सामने बड़ी चुनौती बनकर आ रहा है। इसका विस्तार कम से कम 90 भाषाओं में है,जबकि अंग्रेजी साहित्य एक भाषा का साहित्य है और यूरोपियन साहित्य 25 भाषाओं का हम जिसे 50 साल से भारतीय विश्वकोश कहते हैं उस पूरे कोश में 26 भाषाएँ ही हैं।"[216]

इस संबंध में मेघालय के कवि देजमंड खारमाफ्लांड ने अंग्रेजी वर्चस्व की चुनौतियों के समक्ष आदिवासी भाषाओं की अस्मिता के उभरते सवाल को अपनी कविता के माध्यम से उठाया है-

'मेरे अंग्रेजी ज्ञान का बोध
डसता है मुझे-सवाल करता है
ये ज्ञान जो बन गया है मकबरा
बघारता है शेखी
करता है निरंतर अट्टहास।"[217]

इस संदर्भ में मेघालय का अंग्रेजी कवि नग्नगोम तो कहता है कि वह समाज के लोगों की भीड़ में कविता नहीं सुना पाया क्योंकि वे लोग अंग्रेजी से वाकिफ नहीं थे। इसी के साथ राधा जनजाति का कवि निताई राभा अपनी जनजाति को सचेत करता हुआ कहता है कि वे अपनी ही भाषा बोलें-

'हमारी जबान भी कम नहीं किसी कदर
मिठास में
फिर क्यों करें हम दूसरों की नक़ल।"[218]

[216] युद्धरत आम आदमी, 'अखिल भारतीय आदिवासी साहित्य सम्मलेन' विशेषांक-80, संपा.रमणिका गुप्ता, पृ. 23-24
[217] आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता, पृ. 68
[218] आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता, पृ. 68

मातृभाषा के संकट को जसिंता केरकेट्टा ने अपने कविता संग्रह 'जड़ों की जमीन' में 'मातृभाषा की मौत' शीर्षक से कविता लिखी । इस कविता में कवयित्री ने ग्लोबलाइजेशन के दौर में आदिवासी भाषाओं में आने संकट को भांपकर चिंता प्रकट की है-

'माँ के मुँह में ही
मातृभाषा को कैद कर दिया
और बच्चे/उसकी रिहाई की माँग करते-करते
बड़े हो गए
मातृभाषा खुद नहीं मरी थी
उसे मारा गया था ।"[219]

पूर्वोत्तर का एक बहुत बड़ा तबका अंग्रेजी भाषाओं में अपना लेखन करता आया है,इससे आदिवासी समुदाय का एक वर्ग इस भाषा से इतना परिचित नहीं हुआ है । इसलिए भाषाई विभिन्नताएँ देखने को मिलती है । आदिवासी कवि महादेव टोप्पो ने अपनी कविता 'इतने छले गए हम' में दिखाया है कि बाहरी लोगों एवं घुसपैठियों ने उनकी संस्कृति, भाषा, जमीन, और उनकी औरतों को भी नहीं बख्सा । अलगाव व अविश्वास को भी महादेव टोप्पो ने अपनी कविता में यूँ बयाँ किया है-

'लड़के ने कहा/अपनी भाषा बोलने से
कोई अपना नहीं हो जाता

आप फटफटिया पर सवार

अजीबो-गरीब वेष-भूषा पहने

हो सकते हैं कैसे हमारे ?..."[220]

[219] जड़ों की जमीन, जसिंता केरकेट्टा, पृ. 20

[220] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता, (संपा.), पृ. 13

इसी तरह आदिवासी भाषाओं के रूप में ओली मिंज, ज्योति लकड़ा व आलोका कुजूर का नाम कविता लेखन में इसलिए उल्लेखनीय है कि आदिवासी जीवनानुभव को लेकर अपनी भाषा में प्रतिरोध दर्ज करते हैं।

निष्कर्ष

अत: कहा जा सकता है कि आदिवासी कविता का परिदृश्य व्यापक है, जिसमें कविता 'अस्मिता' की बात नहीं करती बल्कि आदिवासी जीवन की गहराइयों की पड़ताल बारीकी से करती है। आदिवासी कविता मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं के रूप में अपनी पहचान कायम करती है। आदिवासी कविता आदिवासी चेतना से प्रतिफलित होकर अस्तित्व व अस्मिता के सवाल को रेखांकित करती है। इसी 'अस्मिता' के अधिकारों के साथ कविता आगे बढ़ती हुई स्त्री जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं का बारीकी से अध्ययन करती है। आदिवासी संस्कृति का गहरा जुड़ाव श्रम से है। सौन्दर्य-बोध, नृत्य-गीत, परम्परा, सृजनात्मकता के मूल तत्त्व आदिवासी कविताओं में देखने को मिलते हैं। आदिवासी धर्म को आदिवासी मौखिक परम्पराओं में प्रचलित मिथकों के आधार पर भी समझा जा सकता है। आदि धर्म का मुद्दा आदिवासियों की अस्मिता और पहचान से जुड़ा हुआ है। आज आदिवासी अस्तित्व का संकट गहरा रहा है। हरिराम मीणा का मानना है कि 'मनुष्य ने मनुष्य को बहुत सताया है। स्त्री के रूप में आधी मानवता और दलितों के रुप में एक बड़ा वर्ग जीता जागता उदाहरण है हमारे सामने। अब बहुत कुछ लिखा और बोला गया है, इस बड़े शोषित दलित वर्ग के लिए। इसी में हम अब तक मानते रहे है आदिवासियों को भी।' यदि आदिवासी समाज की अस्मिता, उसके

मौलिक अधिकार, उसका अस्तित्व सुरक्षित रहेगा तो जंगल सुरक्षित रहेगा। जंगल सुरक्षित रहेगा तो प्रकृति बचेगी। प्रकृति बचेगी तो हमारा पारिस्थितिकी संतुलन बना रहेगा। इसलिए संसार का प्रत्येक आदिम समुदाय धरती को माँ तथा आकाश को पिता मानकर चलता है। क्योंकि आदिवासी दर्शन के लोकतत्त्व में ये सब चीजें पहले से मौजूद हैं। इसलिए हमें आदिवासी लोक को आदिम पुरखा दृष्टि से समझाना होगा। भूमंडलीकरण के दौर में अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा के लिए आदिवासी जन-समुदायों में एक ऐसा चिंतन आया है जिसमें उसकी पहचान जल, जंगल, जमीन के रूप में हुई है। इसके परिणामस्वरूप आदिवासी वाचिक परम्परा में प्राप्त 'हाशिए का साहित्य' में जो प्रतिरोध एवं विद्रोह का स्वर है वह आदिवासी लोक चेतना से प्रेरित है। आज भी विकास के नाम पर विस्थापन का दंश झेल रहे आदिवासियों में मुक्ति की आकांक्षा, समाज और संस्कृति में अपनी पहचान बनाने की चिंता दिखाई देती है। आदिवासी कविता में स्त्री अस्मिता विविध रूपों में अपने होने का बोध कराती है। वैसे वैश्वीकरण ने दुनिया भर में विस्थापन की जिस अमानवीय प्रक्रिया को तेज किया है, उससे हमारा आदिवासी समाज सांस्कृतिक अस्मिता के संकट से जूझ रहा है। लेकिन विकास की तमाम योजनाओं के बावजूद कथित मुख्यधारा का समाज आदिवासी दुनिया से अनभिज्ञ है। कथित मुख्यधारा की ज्ञान परम्परा में आदिवासी दुनिया अपने स्वाभाविक रूप में बहुत कम दिखाई देती है। आदिवासी समाज की दुनिया अपने स्वाभाविक रूप में अपनी मातृभाषाओं में मौजूद है। उनके वहाँ गीत, कथाओं, लोककथाओं, मुहावरों, पहेलियों आदि में ज्ञान, विज्ञान, दर्शन के स्रोत बड़ी मात्रा में विद्यमान है।

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी की आदिवासी कविता : आदिवासी जीवन-दृष्टि

4.1. आदिवासी जीवन दृष्टि : मूल्यबोध

4.1.1. समतामूलक समाज

4.1.2. आदिम समाज में समानता एवं स्वतंत्रता के मूल्य

4.1.3. जनतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता

4.1.4. सामंतवादी मूल्यों का क्षरण

4.1.5. पूँजी का अभाव

4.2. गैर-आदिवासी कविता लेखन : जीवन दृष्टि

4.2.1. रोमानियत दृष्टि

4.2.2. यथार्थवादी दृष्टि

चौथा अध्याय

हिन्दी की आदिवासी कविता : आदिवासी जीवन-दृष्टि

प्रस्तावना-

वेबर ने 'हिस्ट्री ऑफ़ फिलोसफी' में कहा है, "दर्शन विश्व तथा जीवन को उनकी समग्रता में समझने का एक प्रयास है'। इसका अर्थ उस जिज्ञासा से है जिसके तहत मनुष्य स्वयं को और दुनिया को जानने और समझने की कोशिश करता रहा है। पाश्चात्य दर्शन इसी मूल प्रवृत्ति के कारण खोज और वैज्ञानिक तर्क-पद्धति का अनुसरण करती है। जबकि भारतीय दर्शन बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता की बजाय सांसारिक दुखों से मोक्ष पाने के लिए आध्यात्मिकता की राह पकड़ती है। भारतीय दर्शन का प्रारम्भ जिज्ञासा से नहीं हुआ है। इसका प्रारम्भ एक व्यावहारिक समस्या से हुआ है और वह समस्या है जीवन तथा जगत में व्याप्त असीम दुःख से छुटकारा पाना।...एक पद्धति भेद में भी है। पाश्चात्य दर्शन की पद्धति मुख्यतः बौद्धिक है। इसमें बौद्धिक तर्क-वितर्क, विचार-विमर्श के द्वारा यह समझने की चेष्टा की जाती है कि विश्व तथा जीवन का मौलिक स्वरूप क्या है ? परन्तु भारतीय दर्शन की पद्धति(परम सत्ता से) प्रत्यक्ष अनुभव की पद्धति है। विश्व को समझने की चाहे जो भी पद्धति हो और उसका जो भी लक्ष्य हो, इतना स्पष्ट मालूम पड़ता है कि विश्व और जीवन के स्वरूप को समझने के प्रयास को ही पारम्परिक रूप में भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही मतों में दर्शन माना गया है।"[221]

[221] तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा, अशोक कुमार वर्मा, पृ. 4-5

इस संदर्भ में वंदना टेटे आदिवासी दर्शन की व्याख्या समग्रता में करती है। इसलिए वे आधुनिकता और आदिवासियत दोनों को समग्र रूप में देखती हैं। उनका मानना है कि 'आदिवासी 'होड़'(इंसान) समाज नैसर्गिक रूप से गेय है और उसका मानस प्रकृति की ध्वनियों और उससे उत्पन्न सांगीतिक विरासत से अलग नहीं हुआ है। 'होड़' लोग गेयता और लयात्मकता में जीते हैं जो उन्होंने प्रकृति और श्रम के साहचर्य से सीखा है। वास्तव में आदिवासी कविताओं की मूल प्रकृति 'गीत' की है, जिसका रचयिता कोई एक नहीं बल्कि पूरा समुदाय है। जिसमें संगीत और नृत्य की अनिवार्य मौजूदगी होती है और जिनके बिना गीतों का कोई अस्तित्व नहीं रहता। आदिवासी गीत एवं कविताएं सृजन की इस सांगीतिक परम्परा को अपने साथ लेकर चलती हैं।"[222] हमारे सामने सबसे पहले यह सवाल आता है कि आदिवासी जीवन दर्शन क्या है और इसे जानना क्यों जरुरी है? विश्व में एक आदिवासी दर्शन ही है जो कि सबसे ज्यादा मानवीय माना जाता है। यूरोप के लोग जो दुनिया में सबसे ज्यादा विकसित है, वे कह रहे हैं कि हमें आदिवासी जीवन दर्शन को अपनाना होगा। क्योंकि आज उनको ग्लोबल वार्मिंग ने ऐसा कहने के लिए मजबूर कर दिया है। सवाल यह भी उठता है कि आदिवासी दर्शन किसे माना जाना चाहिए और आदिवासी दर्शन क्या है? आदिवासी दर्शन सिखाता है कि प्रकृति के साथ जीना सीखो। प्रकृति का उतना ही उपयोग करना चाहिए जितनी की हमें आवश्यकता होती है। ग्लैडसन डुंगडुंग का मानना है कि 'यूरोप ने शायद यह कन्फेशन कर लिया है कि उसने लालच के लिए प्रकृति का सबसे अधिक दोहन किया है।' उन्हें तब अहसास हुआ जब सबकुछ खत्म हो गया। जबकि आदिवासियों को यह सीख बहुत पहले ही

[222] आदिवासी दर्शन और साहित्य, वंदना टेटे, पृ. 41

मिल चुकी थी। इसलिए आदिवासी दर्शन कहता है कि प्रकृति को बचाओ। यदि प्रकृति बची रहेगी तो तुम भी बचे रहोगे।

इस संबंध में सावित्री बड़ाईक का मानना है कि 'आदिवासी जीवन दृष्टि जीवन मूल्यों पर आधारित है। जिसमें समानता, सहभागिता, सामुदायिकता और सहअस्तित्व को महत्त्व दिया जाता है। प्रकृति के साथ लगाव-जुड़ाव रहने के कारण आदिवासियों में ही सहअस्तित्व के सूत्र खोजे जा सकते हैं' । श्रेष्ठ जीवन-मूल्य पर आधारित आदिवासी साहित्य के क्षेत्र में कई नाम उभरकर सामने आए हैं। इनमें प्रमुख है- रामदयाल मुंडा, निर्मला पुतुल, रोज केरकेट्टा, सुशीला सामद, हरिराम मीणा, अनुज लुगुन आदि। इनकी कविताओं से संवाद करना आदिवासी जीवन मूल्यों, दर्शन को नजदीकी से समझना है। आदिवासी गीतों, कहानियों में आदिवासी जीवन-दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है। आदिवासी एक ऐसा समाज हैं, जिसके मूल्यों का न ह्रास हुआ है, न उनमें कोई विकार पैदा हुआ है। आदिवासी समाज हमेशा से ही सामूहिक जीवन जीता रहा है। आदिवासी का ही एक ऐसा समाज है जो प्राचीनकाल से प्रकृति को बचाए रखने के साथ-साथ सहजीविता, सहभागिता से जीवन जीने में विश्वास करता है। इनके समाज में स्त्री-पुरुष में कोई भेदभाव नहीं किया जाता है, दोनों अपने समान अधिकार के साथ जीते हैं। आदिवासी प्रकृति संरक्षण की बात करता है क्योंकि वह प्रकृति का सहजीवी है।

आदिवासियों के जीवन दर्शन के अंतर्गत सामुदायिकता की भावना विशेष महत्त्व रखती है। वे समूह में रहते हैं और उनकी भाषा और संस्कृति प्रकृति तत्वों के रूप में मौजूद रहते हैं। क्योंकि प्रकृति पर ही इनका धर्म, पर्व-त्यौहार, संस्कृति आदि

आधारित है। प्रकृति के बिना इनका कोई अस्तित्व नहीं होता। इस संदर्भ में हेराल्ड एस. तोपनो ने कहा है-"भूमि को ही लें, यह उनके लिए जमीन का टुकड़ा भर नहीं होता है। भूमि के साथ उनकी भावनाएं जुड़ी होती हैं। आदिवासियों के लिए उनकी पारम्परिक जमीन प्रतीकात्मक और भावनात्मक मायने रखती है। उनके पूर्वजों को उनकी जमीन में ही दफनाया जाता है। किली की शुरुआत उसी जमीन से माना जाता है और अन्य पवित्र विशेषता भी जुड़ी होती है। जमीन के संबंध में आदिवासियों की अवधारणा को बाहरी लोग समझ नहीं पाते। भूमि का स्वामित्व सामूहिक होता है। किसी आदिवासी को यह अधिकार नहीं है कि जमीन को स्थायी रूप से समुदाय से अलग कर सके। आदिवासी ही जमीन की न्यासधारी होते हैं। इनमें जीवित आदिवासी नहीं होते बल्कि उनके पूर्वज और आने वाली पीढ़ियों का अधिकार होता है। उनका समाज, संस्कृति , धर्म , पहचान यहाँ तक उनका अस्तित्व भी जमीन से जुड़ा होता है।"[223] इस संदर्भ में जोवाकिम तोपनो का मानना है कि 'आदिवासी धर्म-दर्शन में प्रकृति को ही महत्त्व दिया जाता है। प्रकृति में ही आदिवासियों की धार्मिकता और आध्यात्मिकता का भाव अंतर्निहित होता है ।' इसलिए डॉ. रामदयाल मुंडा कहते थे-'हम उनसे भी ज्यादा आधुनिक हैं जो आज के ही दिन प्रकृति की रक्षा करने की बात कर रहे हैं। हम तो प्राचीनकाल से ही प्रकृति को महत्त्व देते आ रहे हैं। झारखण्ड में रहने वाले आदिवासियों का विश्वास प्राकृतिक शक्तियों पर आधारित है। यहाँ के उरांव, मुंडा, संताल, हो, खड़िया आदिवासियों ने भले ही अपने ईश्वर का नामकरण अलग-अलग जरुर किया है परन्तु सभी का विश्वास यही है कि सृष्टि में जो सर्वोच्च सत्ता है, वह प्रकृति में निहित है। ये सखुआ या साल के पेड़

[223] उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, संपा. अश्विनी कुमार पंकज, पृ. 52

के नीचे और करम की डाली को गाड़कर पूजा-अर्चना करते हैं।'[224] जब हम प्रकृति दर्शन की बात करते हैं तो उसमें आदिवासी के विविध तत्व की बात आती है। क्योंकि आदिवासी समुदाय जिस परिवेश में रहता है और उसके आसपास का जो वातावरण रहता है वह प्रकृति से जुड़ा हुआ है। वह हमेशा अपनी जीवन-शैली में प्रकृति के तत्वों को आत्मसात कर लेता है। आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति सम्मान का भाव निहित होता है। पुरखों के कला-कौशल और ज्ञान-विज्ञान और मानवता के अनुभवों के प्रति आदिवासी रचनाकार अपनी संवेदना व्यक्त करता है। क्योंकि उससे पृथक् आदिवासी परम्परा और संस्कृति के निर्माण के द्वारा आदिवासी अस्मिता के स्वरूप का निर्धारण होता है। आदिवासी दर्शन परलोक की बजाय सम्पूर्ण जीव-जगत को बहुत आवश्यक मानता है। आदिवासी जीवन दृष्टि के अनुसार दुनिया का हर मनुष्य और उसका जीवन बराबर महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हमें उन सबको बचाना जरुरी है। और साथ ही जल, जंगल, पहाड़, नदी, नाले आदि को भी बचाना जरुरी है तभी हम प्रकृति दर्शन को बचा सकते हैं। यदि प्रकृति ही नहीं रहेगी तो सम्पूर्ण मानवता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। आदिवासी दर्शन दुनिया भर में फैली बाजारवादी लालसा और हिंसा को नकारता है और मानवता का संदेश देता है। आदिवासी दर्शन की एक जरुरी बात यह है कि वह जीवन के प्रति अदम्य जिजीविषा का भाव रखता है। जब चारों ओर निराशा का माहौल हो तो आदिवासी दर्शन ही जीवन को आनंदमय और जीने की वकालत करता है। आदिवासी जीवन में सांस्कृतिक विविधता के साथ सहजता और सरलता का बेजोड़ नमूना देखने को मिलता है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का मानना है कि 'आदिवासी

[224] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 68

साहित्य की शुरुआत ही जीवन से होती है, प्रकृति से होती है और ये दोनों यथार्थ से जुड़े हैं।' आदिवासी साहित्य जीवन से जुड़ा हुआ साहित्य है। आदिवासी अदम्य परिस्थितियों में संघर्ष करके सदियों से अपने आदिम मूल्यों का संरक्षण करता आया है। आदिवासी समाज अपने अस्तित्व को ही नहीं बल्कि अपनी संस्कृति, भाषा और जीवन-शैली को मूल रूप में बरकरार रखते हुए अपना कर्तव्य निभा रहा है। इसलिए उसके साहित्य की विषयवस्तु का रूप विद्रोही भावना का स्रोत बनकर परिवर्तनकामी सोच को मूर्त रूप देने का काम कर रहा है। और ज्ञान-विज्ञान से जुड़ने के साथ ही अपनी अस्मिता और अस्तित्व को कायम करते हुए समय के साथ अपने मूल्यों को सुरक्षित रखने की बात करता है।

इस संदर्भ में कविता दृष्टव्य है-

'साखू फूल रहा है/झूम-झूमकर फूल रहा है
नई कोंपले फूट रही हैं/गहगहाकर फूट रही है।'[225]

इस दर्शन की मौखिक परम्परा में गीत प्रकृति और सृष्टि के मूल तत्वों का वर्णन मिलता है। क्योंकि यह निरंतर चलने वाली एक सृजनात्मक मौखिक प्रक्रिया है जो मानवीय क्रियाकलापों में सहयोग की भूमिका का निर्माण करती है। आदिवासी दर्शन में समानता, सहअस्तित्व , सहजीविता, सहभागिता और सामूहिकता के तत्व मौजूद रहते हैं। प्रकृति ही आदिवासी समाज का सबकुछ है। उसी से ही उसका जीवन-दर्शन संचालित रहता है । क्योंकि आदिवासियों के जीवनदर्शन को आदिवासी ही भलीभांति समझ सकता है। यही कारण है कि आदिवासी लेखकों ने

[225] बांसुरी बज रही है , जगदीश त्रिगुणायत, पृ. 172

अपनी कविताओं में आदिवासी दर्शन की बात कही है। आदिवासी दर्शन का मूल तत्व क्या है इसका जिक्र रांची के घोषणा-पत्र में है-"

- प्रकृति की लय-ताल और संगीत का जो अनुसरण करता हो।
- जो प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और गरिमा का सम्मान करता हो।
- जिसमें पुरखा-पूर्वजों के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आभार हो।
- जो समूचे जीव जगत की अवहेलना नहीं करें।
- धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करता हो।
- जिसमें जीवन के प्रति आनन्दमयी अदम्य जिजीविषा हो।
- जिसमें सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हो।
- जो धरती को संसाधन की बजाय मां मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक मानता हो।
- जिसमें रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि का विशेष आग्रह न हो।
- जो हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ़ हो।
- जो सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना दार्शनिक आधार मानते हुए रचाव-बचाव में विश्वास करता हो।
- सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति जिसका प्रबल स्वर-संगीत हो।

➢ भाषाई व सांस्कृतिक विविधता और आत्मनिर्णय के पक्ष में हो।"[226]

इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि आदिवासी जीवन दर्शन में व्यापकता का संदेश निहित होता है जो प्रकृति के समूचे तत्वों को समग्रता में देखता है । आदिवासी जीवन-दर्शन के संबंध में रोज केरकेट्टा का मानना है कि 'आदिवासियों का जीवन दर्शन है क्या और उनका जीवन दर्शन साहित्य के रूप में किस प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है ? गैर-आदिवासी साहित्य के रचनाकार आदिवासियों के साहित्य में उनके जीवन दर्शन को ढूंढने की कोशिश कर रहे हैं।' इस संबंध में यह माना जा सकता है कि आदिवासियों के पास लिखित लिपि नहीं थी । इसलिए जो भी साहित्यिक परम्परा रही है वह लिखित रूप में मौजूद नहीं था । इस संदर्भ में रोज केरकेट्टा का मानना है कि जीवनदर्शन और आजीविका का गहरा संबंध है । और आदिवासियों की आजीविका श्रम पर आधारित रही है । चाहे वो खेत में हैं चाहे वो जंगल में हैं । लेकिन वो श्रम करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं ।

4.1. आदिवासी जीवन दृष्टि : मूल्यबोध

आदिवासी जीवन दृष्टि के मूल्यबोध की परम्परा पर बात करते हुए आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी दृष्टि में सहजीविता, सहअस्तित्व के प्रमुख सूत्रों की बात की है । उनका मानना है कि क्या आदिवासी परम्पराओं की आज की आधुनिक दुनिया में अपनी कोई प्रयोजनमूलकता नहीं है ? आदिम धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज और सांस्कृतिक परम्पराओं का आदिवासी समाज में क्या स्थान है ? असमानता और भेदभाव से जूझती दुनिया को पछाड़कर समतामूलक समाज बनाया

[226] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 140

जा सकेगा ? इन सब सवालों को हमें आदिवासी दृष्टि से समझने की जरुरत है। इसे समझने के लिए हमें आदिवासी 'लोक' को समझना होगा जो आदिवासी समाज में मौखिक परम्परा में मौजूद है। इस संदर्भ में न्गूगी वा थ्योंगो कहते हैं-'मौखिक परम्परा बहुत समृद्ध और बहुआयामी है...यह कला कल समाप्त नहीं हो गई, यह एक जीवंत परम्परा है...मौखिक साहित्य से अगर परिचय हो तो नई संरचनाओं और तकनीकों की जानकारी मिलती है, इससे ऐसी मानसिक प्रवृत्ति का भी निर्माण होता है जो नए-नए रूपों के साथ प्रयोग करने को प्रेरित करती है।"[227] आदिवासी दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी सामूहिकता है। वहाँ व्यक्तिवाद के लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ आदिवासी दर्शन में व्यक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं होता है बल्कि पूरे समुदाय की सहभागिता ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है । आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव में विश्वास रखता है। इसलिए इसमें स्वानुभूति एवं सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर-संगीत सुना जा सकता है । सामूहिक अनुभूति आत्मकथा में नहीं गीतों में ही मौजूद होती है। जबकि आदिवासी समाज में साथी चुनने का अधिकार पहले से ही मौजूद रहा है, घोटुल और धूमकुरिया आदि की समृद्ध परम्परा इसका साक्ष्य प्रमाण के रूप में उपलब्ध है। वेरियर एल्विन ने भी इस पर अच्छा अध्ययन किया है। इनके समाज में लिंगगत भेदभाव देखने को नहीं मिलता है । इस संदर्भ में वीर भारत तलवार ने अपनी पुस्तक 'झारखण्ड के आदिवासियों के बीच' में इसका जिक्र भी किया है। उनका मानना है कि 'मुंडाओं का सामाजिक संगठन बहुत ही शक्तिशाली रहा है और उसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता

[227] न्यूगी वा थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, अनु. आनन्दस्वरूप शर्मा, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 1989, पृ. 152

नहीं के बराबर रही है।' इससे साफ़ जाहिर होता है कि यहाँ सामूहिकता का स्वरूप सामंती नहीं बल्कि बराबरी पर आधारित होता है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का मानना है कि आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है। आदिमों के सर्वांगीण विकास को लेकर यह साहित्य स्थापित तथाकथित समाज व्यवस्था के प्रतिमान को चुनौती दे रहा है। साथ ही यह आदिमों की सामाजिक रचना और एकात्म जीवन का विचार भी रखने लगा है। इस आदिवासी साहित्य का मानना है कि आदिम समूहों में वर्गरहित, जातिरहित समाज व्यवस्था का ढांचा बनना चाहिए। ऐसे जीवन मूल्य आदिवासियों के थे ही नहीं, इसलिए उन्हें कभी भी नहीं स्वीकारना चाहिए। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं 'आदिवासी साहित्य के मुख्य स्रोत प्रकृति, संस्कृति और इतिहास हैं। वे प्रकृति, नदी, वृक्ष और पशु-पक्षियों से निकटता पसंद करते हैं। यह उनकी कविताओं में नज़र आता है। उनकी परम्पराएं, रीति-रिवाज, धार्मिक उत्सव, त्यौहार और देवी-देवता भी उनके लेखन को प्रेरित करते हैं। उनका प्राचीन गौरवशाली इतिहास, क्रमिक विस्थापन और शोषण तथा अन्याय के प्रति उनका वर्तमान विद्रोह, उनके लेखन का तीसरा स्रोत है। प्राकृतिक प्रतीकों तथा जनजातियों भाषाओं के बोल और लय के प्रयोग उनके लेखन को विशिष्ट बनाते हैं।"[228]

4.1.1.समतामूलक समाज

समता का अर्थ-बराबरी, तुल्यता, संतुलन है।

समता का अधिकार वैश्विक मानवाधिकार के लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के अनुसार विश्व के सभी लोग विधि के

[228] आदिवासी समाज और साहित्य, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 18

समक्ष समान हैं अत: वे बिना किसी भेदभाव के विधि के समक्ष सुरक्षा पाने के हकदार हैं।

"भारतीय संविधान के अनुसार, भारतीय नागरिकों को मौलिक अधिकारों के रूप में समता/समानता का अधिकार(अनु.18 से 28 तक) प्राप्त है :

- अनुच्छेद 14 -विधि के समक्ष समानता।
- अनुच्छेद 15 -धर्म, वंश, जाति, लिंग और जन्म स्थान आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा।
- अनुच्छेद 15(4)-सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए उपबन्ध।
- अनुच्छेद 16 -लोक नियोजन के संदर्भ में अवसर की समानता।
- अनुच्छेद 17 -छुआछूत (अस्पृश्यता) का अंत कर दिया गया है।
- अनुच्छेद 18 -उपाधियों का अंत कर दिया गया है।

भारतीय संविधान अनु.14 से लेकर अनु.18 तक प्रत्येक व्यक्ति को समता का अधिकार प्रदान करता है। ये समता का अधिकार भी दो भागो में विभक्त है । जो निम्नलिखित हैं-

- विधि के समक्ष समता अथवा विधियों के समान संरक्षण का अधिकार
- अनु.14 कहता है कि भारत राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायेगा। ये अनुच्छेद दो वाक्यांश समेटे है जिनमें एक है-विधि के समक्ष समता और दूसरा है विधियों का समान संरक्षण।

- विधि के समक्ष समता का तात्पर्य व्यक्तियों के बीच पूर्ण समानता से नहीं है। क्योंकि ऐसा संभव भी नहीं है इसका तात्पर्य केवल इतना है कि जन्म,मूलवंश ,आदि के आधार पर व्यक्तियों के बीच विशेषाधिकारों को प्रदान करने और कर्तव्यों को अधिरोपण करने में कोई विभेद नहीं किया जायेगा.तथा प्रत्येक व्यक्ति देश की साधारण विधि के अधीन होगा।
- विधियों का समान संरक्षण का अर्थ है कि समान परिस्थिति वाले व्यक्तियों को समान विधियों के अधीन रखना तथा समान रूप से लागू करना, चाहे वे विशेषाधिकार हो या दायित्व हों । इस पदावली का निर्देश है कि समान परिस्थिति वाले व्यक्तियों में कोई विभेद नहीं करना चाहिए और उन पर एक ही विधि लागू करनी चाहिए अर्थात् यदि विधान की विषयवस्तु समान है तो विधि भी एक ही तरह की होनी चाहिए ।
- विधि के समक्ष समता की गारंटी उसी के समान है जिसे इंग्लेंड में विधि शासन कहते हैं, जिसका अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति विधि से ऊपर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसकी अवस्था या पद जो कुछ भी हो देश की सामान्य विधियों के अधीन है और साधारण न्यायालयों की अधिकारिता के भीतर है । राष्ट्रपति से लेकर देश का निर्धन से निर्धन व्यक्ति समान विधि के अधीन है और बिना औचित्य के किसी कृत्य के लिए समान रूप से उत्तरदायी है इस सम्बन्ध में सरकारी अधिकारियों और साधारण नागरिकों में विभेद नहीं किया जाता है।

अत: स्त्री-पुरुष समता का अर्थ है, एक दूसरे की क्षमताओं और सीमाओं को समझते हुए बराबरी का व्यवहार। यह जरूरी नहीं कि स्त्रियाँ, पुरुषों के सारे काम बराबरी से

करने लगें। मातृत्व के दायित्वों के कारण स्त्री, पुरुष से भिन्न जरूर है, मगर कमतर नहीं। दोनों के बीच मूल अंतर तो दोनों के प्रजनन अंगों की भिन्नता मात्र है। हर जीव, जगत अपनी प्रजाति की निरंतरता बनाता है यही विकास है। प्रारंभ में अमीबा है जो अपने शरीर को विखंडित कर नया जीवन पाता है। विकास के क्रम में पहले एक ही शरीर में नर मादा अंगों की उपस्थिति रहती थी। विकासक्रम में अधिक विकसित प्रजाति में नर मादा अलग अलग बने। अभी तक के विकास की उच्चतम संरचना मानव है। यहाँ नर मादा अलग हैं मगर दोनों मनुष्य हैं। बाद में दोनों की जिम्मेदारियाँ भिन्न हो गयीं, जो बहुत अस्वाभाविक नहीं है। दोनों साथ साथ विकास क्रम में यहाँ तक पहुँचे हैं। बराबरी की हैसियत से, न कोई पहले बना, न ऊँचा बना। मानव जगत में बुद्धि और विवेक के कारण विशिष्ट है, न कि प्रजनन अंगों के कारण। प्रकृति की निरंतरता के लिए अलग अलग नर मादा बने जिनमें बाकी सारी विशिष्टताएं साथ साथ विकसित हुईं। मगर जीवन के संघर्ष के साथ सत्ता की पिपासा और सत्ता का मद भी पैदा हुआ, जिसमें अपने गर्भधारण की जिम्मेदारियों के कारण औरतें पीछे धकेल दी गई। तब से आज तक सदियों से औरत हर क्षेत्र में गैरबराबरी और अन्याय झेलती रही है। धीरे धीरे समाज में यह धारणा बनती और स्थापित होती गयी कि वह हर स्तर पर पुरुष से निम्न है, कमतर है और आज स्थिति यह है कि उसकी कोई जाति नहीं, उसका कोई धर्म नहीं, पहचान नहीं, यहाँ तक कि कोई नाम तक नहीं वह फलाने की बेटी है, फलाने की बहू है। उसकी कोई संपत्ति नहीं और यह भेदभाव पूरी दुनिया में व्याप्त है। मगर समता का सपना तो अपनी जगह बना हुआ है। हर इंसान सपने देखता है, खुद को आगे बढ़ाने का, ज्ञान और सम्मान

पाने का। अपनी इच्छाओं को पूरा करने की क्षमता अर्जित करने का, स्त्री भी सपने देखती है। क्योंकि वह भी इंसान है, मगर पुरुष ने स्त्री को कमतर मान लिया है। स्त्री को भी बाध्य किया है कि वह इसे ही सच माने और आज की दुनिया सामने है। जहाँ स्त्री एक अलग जाति बन गई जो न विचार करती है, न फैसले लेती है, और न ही सपने देखती है। वह बस पुरुषों के सुख के लिए पैदा की गई है। वह गरीबों से गरीब है, सवर्ण परिवार में भी शूद्र है, असहाय है , पुरुषों की इच्छा से रानी या दासी है। मगर औरतों को अपनी स्थिति बदलनी ही है। उसे हर हालत में समझना है कि वह भी इंसान है। उसे भी हक है नाम का,पहचान का, संपत्ति रखने का, सपने देखने का और उसे पूरा करने का। दहेज और बलात्कार के खिलाफ उसे आगे आना होगा। विवाह की अनिवार्यता को नकारना होगा। खुद को मिट्टी की हांडी या अपवित्र होने की धारणा को नकारना होगा। बराबरी के लिए स्त्री को पहले खुद को सम्मान देना होगा। वह अपनी कद्र करेगी, अपने जीवन, अपनी इच्छाओं को महत्त्व देगी। फैसले लेगी और अपने फैसलों को इज्जत देगी, सक्षम बनेगी। समता आधारित समाज की ओर बढ़ने के लिए स्त्रियों को गुलामी का आसान रास्ता छोड़ना होगा और जीवन संघर्ष में उतरना होगा। श्रम, योग्यता और शिक्षा के साथ समाज मे अपनी उपादेयता साबित करनी होगी। बेटियाँ असहाय और पराश्रित होने के बोझ से मुक्त होकर दोस्ती, खुलेपन और प्रतियोगिता से विकास पायेंगी, बेटे उच्चता ग्रंथी से मुक्त होंगे। सभी एक दूसरे के सहयोगी होंगे, मगर स्त्रियों को अपनी जिम्मेदारी खुद उठाने योग्य बनना होगा। अपना, अपने माता पिता का और बच्चों का भी तभी तो इन सब पर उनका हक भी होगा. परिवार का आधार प्रेम और सहयोग होना चाहिए। निष्ठा और

त्याग के नाम पर औरतों के इंसानी वजूद का विसर्जन स्थल नहीं। जीवन अनमोल और सुंदर है, उसे उजाड़ नहीं बनाना है। परिवार , बच्चे और स्त्री पुरुष के बीच का प्रेम, इनसे दुनिया वंचित न हो मगर इनकी कीमत औरतों की गरिमा और मानवीयता की हत्या भी न हो। स्त्री पुरुष समता के लक्ष्य के लिए सबको कुछ खोना होगा, मगर जो प्राप्त होगा वह असाधारण होगा, अनुपम होगा।

'म्होरिकी' को आदिवासी कवियों के पहले प्रतिनिधि काव्य-संग्रह के रूप में देखना चाहिए। इस कविता में आने वाले समय में समता के लिए होने वाले निर्णायक युद्ध के लिए आह्वान हुआ है। इसलिए दुखी मन से इस महाकाय शहर का नायक कहता है-

'मैं बोलना जानता हूँ क्रांति की भाषा
पर यहाँ तो सुखकर डबरा बने वीरान पेट में
कुछ भी नहीं था
इसलिए मेरी क्रांति की भाषा का
हो गया है गर्भपात।"[229]

यहाँ की न्याय व्यवस्था आदिवासियों को न्याय नहीं दे सकती। यहाँ का कानून बराबरी पर आधारित होने के बावजूद भी, न्याय देने वाले व्यक्ति की संकुचित मानसिकता के कारण जलकर कोयले के समान दुर्बल हो चुके व्यक्तियों को मकड़ी के जाले के समान फँसाने में इस्तेमाल होता है। इसका कारण यहाँ की गैर-बराबरी आधारित व्यवस्था है। इसलिए इस संदर्भ में बराबरी के लिए आदिवासी रक्त-रंजित क्रांति को पसंद करते हैं-

[229] आदिवासी साहित्य यात्रा, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 55

‘जख्मों से जागता हूँ मैं

जख्म ही जगाते हैं मुझे

मानवता की राह पर चलना

जख्म ही दिखाते हैं मुझे ।”[230]

स्वतंत्रता, समता के मूल्यों को स्वीकार करने वाली यह समझदारी है कि अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए । अब तक बहुत जुल्म सहन किए, इन जुल्मों के भीतर से विद्रोह जन्मा है। कवयित्री आह्वान करती हैं-

‘मूक पशुओं का शिकार छोड़

अन्यायी सेठों पर निशाना लगा

जंग चढ़ी तलवारों को तेज करके

समय देख कर चलना भी सीख ।”[231]

आदिवासी समाज समता, भाईचारे में विश्वास रखता है, यह उसकी दृष्टि का मूल्यबोध है । इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता की मान्यता है कि भारतीय संस्कृति में भेदभाव, जातीय स्पृश्यता-अस्पृश्यता, वर्चस्ववाद, श्रेष्ठता का दंभ और अश्रेष्ठता का क्षोभ व्याप्त है। उसके खिलाफ मुख्यधारा में विद्रोह हो रहा है। जो बोडो-जन हिन्दू संस्कृति में समायोजित हुए, उनके प्रति बोडो समाज में काफी रोष है । हिन्दू धर्म अपनाने पर हिन्दू समाज के लोग इन्हें छोटी जाति का मानकर, इनसे अलगाव ही

[230] आदिवासी साहित्य यात्रा, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 59

[231] आदिवासी साहित्य यात्रा, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 59

नहीं रखते थे, बल्कि इनसे छुआछूत भी बरतते थे। इस पर कटाक्ष करते हुए लिखा हैं-

'ओ 'अधिकारी' लाज नहीं आती तुम्हें ?
क्या भूल गए हो तुम
निगाहों में भरी वह नफ़रत
क्या इस नफरत को करते हो महसूस ?..

तुम एक तुच्छ हेय वस्तु/याद है तुम्हें

पानी छिड़का हुआ अपना बैठने का तख्ता ?

वह काला बरतन /जिसमें पिलाया जाता है तुम्हें पानी ?

महसूसते हो न इस जुगुप्सा को ?"[232]

आदिवासी साहित्य की परम्परा में मूल और पक्का विभाजन यही है कि वे अपने स्वतंत्र अस्तित्व की बात नहीं करते बल्कि पूरे समुदाय के यानी आदिवासी लोक परम्परा की बात करते हैं। इसलिए उनके साहित्य के केंद्र में व्यक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं होता बल्कि 'समूह' महत्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि गैर-आदिवासी लेखन के केंद्र में 'समूह' को छोड़कर वे 'व्यक्ति' को केंद्र में रखकर चिन्तन करते हैं। बल्कि यहाँ आदिवासी लेखन की परम्परा में समूह का गुण विद्यमान है।

4.1.2.आदिम समाज में समानता व स्वतंत्रता के मूल्य

सामाजिक संदर्भों में समानता(equality) का अर्थ किसी समाज की उस स्थिति से है जिसमें उस समाज के सभी लोग समान अधिकार या प्रतिष्ठा(status) रखते हैं। सामाजिक समानता के लिए 'कानून के सामने समान अधिकार' एक

[232] आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता पृ. 105

न्यूनतम आवश्यकता है जिसके अंतर्गत सुरक्षा, मतदान का अधिकार, भाषण की स्वतंत्रता, एकत्र होने की स्वतंत्रता, संपत्ति अधिकार, सामाजिक वस्तुओं एवं सेवाओं पर समान पहुँच आदि आते हैं। सामाजिक समानता में स्वास्थ्य समानता, आर्थिक समानता तथा अन्य सामाजिक सुरक्षा भी आती है। इसके अलावा समान अवसर तथा समान दायित्व भी इसके अंतर्गत आता है।

सामाजिक समानता(social Equality) किसी समाज की वह अवस्था जिसके अंतर्गत उस समाज के सभी व्यक्तियों को सामाजिक आधार पर समान महत्त्व प्राप्त हो। समानता की अवधारणा मानकीय राजनीतिक सिद्धांत के मर्म में निहित है। यह एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर करोड़ों-करोड़ों लोग सदियों से निरंकुश शासकों, अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्थाओं और अलोकतांत्रिक नीतियों के खिलाफ़ संघर्ष करते रहे हैं। इस लिहाज से समानता को स्थाई और सार्वभौम अवधारणाओं की श्रेणी में रखा जाता है। दो या दो से अधिक लोगों या समूहों की बीच संबंध की एक ऐसी स्थिति होती है जिसे समानता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। लेकिन, एक विचार के रूप में समानता इतनी सहज और सरल नहीं है, क्योंकि उस संबंध को परिभाषित करने, उसके लक्ष्यों को निर्धारित करने और उसके एक पहलू को दूसरे पर प्राथमिकता देने के एक से अधिक तरीके हमेशा उपलब्ध रहते हैं। अलग-अलग तरीके अख्तियार करने पर समानता के विचार की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं उभरती है। प्राचीन यूनानी सभ्यता से लेकर बींसवी सदी तक इस विचार की रुपरेखा में अरस्तू, हॉब्स, रूसो, मार्क्स आदि चिंतकों ने कई बार परिवर्तन किए हैं।

समानता किसी सीमा तक आधुनिक अवधारणा है। आज मानव-समाज आदमी-आदमी के बीच जिस तरह समानता की आवश्यकता महसूस करता है उस तरह उसने हमेशा महसूस नहीं किया है। पश्चिमी दुनिया में राजाओं को राज करने का दैवी अधिकार प्राप्त था ऐसा माना जाता था और ऐसा ही अपने-अपने क्षेत्रों की हद तक सामंतों के संबंध में भी समझा जाता था। यूनानी काल में समानता स्थापित करने की सीमित और बहुत कमजोर कोशिश की गई। आखिरकार सत्रहवीं सदी में यूरोप में अधिकारों और स्वतंत्रता की मांग उठने लगी और 18 वीं एवं 19 वीं सदियों में समानता की मांग की गई। शुरुआत में यह मांग व्यापारियों तथा व्यवसायियों में से नव-धनाढ्यों ने की, जिनका कहना था कि जब सामंतों और राजाओं के साथ-साथ उनके पास भी संपत्ति और आर्थिक रुतबा है तब उनका क़ानूनी दर्जा उनकी बराबरी का क्यों नहीं है ? उदाहरण के लिए **H.R. Tawny** के शब्दों में- Because inequalities were not the most important economic but there were legal inequalities, therefore not the inequality of property, but the first privilege was struck on legal privilege .... The primary goal of the reformers was to achieve legal equality, because it was understood that after getting it Economic equality will automatically be established to the desired extent."[233]

अठारहवीं सदी में मुख्य रूप क़ानूनी और राजनीतिक समानता के लिए आवाज उठाई गई और आखिरकार उन्नीसवीं सदी में नए श्रमिक वर्ग के उदय के

[233] R.H. Tawney, Equality, London,1952, p. 95

परिणामस्वरूप सामाजिक व आर्थिक समानता के लिए जोरदार मांग की गई ।19 वीं सदी में पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव ने एक ओर तो कुछ परिवारों के लिए धन का अंबार लगा दिया लेकिन साथ ही दूसरी ओर भारी गरीबी और आर्थिक असमानता को जन्म दिया । इसलिए आर्थिक समानता के लिए मांग उठी और यह काम किया मानववादियों ने, आदर्शवादी समाजवादियों ने और सकारात्मक उदारवादियों ने । आर्थिक समानता की यह मांग नकारात्मक राजनीतिक और क़ानूनी समानता के लिए नहीं, बल्कि सकारात्मक समानता के लिए थी और इसमें निजी संपत्ति पर अकुंश, अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर रोक का समावेश था। इस संबंध में अरस्तू के **'अथेनियन कॉन्स्टिट्यूशन'** में उन समतामूलक सुधारों के कई हवाले मिलते हैं जिनके आधार पर लोकतांत्रिक आदर्श की पैरवी की जा सके। कानून के आधार पर समानता का व्यवहार ही वह कसौटी था जिसके आधार पर लोकतंत्र कसा जा सकता था । लेकिन,प्राचीन एथेंस में इस समतामूलक दायरे से स्त्रियों, दासों को अलग रखा गया था। अरस्तू की रचना **'पोलिटिक्स'** में इस बहिर्वेशन का जिक्र भी किया है और उसे जायज भी ठहराया है। उनके लिए समानता का अर्थ था उस वर्ग के सदस्यों की समानता जिसे नागरिक कहा जाता था। वे न्याय को केवल उन लोगों के लिए सही मानते थे जो उनकी समानता के दायरे में आते थे। अरस्तू की समानता के अवधारणा की आलोचना करते हुए **हॉब्स** ने अपने ग्रन्थ **'लेवयाथन'** में प्रकृत अवस्था की संकल्पना करके उसके तहत हर व्यक्ति को समान ठहराया। हॉब्स का तर्क था कि 'जिस्म के लिहाज से कमजोर है, वह ताकतवर को योजना बनाकर मार सकता है और मस्तिष्क के स्तर पर अनुभव के जरिए हर व्यक्ति समान समझ विवेक

हासिल करने की क्षमता से सम्पन्न होता है।' हॉब्स की मान्यता थी कि अपनी सत्ता के एक हिस्से को राजनीतिक प्राधिकार के लिए छोड़कर ही व्यक्ति एक सभ्य और समतामूलक जीवन गुजार सकता है । मार्क्स ने अपना समानता संबंधी विचार उदारतावादी समानता की आलोचना के रूप में विकसित किया। वे मानते थे कि पूँजीवादी वर्ग समानता के विचार का अपने हित में इस्तेमाल करता है। मार्क्स का कहना है कि शासक वर्ग अपनी विचारधारा पैदा करता है ताकि आर्थिक शोषण की व्यवस्था जारी रखी जा सके। मार्क्स के अनुसार सामंतशाही में जो स्थान गौरव और निष्ठा जैसे विचारों का था, वही स्थान पूँजीवाद में समानता का है।

समानता एक बहुआयामी अवधारणा है। समानता एक सकारात्मक अवधारणा है। स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे के पूरक हैं। समानता के अर्थ से संबंधित शब्द समान लोगों के साथ समान व्यवहार, विकास के लिए समान अवसर, सभी व्यक्तियों के साथ निष्पक्ष आचरण, मानवीय गरिमा व अधिकारों की दृष्टि से समान।

- अर्नेस्ट बार्कर का कथन है कि 'समानता एक बहुरुपिया विचार है, यह बड़ी आसानी से अपना स्वरूप बदलकर नया रूप ग्रहण कर लेती है।'
- अरस्तू ने आनुपातिक समानता की अवधारणा के रूप में व्यक्त किया जिसका अर्थ है समकक्षों के मध्य समानता।
- लास्की ने समानता के लिए तीन प्रमुख आवश्यकताएं मानी है-

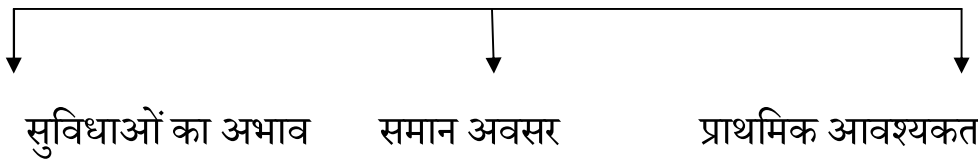

- अरस्तू का मानना है कि 'न्याय ही समानता है।'
- ब्रायन वर्नन ने समानता की व्यापक अवधारणा प्रस्तुत की। जिनमें व्यक्तियों के बीच मूलभूत समानता, अवसर की समानता, स्थितियों की समानता और परिणाम की समानता आदि है।
- कानूनी समानता का अर्थ है कानून के सामने समानता और सबके लिए कानून की समान सुरक्षा। अवधारणा यह है कि सभी मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं, इसलिए कानून के सामने समान अवसर के हकदार है।
- राजनीतिक समानता का मतलब बुनियादी तौर पर सार्वजनिक मताधिकार है। सार्वजनिक मताधिकार का मतलब यह है कि सभी वयस्कों को मत देने का अधिकार है और एक व्यक्ति का एक ही मत होता है। लोकतान्त्रिक सरकार का अर्थ यह है कि सभी को बिना किसी भेदभाव के चुनाव में स्पर्द्धा में खड़े होने का अधिकार है और वह सार्वजनिक सेवा के लिए चुनाव में खड़ा होता है। उद्धरण के लिए अमेरिका में जो सभी नागरिकों को पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता प्रदान करने वाला लोकतंत्र होने का दावा करता है,लगभग केवल आधे लोग ही चुनावों में मतदान करते हैं। मात्र संवैधानिक रूप से गारंटी की गई राजनीतिक समानता का मतलब भी सच्ची राजनीतिक समानता नहीं होती।
- आर्थिक समानता से प्रारम्भिक उदारवादियों का तात्पर्य केवल यह था कि हर व्यक्ति को, उसकी पारिवारिक या आर्थिक स्थिति चाहे जो भी हो, अपना धंधा और पेशा चुनने का अधिकार है और प्रत्येक व्यक्ति को अनुबंध करने

की स्वतंत्रता है,ताकि जहाँ तक अनुबंधात्मक दायित्वों का संबंध है, देश के हर व्यक्ति के साथ समान व्यवहार हो सके। रूसों के शब्दों में 'समानता से हमारा मतलब यह नहीं होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को बिलकुल बराबरी की सत्ता और धन प्राप्त होना चाहिए, बल्कि उसका मतलब यह होना चाहिए कि कोई भी नागरिक इतना धनवान न हो कि वह दूसरों को खरीद ले और किसी भी नागरिक को इतना निर्धन न होना चाहिए कि वह बिकने के लिए मजबूर हो जाए।

- सामाजिक समानता का मतलब है- रंग, लिंग, जाति, लैंगिक प्रवृत्ति आदि के आधार पर भेदभाव की अनुपस्थिति, समानता के कानूनी, राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं से भिन्न। वर्षों से यह महसूस किया जाता रहा है कि बाकी के जो भेदभाव कुछ समाजों में हजारों साल से विद्यमान रहे हैं, उन्हें राजनीतिक और कानूनी अधिकारों, आर्थिक विकास और आर्थिक असमानताओं के उन्मूलन की तीव्र प्रगति के बल पर कमजोर करना कठिन है ।

- नव-उदारवादी चिंतन-खासतौर से मिल्टन फ्रायडमैन और एफ.ए. हेक द्वारा प्रतिपादित नव-उदारवादी चिंतन-समानता के संबंध में बिलकुल अलग राय अपनाता है। वह मानता है कि समानता और स्वतंत्रता मूलतः एक-दूसरे के विरुद्ध है। इसलिए स्वतंत्रता के हक़ में असमानता को सहन करना चाहिए। इस चिंतन की निम्न विशेषताएँ हैं-

- स्वतंत्रता प्राकृतिक है और असमानता भी। इसलिए यह प्रकृति का विधान है कि स्वतंत्रता और समानता परस्पर संगत नहीं है।
- जब समता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है तब राज्य के अधिकारों को बढ़ाना आवश्यक हो जाता है।
- स्वतंत्रता का मतलब मुख्य रूप से किसी प्रकार के प्रतिबंध नहीं लगाना है, लेकिन समानता स्थापित करने के लिए कुछ प्रतिबंध लगाना स्वतंत्रता की कल्पना के विरुद्ध है।

समानता, स्वतंत्रता 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत पर कार्य करता है। इस संदर्भ में महादेव टोप्पो की कविता 'मांदर का साथ' कविता की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

'लेकिन हम गाते रहेंगे मांदर की थाप पर
धरती की सांसों के गीत /धरती की हरियाली के गीत
पलाश के लाल फूलों के साथ
नदियों के कल-कल लयबद्ध तालों के साथ
पहाड़ की ठंडी शांत हवाओं के साथ,
बार-बार गातें रहेंगे /कलम में धार लाने के गीत
जीवन को संवारने के गीत
दुनिया को बेहतर बनाने के गीत-मांदर के साथ "[234]

आदिवासी जीवन दृष्टि में प्रेम, करुणा, दया, समानता , स्वतंत्रता आदि जीवन के मूल तत्व है । आदिवासी जीवन दृष्टि सादगी का अनूठा संगम, जिसमें न कोई भेदभाव, न कोई ईर्ष्या, न ही द्वेष भावना का लेशमात्र भी स्थान है। यही कारण है कि आदिवासी दर्शन में मनुष्य को जितनी महता प्राप्त है, उतना ही महत्त्व, पशु-पक्षियों,

[234] झारखंडी भाषा साहित्य , वंदना टेटे, (संपा.), संस्कृति अखड़ा पत्रिका, मार्च-मई 2015 , पृ. 48

नदी पर्वतों को भी प्राप्त है। सुग्गा, मैना, पंडुक, गौरैया, गूलर के फूल आदि कविताओं में जगह पाते हैं। इस संदर्भ में रोज केरकेट्टा की ये पंक्तियाँ गौर करने के लायक है-

'पाकड़ के पेड़ पर मैना चेरे बेरे
चेरेबेरे मैना सीटी बजाती है
ऊपर के मीठे स्वाद को
नीचे कचरे के गड्डे में

पके लदे टेमटेरे मैना नीचे गिरा देते।"[235]

आदिवासी नृत्य भी एकल नहीं होते, बल्कि सामूहिक होते हैं। नृत्य, गायन, वादन में सबकी सहभागिता होती है। रामदयाल मुंडा की कविता 'हम युगों से साथ हैं' की इन पंक्तियों में आदिवासी सामूहिकता, सहभागिता की चर्चा हैं-

'हम ही काम के समय, /हम ही नाच के समय
हम ही बन्धु हैं, हम ही कुटुंब हैं
आपस में पुल बदलें /आपस में फुल बदलें
हम एक साथ गाएंगे,/एक साथ नाचेगें
साथ नहीं छोड़ेगें, साथ नहीं छोड़ेगें।"[236]

श्रम की महत्ता आदिवासी समाज में परस्पर सहभागिता के रूप में व्यक्त हुई है। इसी संदर्भ में डॉ. सावित्री बड़ाईक के लेख में स्पष्ट किया गया है कि 'श्रम को आदिवासियों ने निरंतर महत्त्व दिया है। शेष समाज श्रम के शोषण पर आधारित है। परन्तु आदिवासियों में श्रम के प्रति घोर निष्ठा है। आदिवासी संस्कृति और दर्शन के

[235] झारखंडी भाषा साहित्य , संस्कृति अखड़ा पत्रिका, वंदना टेटे, (संपा.), मार्च-मई 2015 , पृ. 49
[236] झारखंडी भाषा साहित्य , संस्कृति अखड़ा पत्रिका, वंदना टेटे, (संपा.), मार्च-मई 2015 , पृ. 49

कई तत्व निर्मला पुतुल की कविताओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। श्रम पर आधारित 'पहाड़ी स्त्री' कविता में निर्मला पुतुल स्वीकार करती है-

'चादर में बच्चे को /पीठ पर लटकाए
धान रोपती पहाड़ी स्त्री
रोप रही है अपना पहाड़ सा दुःख
सुख की एक लहलहाती फसल के लिए।"[237]

इनकी कविताओं में समानता, सहअस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता और सामूहिकता की दृष्टि के विविध आयामों पर प्रकाश डाला गया है। प्रकृति से आदिवासी समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस तरह से आदिवासी समाज की जीवन दृष्टि में मानव-मूल्य, स्त्री मूल्य, प्रकृति बोध आदि का विशेष रूप से चित्रण किया गया है। आदिवासी गीतों में आदिवासी जीवन दृष्टि की सामूहिकता का प्रभाव देखने को मिलता है।

4.1.3.जनतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता

जनतंत्र(डेमोक्रेसी) का साधारण अर्थ है-जन+तंत्र या लोक+तंत्र जनता का शासन या शासन पर नियंत्रण, जनतंत्र एक प्रकार से सामाजिक संगठन है,और इसके अर्थ को भी विविध रूपों में लिया जाता है।

आधुनिक युग जनतंत्र व्यवस्था का युग है। जनतांत्रिक शासन व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। वर्तमान जनतंत्र साम्राज्यवादी प्रशासन के बाद आया जबकि सम्पूर्ण विश्व औद्योगिक एवं भूमंडलीकरण के प्रभाव में आया तो मनुष्य के अस्तित्व व अधिकारों

[237] झारखंडी भाषा साहित्य , संस्कृति अखड़ा पत्रिका, वंदना टेटे, (संपा.), मार्च-मई 2015 , पृ. 49

में सर्वोच्चता आयी और विभिन्न देशों ने जनतंत्र शासन व्यवस्था को स्वीकार किया। वैसे यह भी सत्य है कि जनतंत्र सिद्धांतों की नींव प्राचीन समय में पहले से विद्यमान थी। परन्तु जनतंत्र की वर्तमान नींव नई अवश्य है।

- राजनैतिक अर्थ में जनतंत्र- राजनैतिक दृष्टि से लोकतंत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'डायसी' ने लिखा लोकतंत्र संसार का वह रूप है, जिसमें प्रशासकीय वर्ग सम्पूर्ण राष्ट्र का बहुत बड़ा भाग होता है।
- अब्राहम लिंकन- प्रजातंत्र वह सरकार है जो जनता की, जनता द्वारा तथा जनता के लिए है।
- सामाजिक संगठन के अर्थ में- सामाजिक दृष्टिकोण से लोकतंत्र का अर्थ वह व्यवस्था जिसमें वर्गगत जातिगत एवं लैंगिक भेदभाव के बगैर व्यक्ति की उन्नति के समान अवसर मिले।
- कैंडल के अनुसार- एक आदर्श रूप में जनतंत्र जीवन की एक विधि है, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं उसके उत्तरदायित्व पर आधारित है।

ड्यूवी का कथन है कि लोकतंत्र केवल सरकार का रूप न होकर, उससे भी कुछ अधिक है । यह मुख्यतः सहयोगी जीवन और सम्मिलित रूप से किए गए अनुभव की विधि है। इस प्रकार से यह निश्चित है कि शिक्षा लोगों को तैयार करें। शिक्षा के द्वारा लोगों में सहजीवन व सहअस्तित्व की भावना विकसित करनी चाहिए । शारीरिक विकास-जनतांत्रिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालक के स्वास्थ्य को उत्तम बनाना है।

- मानसिक विकास का उद्देश्य-शिक्षा को बालक का मानसिक विकास कर उसमें स्वतंत्र विचार तर्क एवं निर्णय शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए।
- चारित्रिक विकास का उद्देश्य-शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य छात्रों में अच्छे चरित्र का निर्माण करना है। जाकिर हुसैन के अनुसार-'हमारे शिक्षा कार्य का पुर्नसंगठन और व्यक्तियों का नैतिक पुनरुत्थान एक दूसरे से परस्पर रूप से जुड़े हुए है।'
- व्यक्तित्त्व का सर्वांगीण विकास-जनतंत्र का सम्पूर्ण कलेवर उसके नागरिकों पर ही निर्भर है, अत: जनतंत्र में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास करना है।
- आत्मनिर्भरता की प्राप्ति-स्वामी विवेकानंद ने स्पष्ट रूप में कहा है 'मैं सच्ची शिक्षा उसको कहता हूँ जो बालक को इस योग्य बना दे कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके।'
- आध्यात्मिक विकास-शिक्षा के द्वारा व्यक्ति में आध्यात्मिक एवं नैतिक गुणों का विकास किया जाना चाहिए, जिससे कि समाज में शान्ति और सौहार्द्र की भावना बनी रहे।
- समाजवादी समाज की धारणा-यह कार्य शिक्षा ही कर सकती है कि वह समाज के मध्य विषमताओं को मिटाकर स्वस्थ और सुखी जीवन व्यतीत करने के समान अवसर, सामाजिक सुरक्षा की भावना नागरिकों में उत्पन्न करें।

- सामाजिक दायित्वों के प्रति जागरूकता-व्यक्ति समाज की इकाई है, अत: यह आवश्यक है कि समाज में सबके साथ मिलकर समाज के जीवन को नैतिक और भौतिक दृष्टिकोण से अधिक अच्छा बनाने का उत्तरदायित्व ले और उसमें इस प्रकार की भावना का समावेश शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है।
- जन -शिक्षा की व्यवस्था-शिक्षा, जनतंत्र का आधार है अत: प्रत्येक व्यक्ति का शिक्षित होना अति आवश्यक है। क्योंकि शिक्षित व्यक्ति अपने कर्तव्य का निर्वहन ठीक तरह से कर सकता है।
- नेतृत्व गुणों का विकास-लांके कहते है तंत्र का भविष्य कुशल नेतृत्व में है और जनता की सहभागिता आवश्यक होने के कारण यह आवश्यक है शिक्षा व्यवस्था भावी पीढ़ी में नेतृत्व के गुणों का विकास करें।

रमणिका गुप्ता जनतांत्रिक मूल्यों के पक्ष की वकालत करती हैं व शिक्षा के अधिकारों के महत्त्व के बारे में बताती हुई लिखती हैं कि इस प्रकार आदिवासी लेखन की चेतना का उभार बहुमुखी, व्यापक और यथार्थपरक है। यह प्रतिबद्ध लेखन है, जिसका लक्ष्य समाज और मानव का कल्याण है। यह जनतांत्रिक है और समता, बराबरी, भाईचारा में विश्वास रखता है। शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए यह लेखन साक्षरता और जन-जागृति के अभियान में आगे बढ़ रहा है। इस कविता के माध्यम से लेखिका नए दृष्टिकोण के साथ आगे बढ़ रही है-

‘भूख को भूख, प्यास को प्यास कहना
आता नहीं था उन्हें
मार को मार, अन्याय को अन्याय
जुल्म को जुल्म कहना

उनकी सोच के दायरे में ही नहीं था
इसलिए बिना कहे-बिना बताए
मर जाते थे वे लोग /जंगल छोड़ भाग जाते
या भगा दिए जाते थे /जड़ों से काटकर
ट्रकों में लादकर...
सम-पंजाब और कर्नाटक भेज दिए जाते थे-
जरुरी सामान की तरह /पर वे बोलते नहीं थे !"[238]

'थोडा सा स्त्री होना चाहता हूँ' **कविता** शीर्षक संग्रह का और या थोडा सा स्त्री होना ही पूरा मनुष्य होना है। इस संदर्भ में रणेंद्र ने अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन के यथार्थ स्मृतियों को मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया और साथ ही साथ जनतंत्र के मूल्यों की भी पक्षधरता की है-

"कौन जाने उसके बिरडोह टंडा में
वसंत आया था नहीं।"[239]

यहाँ आदिवासी जीवन पर साहित्य लिखने वाले कवि जनतांत्रिक मूल्यों की बात करते हैं। इनकी कविताओं में जनतंत्र की भूमिका का उल्लेख मिलता है। आज आदिवासी लोकतंत्र में अपनी भूमिका का भी प्रतिनिधित्व करने लगा है।

4.1.4. सामंतवादी मूल्यों का क्षरण

'सामंती' शब्द इतालवी नवजागरण न्यायविद द्वारा आविष्कार किया गया था। मध्यकालीन लैटिन शब्द फोदुम(एक शब्द चार्टर Frankish जो पहले एक दिनांकित और भूमि अर्थ एस्टेट के रूप में में प्रयोग किया जाता था। सबसे अधिक प्राचीन बुनियादी गोथिक स्रोत फैहूवाचक शब्द में 'संपति' को जोड़ा जो अपने सामंती

[238] आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 31
[239] परिंदे द्वैमासिक पत्रिका, डॉ. शिवदान सिंह भदौरिया (संपा.), पृ. 74

व्यवस्था अंग्रेजों द्वारा शताब्दी(1617) में 17 फ्रांसिसीयों द्वारा गढ़ा था। इस अर्थ में 'सामंतवाद' शब्द 1748 में एक लोकप्रिय और व्यापक रूप में प्रयोग में लिया जाने लगा।

'सामंती'(फ्युडल) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द फियोडेलिस (feodalis) से हुई है। परन्तु मध्ययुगीन यूरोप में इस शब्द का इस्तेमाल कानूनी अर्थ में किया जाता था। 'फ्यूडलिज्म'(सामंतवाद) शब्द का प्रचार मुख्य रूप से 18 वीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक बुलैवियै और मौन्तेसक्यु की रचनाओं के जरिए हुआ। इस शब्द का इस्तेमाल मध्ययुग के दौरान छोटे-छोटे राजकुमारों और अधिपतियों की संप्रभुता में साझेदारी को व्याख्यायित करने के लिए कर रहे थे। फ्रांसीसी क्रांति के दौरान प्राचीन व्यवस्था की आलोचना करने के लिए इस शब्द का इस्तेमाल किया गया।

सामंतवाद(Feudalism) मध्यकालीन युग में इंग्लैंड और यूरोप की प्रथा थी। इन सामंतों की कई श्रेणियाँ थी जिनके शीर्ष स्थान में राजा होता था। उसके नीचे विभिन्न कोटि के सामंत होते थे और सबसे निम्न स्तर में किसान या दास होते थे। यह रक्षक और अधीनस्थ लोगों का संगठन था। राजा समस्त भूमि का स्वामी माना जाता था। प्रारम्भिक काल में सामंतवाद ने स्थानीय सुरक्षा, कृषि और न्याय की समुचित व्यवस्था करके समाज की प्रशंसनीय सेवा की। कालांतर में व्यक्तिगत युद्ध एवं व्यक्तिगत स्वार्थ ही सामंतों का उद्देश्य बन गया। क्योंकि यूरोप में सामंतवाद के उदय के पीछे एक और जबरदस्त कारण रहा है। साम्राज्य के दूरस्थ विस्तार के कारण सम्राट पूरे साम्राज्य का सुचारू रूप से संचालन करने में असमर्थ था। इसलिए सत्ता का विकेंद्रीकरण हो गया जो आवश्यक कार्य होने के साथ लोकतंत्र की दिशा में

एक कदम था। धीरे-धीरे जनता को सुरक्षा प्रदान करने वाला यह शक्तिशाली वर्ग अर्थात् सामंतवाद सम्पूर्ण यूरोप में फ़ैल गया। उसका केन्द्र कैरोलियन साम्राज्य में था। वहाँ से वह रोमन साम्राज्य के माध्यम से पूर्वी जर्मनी और डेनमार्क पहुँचा। दक्षिणी फ़्रांस में सामंतवाद का प्रभाव स्पेन पर से पड़ा। बाद में सामंतवाद फ्रांस में अपने उत्कर्ष रूप में दिखाई पड़ता है।

इसी के संदर्भ में डॉ.रामशरण शर्मा का मत है कि उनका राजनीतिक और प्रशासनिक ढांचा भूमि अनुदानों के आधार पर गठित था। इस प्रथा के अधीन किसान भूमि से बंधे होते थे और भूमि के मालिक के वे जमींदार होते थे जो असली काश्तकारों और राजा के बीच कड़ी का काम करते थे। डी.डी.आर.भंडारी के शब्दों में 'सामंतवाद को संवेदात्मक सरकार का एक रूप मानते थे जिसमें सामंत मध्यस्थता का काम करते थे। कुछ इन्हीं आधारों को पुष्ट करते हुए डॉ.सतीशचन्द्र का मत है कि 'यूरोप में सामंतवाद का संबंध दो व्यवस्थाओं से था जिनमें से एक कृषि दास व्यवस्था तथा दूसरा आधार था सैनिक संगठन।' इस आधार पर कृषि दासत्व एवं सैनिक संगठन दोनों सामंतवाद के मुख्य आधार है। इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि सामंतवाद यूरोप में भूमि व्यवस्था से संबंधित विकेंद्रीकरण पर आधारित एक ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था थी जिसमें सामंत सर्वोच्च सत्ता और किसानों के मध्य पुल था,जो दोनों पार्टियों से निश्चित अनुबंधों के माध्यम से जुड़ा होता था।

जोजेफ आर. स्ट्रेयर और रशटन कोलबोर्न के अनुसार-'सामंतवाद मुख्य रूप से एक प्रशासकीय व्यवस्था थी न कि आर्थिक या सामाजिक। हालांकि बाद में इसमें प्रत्यक्ष रूप-भेद हो गया और सामाजिक और आर्थिक वातावरण से इसका रुपान्तरण

भी हो गया। स्ट्रेयर के अनुसार यह एक प्रशासकीय व्यवस्था थी जिसमें सामंतों में सरकार के प्रमुख कार्य करने के अधिकार निहित थे।

कार्ल स्टीफेंसन ने स्वीकार किया कि इतिहास में यह एक बोलने का स्वीकृत प्रचलन हो गया है कि हर व्यक्ति जागीरदारी की बजाय सामंतवाद की बात उस दृष्टिकोण से करता है। मार्क ब्लोच की परिभाषा ने अब तक कतिपय अमान्य तथ्यों को उजागर किया। उसने पूर्ण विश्वास के साथ कहा कि जागीर केवल एक मूल तत्व है। जागीर की स्थिति अधीनस्थ होने के बाद भी एक समाज सामन्तवादी हो सकता है। संस्थाओं का निर्माणकारी ढांचा जो समाज को संचालित करता है। अंततः केवल सम्पूर्ण मानव समाज के वातावरण के ज्ञान द्वारा समझा जा सकता है।

आदिवासी कविताएँ आदिवासी पहचान के आन्दोलन और अपनी संस्कृति, भाषा, जल, जंगल, जमीन आदि को बचाने की मुहिम का हिस्सा है। आदिवासी सामन्तवादी परम्परा का विरोध करता है, क्योंकि उनके यहाँ सामंतवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। इस संदर्भ में निर्मला पुतुल की कविता आदिवासी समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, जड़-परम्पराओं और प्रयासों की सामंतशाही व्यवस्था पर तीव्र चोट करती हैं, जब वे कहती हैं-

'बस रहने दो /कुछ मत कहो सजोनी किस्कू
मैं जानती हूँ कि अपने गाँव बागजोरी की धरती पर
जब तुमने चलाया था हल
तब डोल उठा था बस्ती के माँझी थान में बैठे
मगजहीन मांझी हाड़ाम की पगड़ी

तब बैल बनाकर हल में जोता था

जालिमों ने तुम्हें /खूंटे में बांधकर खिलाया था भूसा।"[240]

आदिवासी लेखिका व सामाजिक कार्यकर्त्ता वंदना टेटे ने अपने कविता संग्रह 'कोनजोगा' में उल्लेखित कविता 'तुम कौन हो ?' में आदिवासी स्त्री की अस्मिता के जीवन का चित्रण किया है-

'तुम कौन हो ?/शास्त्रों में बताई गई देवी ?
नर द्वारा कल्पित रमणी ?/या कर्तव्य और प्रेम का

लबादा ओढ़े माँ-बहन पत्नी ?

तुम शायद सब कुछ हो /अलंकारों, आभूषणों से सुसज्जित

देवालयों और धर्मग्रंथों में /अजंता एलोरा में

घर-दफ्तर कोठे तक /रामायण की सीता भी तुम हो

तुम्हीं वैशाली की नगरवधू /लेकिन इंसानियत से बेदखल

उस अहसास और अधिकार से वंचित

जिसके होने से /और कुछ हो न हो।"[241]

इस कविता में स्त्री जीवन की अस्मिता पर प्रश्न धर्म-शास्त्रों में लगाया गया है। दरअसल स्त्री के जीवन की पीड़ा धर्म-ग्रंथों से लेकर ब्लू फिल्मों में किस तरह से दिखाई जाती रही है, उसका चित्रण वंदना टेटे ने अपनी कविताओं के माध्यम से स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है। रणेंद्र की कविताओं से गुजरना जैसे दुखमय जीवन की स्मृतियों से गुजरना है।

[240] आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 22

[241] कोनजोगा (कविता संग्रह), वंदना टेटे, पृ. 50

4.1.5. पूँजी का अभाव

पूँजीवाद(capitalism) सामान्यत: उस आर्थिक तंत्र को कहते हैं जिसमें उत्पादन के साधन पर निजी स्वामित्व होता है । इसे कभी-कभी 'व्यक्तिगत स्वामित्व' के पर्यायवाची के तौर पर भी प्रयुक्त किया जाता है। लेकिन यहाँ 'व्यक्तिगत' का अर्थ किसी एक व्यक्ति से भी हो सकता है और व्यक्तियों के समूहों से भी । मौटे तौर पर कहा जा सकता है कि सरकारी प्रणाली के अतिरिक्त निजी तौर पर स्वामित्व वाले किसी भी आर्थिक तंत्र को पूँजीवाद तंत्र के नाम से जाना सकता है। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादी तंत्र लाभ के लिए चलाया जाता है, जिसमें निवेश, वितरण, आय उत्पादन मूल्य, बाज़ार मूल्य इत्यादि का निर्धारण मुक्त बाज़ार में प्रतिस्पर्द्धा द्वारा निर्धारित होता है । पूँजीवाद एक आर्थिक पद्धति है, जिसमें पूँजी के निजी स्वामित्व, उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण, स्वतंत्र औद्योगिकी, प्रतिस्पर्द्धा और उपभोक्ता द्रव्यों के अनियंत्रित वितरण की व्यवस्था होती है ।

पूँजीवाद का इतिहास मनुष्य के इतिहास जितना ही पुराना है । प्राचीन मिस्र, रोम, बेबिलोनिया और यूनान में व्यक्तिगत सम्पत्ति और एकाधिकार पर आधारित समाजों का इतिहास मिलता है । दासप्रथा जैसी निजी स्वामित्व की चरम स्थिति रही है । 18 वीं शताब्दी के पश्चात पूँजीवाद ने संसार के अनेक भागों में सामंतशाही और वाणिज्यवाद के बीज बोए। आधुनिक युग के आरम्भ में व्यापारिक पूँजीवाद ने अपने विकासक्रम में औद्योगिक पूँजीवाद को जन्म दिया, जिसे पूँजी उत्पादन पूँजीवाद भी कहा जाता है । पूँजीवाद आर्थिक तंत्र को यूरोप में संस्थागत ढांचे का रूप सोलहवीं

सदी से मिलना आरम्भ हुआ । एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक **'द वेल्थ ऑफ नेशंस'**(1776) में प्राकृतिक आधार पर आर्थिक स्वतंत्रता की बात कही है, उसने पूँजीवाद का नाम नहीं लिया है। आर्थिक मामलों में प्राकृतिक स्वतंत्रता को आधार मानकर चलने के संबंध में उसका विश्वास था, जैसा कि अन्य उदारवादियों का भी मत रहा है। यदि आर्थिक व्यापार को किसी भी नियंत्रण से मुक्त क्रियान्वित होने दिया जाए, तो इस स्थिति में उत्पादन-वृद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाएगी। एडम स्मिथ का यह व्यक्तिगत पूँजी और स्वतंत्र उद्योग का उदारवादी मत आधुनिक पूँजीवाद का मेरुदंड है। 18 वीं सदी में यूरोप की औद्योगिकी क्रांति के साथ पूँजीवाद को नया बल मिला। उसके प्रभाव से 1770 और 1840 के मध्य आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। पूर्वकालीन सारी सभ्यताएं शोषित सर्वहारा के श्रम की नींव पर बनी थी। आधुनिक सभ्यता मानवीय आविष्कारों और यांत्रिक शक्ति द्वारा निर्मित हुई है। पूँजीवाद का सिद्धांत सबसे पहले औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कार्ल मार्क्स के सिद्धांत की व्याख्या के संदर्भ में आया। 19 वीं सदी कुछ जर्मन सिद्धान्तकारों ने इस अवधारणा को विकसित करना आरम्भ किया जो कार्ल मार्क्स के पूँजी और ब्याज के सिद्धांत से हटकर था। बींसवी सदी के आरम्भ में मैक्स वेबर ने इस अवधारणा को एक सकारात्मक ढंग से व्याख्यित किया। औद्योगिक क्रांति के आरम्भिक दिनों में एडम स्मिथ का अहस्तक्षेप का सिद्धांत वैयक्तिक स्वतंत्रता और अनियंत्रित आर्थिक व्यवस्था का आधार बन गया। किन्तु इस औद्योगिक परिवर्तन से उत्पन्न परिस्थितियों ने सरकार को उद्योगपतियों और श्रमिकों की समस्या में हस्तक्षेप करने को बाध्य कर दिया। इन्हीं दिनों समाजवाद

शब्द का प्रयोग प्रथम बार हुआ । इस स्थिति में तथाकथित स्वतंत्र उद्योग, 18 वीं सदी के उदारतावाद और आज के समाजवादी नियंत्रण का समन्वित रूप होगा। अमेरिकी पूँजीवाद, व्यापार में व्यक्तिगत आधिपत्य और राजकीय संचालन का मिश्रित रूप है। क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत एक व्यक्ति या समूह को अपने आर्थिक नियोजन का स्वतंत्र अधिकार रहता है ।

पूँजीवादी उपभोगी संस्कृति के प्रचलन से कविता के सांस्कृतिक जगत पर दबाव पड़ता है । साम्यवाद और समाजवाद के दर्शनों को क्षीण होते देखकर समकालीन कवयित्रियाँ वितृष्णा में बोलने लगती हैं। 'मुक्त बाज़ार और उन्मुक्त भोग के जीवन मूल्यों को आगे बढ़ाने वाली नयी अमरीकी संस्कृति के लिए सबसे बड़ी चीज पैसा है, सबसे बड़ा काम पैसा कमाना है । नई विश्वव्यवस्था के वैश्विक बाज़ार में आम मानव भी एक वस्तु बन गया है । इस पर व्यंग्य करते हुए रमणिका गुप्ता कहती है-

'एक के बाद एक देश
बिकने को लाचार
खड़े क्रमवार
लगाए बाज़ार में कतार
आओ हमें खरीदो
खरीदों हमारी आजादी
खरीदो स्वाभिमान
हम मंडी में बिकने को तैयार ।"[242]

[242] रमणिका गुप्ता : विश्वमंडी से , विज्ञापन बनता कवि, पृ. 24

निर्मला पुतुल की कविता आदिवासी जीवन शैली, सामूहिकता, संस्कृति, भाषा व मानवीय मूल्यों के विघटन को पिरोती है और साथ ही साथ स्त्री-जीवन की त्रासदियों का वर्णन भी मार्मिक ढंग से करती है। वे बाजारवाद की उपभोक्तावादी संस्कृति से पड़ने वाले प्रभाव के प्रति भी सचेत करती हैं-

'आखिर कब तक हमारे हिस्से का समुद्र
लील कर बुझाते रहेगें /अपनी-अपनी प्यास...
उनके हिस्से का /अनाज छिन कर/उगाते रहेगें

हमारे खून-पसीने से मनीप्लांट...

कब तक अखबारों की हेडलाईन

भूख से हुई मौत और

बलात्कार की खबरों से

रंगती, सजती रहेगी/आखिर कब तक ?"[243]

वैश्वीकरण की प्रवृत्ति पूरी दुनिया को बाज़ार में बदलकर व्यापार करने की रही है। फलस्वरूप गरीब और अमीर की खाई इतनी बढ़ गई है कि गरीब देशों की जनता अब भी अपने मूल अधिकारों से वंचित है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति के फरेब में आकर गरीब देशों के आदिवासी लोग भी वस्तु-संग्रह की होड़ में लग जाते हैं और अपनी गाढ़ी कमाई की कुल पूँजी बाज़ार के कारण बर्बाद कर देते हैं। यह बर्बादी सिर्फ आर्थिक नहीं होती, वैचारिक और सांस्कृतिक भी होती है। उनकी सांस्कृतिक गिरावट देखिए, वे जीने की शॉट-कट की तलाश में लग जाते हैं-

'जब से बढा है शहर के साथ हमारी
बस्ती का कारोबार

[243] कलम को तीर होने दो, रमणिका गुप्ता (संपा.), पृ. 212

बढ़ गई है लड़कियों के /सैंडिल की ऊंचाई

और मुखर हो गया है उसकी देह की भाषा

का मौन-संवाद

दोना, पत्तल, चटाई, झाड़ू, पंखा

अब कुछ नहीं बनाती वह

बल्कि इस दौर में उन्होंने भी तलाश लिए

जीने के शॉट-कट रास्ते ।"[244]

आदिवासी जीवन के केंद्र में सरलता, सहजता महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप में मौजूद रहते हैं। क्योंकि आदिवासियों का जीवन सरल और सहज होता है। ये हमेशा स्वाभिमान और ईमानदारी के साथ जीवन जीते हैं।

4.2. **गैर आदिवासी कविता लेखन : जीवन दृष्टि**

आदिवासी लेखन की कसौटी पर हुए रचनात्मक लेखन पर सवाल आदिवासी लेखिका वंदना टेटे करती हैं। उनका मानना है कि 'पिछले कई सालों से एक प्रवृत्ति आदिवासी कविता के संबंध में बार-बार दिखलाई पड़ी है। वह प्रवृत्ति है आदिवासी कविताओं को गैर-आदिवासी मानकों पर परखने की । अपनी विशेष परख-दृष्टि पर आदिवासी रचनाओं को कसते हुए वैसी तमाम कृतियों को भारत के वृहत्तर साहित्य समाज ने कविता मानने से इनकार कर दिया, जो आदिवासीपन के साथ लिखी गई हैं। जैसे, रामदयाल मुंडा, ग्रेस कुजूर, उज्ज्वला तिग्गा आदि की मूल हिन्दी में ही रची गई कविताएं। जिनकी कोई नोटिस नहीं ली गई। लेकिन जैसे ही

[244] अपने घर की तलाश में, निर्मला पुतुल, पृ. 83

निर्मला पुतुल की गैर-आदिवासी मनोभूमि वाली कविताएँ सामने आई हिन्दी समाज ने उसे हाथों-हाथ लपक लिया । ऐसा इसलिए कि निर्मला पुतुल की अधिकांश कविताएं हिन्दू समाज की सांस्कृतिक संरचना के अनुरूप जाति, धर्म, लैंगिक उत्पीड़न, घरेलू हिंसा और औपनिवेशिक दिनों के बाद हुए आदिवासियों के जबरन परिवर्तित व्यवहार पर 'हमला' करती हैं। मतलब, उन्हें तेमसुला, रामदयाल मुंडा या वाहरू नहीं चाहिए, उन्हें आदिवासियत से रहित 'निर्मला' चाहिए, जो उनकी भाषा और मुहावरे में बात करें और जो आदिवासियों का होते हुए भी आदिवासी सच न हो।"[245] इस संबंध में सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री श्यामा चरण दुबे बताते हैं कि गैर-आदिवासी विश्व में 'परम्परा का आधार शास्त्र भी हैं, लोक भी, किन्तु कुछ दृष्टियाँ शास्त्र को महत्त्व देती हैं, कुछ लोक को । ग्रीक, चीनी, भारतीय और इस्लामी परम्पराओं का चित्रण कुछ आधार ग्रन्थों के सहारे किया गया है । प्राच्यविद, भारतविद, संस्कृतज्ञ और दार्शनिक परम्परा और उसके मूल स्वरों की तलाश शास्त्रों और अन्य धर्म ग्रन्थों में करते आये हैं।"[246] सामान्य तौर पर यह विशिष्ट आदिवासी कला परम्परा गैर-आदिवासी विश्व के शास्त्रीय परम्परा और प्रणाली में फिट नहीं बैठती । इसलिए वे अपने विभाजित समाज और साहित्य-कला की तरह उसे भी 'लोक साहित्य' एवं 'लोक कला' की परिधि में रखते हैं। लोक की परिधि के भीतर ही आदिवासी साहित्य परम्परा और उसके प्रयोजन को व्याख्यायित करने का प्रयास कर रहे हैं। आदिवासी साहित्य परम्परा के विद्वान डॉ. दिनेश्वर प्रसाद शेष विश्व की मूल्यांकन पद्धति के आग्रह को नकारते हुए कहते हैं 'हर समाज की काव्यात्मक

[245] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 44-45

[246] परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे, पृ. 16-17

अभिव्यक्ति अपने ढंग की होती है। उसके अपने कलात्मक प्रतिमान होते हैं और इसलिए किसी अन्य जाति या समाज के गीत या कविता प्रतिमानों के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए।'[247] गैर-आदिवासी समाज कला-यात्रा में हाथों की दक्षता का विकास आसानी से चिन्हित किया जा सकता है। लेकिन आदिवासी समाज में हाथों की दक्षता के बावजूद चित्रकलाएं रेखांकन से आगे नहीं बढ़ पाती है। आदिवासी 'व्यक्ति' केन्द्रित नायकत्व में विश्वास नहीं करते हैं इसलिए उनकी कलाओं में 'व्यक्ति' की जगह 'सामुदायिकता' का भाव दिखाई देता है। आदिवासियों के संगीत और नृत्य में भी यही सामूहिकता पाई जाती है। जबकि गैर-आदिवासी समाज में यह सामुदायिकता का भाव नहीं दिखाई देता है। क्योंकि वे व्यक्ति केन्द्रित समाजों में रहते हैं इसलिए उनके लेखन में भी 'समूह' की जगह 'व्यक्ति' का भाव दिखाई देता है। इसलिए उनके पूरे चिन्तन केंद्र में आदिवासी समाज समूह के रूप न होकर 'व्यक्ति' केन्द्रित ही दिखाई देता है। जबकि आदिवासी समाज में व्यक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं होता है, वहाँ तो 'समूह' का भाव लोक व्यापकता के रूप में विद्यमान होता है।

हिन्दी की आदिवासी कविता के लेखन में गैर-आदिवासियों का दबदबा रहा है। लेकिन गैर-आदिवासी के लेखन में आदिवासी जीवन-दर्शन गायब है क्योंकि उनका लेखन केवल सहानुभूतिपरक रूप से रचा गया है। आदिवासी लेखन की काव्यचेतना आदिवासी जीवन-शैली व रचनात्मक ऊर्जा को प्रोत्साहन देती है। आदिवासी कविता की भूमि प्रतिरोध की रचनात्मक ऊर्जा का स्रोत है जो आदिवासी

[247] झारखण्ड एन्सक्लोपीडिया खंड-4, दिनेश्वर प्रसाद, मुंडा दुरंग, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ. 361

समाज को लड़ने की शक्ति प्रदान करती है। यही ऊर्जा आदिवासी कविता को सर्जनात्मक स्तर पर संबल प्रदान करती है । इस संदर्भ को स्पष्ट करते हुए डॉ. मलखान सिंह अपने लेख का हवाला देते हुए आदिवासी एवं गैर-आदिवासी के अंतर को बताते हुए लिखते हैं-'आदिवासी संस्कृति, सोच और दृष्टि, गैर आदिवासी समाज की व्यक्तिवादी , सामंती, साम्राज्यवादी व कहीं राजतन्त्रवादी सोच व दृष्टि के एकदम विपरीत है। वे व्यक्तिपरक नहीं, सामूहिक सोच , सामूहिक जीवन शैली, सामूहिक जिन्दगी जीते हैं, जहाँ ऊँच-नीच का सवाल नहीं है । यह समाज लोकतंत्र का पोषक है । आदिवासी कविता जहाँ लोगों से संवाद कायम करती है, वहीं परस्पर दर्द का रिश्ता कायम करना भी जरुरी समझती है ताकि हम और वे की दूरियां मिट जायें । ये कविताएँ आदिवासी समाज की सच्चाइयों को ही नहीं व्यक्त करती अपितु जोखिम उठाने की शक्ति भी देती है । कुल मिलाकर आदिवासी कविता के केंद्र में मुक्ति की कामना है ।

4.2.1. **रोमानियत दृष्टि**

पाश्चात्य साहित्य-चिंतन में 'रोमांटिसिज्म'[248] को 'कलासिसिज्म'[249] या 'अभिजात्यवाद'[250] की विरोधी प्रवृत्ति के रूप में देखा जाता है । अभिजात्यवाद में जहाँ साहित्य के लिए वस्तुपरक शास्त्रीय नियमों का अनुशासन जरूरी माना जाता है। अंग्रेजी आलोचना में 'रोमांटिसिज्म' शब्द का प्रयोग 18 वीं सदी के अंत में उभरती नवीन प्रवृत्तियों के लिए हुआ है जो मुख्य रूप से हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रतिफलित

[248] अभिजात्यवाद एवं स्वछंदतावाद, इग्नू नोट्स, पृ. 13
[249] वही,
[250] अभिजात्यवाद एवं स्वछंदतावाद, इग्नू नोट्स, पृ. 13

हुई। 'रोमांटिसिज्म' का सीधा अर्थ 'रोमांस' से जुड़ा है जिसका प्रयोग अलग-अलग अर्थों में होता रहा है। 'रोमांस' शब्द का प्रयोग सामान्य तौर पर भावुकता और कल्पना-प्रधान मनोवृत्ति के रूप में हुआ है। आगे चलकर इस शब्द का प्रयोग साहित्य की उस प्रवृत्ति के लिए होने लगा जो वस्तुवादी, शास्त्रवादी और आदर्शवादी प्रधानता के रूप में साहित्य में विद्यमान रही हो। हिन्दी में 'रोमांटिसिज्म' के लिए 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

रोमांटिसिज्म की विशेषताओं की चर्चा प्रमुख रूप से वर्डसवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स आदि की कविता पर आधारित है। रोमांटिसिज्म की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं-

- 'विद्रोह रोमांटिसिज्म का मूल आधार है जिसकी मुख्य प्रेरणा सामाजिक रुढ़ियों के खिलाफ मनुष्य की स्वतंत्रता की माँग करने वाली फ्रांसीसी क्रांति रही है। इस क्रांति के प्रभाव से उस दौर के रचनाकारों ने धर्म, समाज और साहित्य की सभी रुढ़ियों के खिलाफ मुक्ति की प्रेरणा दी।
- विषयवस्तु के आधार पर रचनाकारों ने उदात्त चरित्रों की गाथा कहने के स्थान पर मनुष्य जीवन के अनुभवों और आस-पास के परिवेश और प्रकृति के सामान्य-सहज रूपों को अंकित किया।
- आधुनिक दृष्टिकोण में रोमानियत के प्रति रोमांटिसिज्म की रूचि अद्भुत के प्रति आकर्षण की रही। वाल्टर पेटर रोमांटिसिज्म की एक विशेषता में 'सौन्दर्य में अद्भुत तत्व जोड़ता है।'

- स्वछंदतावाद के कवियों ने सौन्दर्य को अधिक महत्त्व दिया है। कीट्स ने सत्य एवं सुन्दर को अलग मानते हुए कहा कि 'सौन्दर्य ही सत्य है' । आधुनिक सौन्दर्य-दृष्टि बाह्य जगत तथा प्रकृति के सौन्दर्य उपमानों का अन्वेषण करती हैं।
- प्रकृति प्रेम में रूसो ने मानव को प्रकृति की ओर लौटने के लिए कहा। सबसे पहले यह वापसी बनावटी सौन्दर्य के तिरस्कार और सहज प्राकृतिक रूपों के प्रति आकर्षण में दिखाई देती है। बायरन, शेली और कीट्स की कविता में प्रकृति के विविध रूपों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। प्रकृति में ये कवि भावों का प्रतिबिंब देखते हैं और उसके बिंबों के माध्यम से प्रकृति के रूपों का अंकन अपनी कविताओं में करते हैं।
- रोमांटिसिज्म की रचनाओं में कल्पना को महत्त्व दिया गया।"[251] कॉलरिज ने तो कल्पना का विस्तार से विवेचन करते हुए व्यक्ति कल्पना से बढ़कर कवि-कल्पना को महत्त्व दिया।

आदिवासी कवियों की कविता में आदिवासी जीवन का चित्रण सामूहिकता, सहजीवन, सहभागिता के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, जबकि गैर-आदिवासी की जीवनदृष्टि में सहभागिता, सामूहिकता का अभाव होता है। उनकी कविता में विकास के प्रतिरोध का ढांचा केवल व्यवस्था के स्वरूप को दर्शाता है। अनुपम शर्मा ने अपने लेख में गैर आदिवासी जीवन दृष्टि को इंगित किया है जैसे कि 'कवि कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह ने विस्थापन का दंश झेल रहे आदिवासी जीवन को आधार बनाकर

[251] अभिजात्यवाद एवं स्वछंदतावाद, इग्नू नोट्स, पृ. 18-20

'बोलो मोहन गांजू' नामक काव्य संग्रह में बंदूदास कविता में विस्थापित जीवन जी रहे झारखण्ड के आदिवासियों के वर्तमान को कविता में इस रूप में चित्रित किया है-

'बंदूदास को तुम जानते हो मोहन गांजू?
तुम्हारे अपने जंगल से बेदखल
किये जाने का बहुत गहरा रिश्ता है

उसके उन छेदों को /दतुवन बेचना छोड़कर तुम भी

फावड़ा और बेलचा क्यों नहीं उठा लेते।"[252]

इस तरह से आदिवासी जीवन का पैमाना आदिवासी कविता में उनकी जीवनशैली को प्रभावित करता है। वास्तव में आदिवासी जीवन का चित्रण आदिवासी कविता में आदिवासी सहजीवन, सामूहिकता जीवन दर्शन के रूप में अभिव्यक्त हुआ हैं। लेकिन गैर-आदिवासी लेखक आदिवासी जीवन दर्शन को समझे बिना उनके दुःख-दर्द को सहानुभूति के तौर पर दिखाते हैं। वे आदिवासी समाज के वास्तविक जीवन से रूबरू हुए बिना उनकी जीवन शैली को कविता में व्याख्यायित करते हैं। बल्कि आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं के जीवन दर्शन में जल, जंगल, जमीन के अस्तित्व के संकट की वैश्विक चिंता को विश्वफलक पर चित्रित किया है। आदिवासी कवियों को लोक का ज्ञान का अनुभव है , जिनके आधार पर वे कविता में जीवन के विविध आयामों को प्रस्थापित करते हैं।

दिकू समाज की दकियानूसी प्रवृत्ति के प्रति होने वाले रवैये और सोच की ओर ध्यान वंदना टेटे ने दिया है, यानी- ''किस तरह दिकू लोग यानी गैर आदिवासी लोग प्रकृति का उपभोग करने के लिए पेड़-पौधों को काट देते हैं , जबकि आदिवासी

[252] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, गंगासहाय मीणा, (संपा.), अक्टूम्बर 2015 –मार्च 2016 , पृ. 29

समाज अपनी जरुरत के अनुसार ही प्रकृति का उपयोग करता है उसकी सोच संरक्षणवादी है । गैर-आदिवासी समाज में स्त्रियों की अवस्था दयनीय है जिसे वे केवल सिर्फ उपभोग की वस्तु मानते हैं । उनके समाज में सिर्फ विधवाओं, परित्यक्ताओं या असुंदर स्त्रियों को ही घर से बाहर नहीं निकाल दिया जाता बल्कि हर तरह से सुन्दर स्त्री भी प्रताड़ित और बेसहारा की जाती है।

गैर-आदिवासी समाज में स्त्रियों का अवमूल्यन और लिंगगत भेदभाव बढ़ता जा रहा है । जिससे लड़कियों का विवाह होना मुश्किल हो गया है। बेटे और बेटी के बीच भेदभाव गैर-आदिवासी समाज में देखने को मिलता है, जबकि आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष में कोई अंतर नहीं होता है,उनमें समानता का अधिकार होता है। कन्या भ्रूण हत्या करने वाला भी गैर-आदिवासी समाज है जिससे महिलाओं का लिंगानुपात का घटना एक चिंताजनक बात है। उनकी दृष्टि में स्त्री केवल एक उपभोग की वस्तु मात्र समझी जाती है।

पुरखा दृष्टि पर रचनात्मक मत व्यक्त करते हुए आदिवासी लेखिका वंदना टेटे का मानना है कि 'भारत के अन्य पुरखौती समाजों की तरह ही आदिवासी समाज की प्रवृत्ति भी गद्य की नहीं रही है । गद्य उनकी सहज भाषा नहीं है । इसलिए आदिवासियों का संसार इन दिनों भी सांगीतिक ही है । गीत-कविता रचने वाले आदिवासी रचनाकारों की संख्या ज्यादा है। स्वयं टुडू जी की रचनात्मक यात्रा भी गीतों से हुई है । लेकिन उनका लेखकीय कला-कौशल कथा साहित्य में सर्वाधिक सशक्तता के साथ प्रस्फुटित हुआ है। वे अपने कहानियों में विषय को पूरी संजीदगी से उठाते हैं और आदिवासी पुरखौती परम्परा के अनुरूप आधुनिक भाव-दृष्टि से उसे

रचते हैं। शिल्प, शैली और कथा के दृष्टिकोण से टुडू जी अपने आदिवासीपन के साथ एक नवीन आस्वाद और मौलिकता के साथ सामने आते हैं। उनकी कविताएँ आधुनिक जीवन-दृष्टि से भरपूर हैं और पुरखौती परम्परा में मौजूद कुरीतियों को चुनौती देती हैं।"[253] इस संबंध में गीताश्री उरांव का मानना है कि 'किसी भी समाज के पास जीने का अपना दर्शन होता है। इस तरह जो हमारे आदिवासी समुदाय हैं उनमें धरती और सृष्टि के हर सजीव और निर्जीव को देखने का अपना-अपना एक नजरिया है। विश्वदृष्टिकोण है। हमारे पुरखों ने भी जीने का एक तरीका खोजा था धरती, नदी-पहाड़ और जंगल-जमीन की यात्रा करते हुए। चिड़ियों के साथ रहते हुए। उन्होंने अपनी यात्रा से अच्छी तरह समझ लिया था। जीना है तो खुद से पहले जल, जंगल और जमीन के बारें में सोचना होगा। उन परिंदों का ख्याल करना होगा जो दुनिया भर की यात्राएं आज भी करते हैं और एक इलाके का फल-फूल धरती के किसी और हिस्से में जाकर रोपते हैं। मतलब सामूहिकता और सहजीविता पर चलना।"[254]

दरअसल, आदिवासी दर्शन का मूलाधार पुरखा साहित्य ही है। पुरखा साहित्य आदिवासी समाज में हजारों वर्षों से मौखिक परम्परा में ही रहा है। आदिवासी चिंतक व लेखक इस मौखिक परम्परा को मौखिक कहने की बजाय पुरखा साहित्य कहते हैं। लेकिन इसको मानने के पीछे बहुत सारे तर्क है। पहली बात तो यह कि मौखिक साहित्य कहने से कुछ पता नहीं चलता है कि किसे मौखिक साहित्य के रूप में माना जाना चाहिए? दुनिया के तमाम समाजों में लिखित से पहले मौखिक लोक

[253] आदिवासी साहित्य : परम्परा और प्रयोजन, वंदना टेटे, पृ. 52
[254] आदिवासी साहित्य : परम्परा और प्रयोजन, वंदना टेटे, पृ. 51

साहित्य की परम्परा रही है । उससे अलगाने के लिए कुछ आदिवासी लेखक आदिवासी मौखिक परम्परा को ही पुरखा साहित्य के रूप में रखते हैं। इस प्रकिया में वे इस मौखिक परम्परा को लोक साहित्य से अलग मानकर चलते हैं। इस संदर्भ में आदिवासी लेखिका वंदना टेटे का मानना है कि आदिवासी समाज बाहरी समाज की तरह लोक और शास्त्र का भेद नहीं मानते हैं, बल्कि आदिवासी साहित्य को भी बांटकर नहीं देखते हैं। आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्त्व है और मौखिक परम्परा में मिलने वाले गीत, कथाएँ आदि भी पुरखों ने रची हैं, इसलिए इस मौखिक परम्परा को सम्मिलित रूप में पुरखा साहित्य कहना चाहिए। तमाम आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की समृद्ध परम्परा मौजूद है। इसी के माध्यम से हम उनके जीवन-दर्शन, ज्ञान परम्परा और मूल्य विश्वासों को जान सकते हैं । इसलिए आदिवासी जीवन को जानने के लिए पुरखा साहित्य को संकलित और सहेजना जरुरी है। आदिवासी पुरखौती कथाओं में स्त्री विमर्श का उल्लेख डॉ. सुश्री शरद सिंह ने अपने चिंतन के माध्यम से किया है। वे कहती हैं 'आदिवासी पुरखौती कथाओं में स्त्री की सहज प्रकृति को वर्णित किया गया है। पुरुषवादी समाज में स्त्री से उनके उन गुणों की अपेक्षा की जाती है जिसमें वह पुरुष के प्रति समर्पित, स्वविवेक को भूलकर आज्ञा मानने वाली, स्वनिर्णय क्षमता रहित तथा पूर्णतया पुरुष पर निर्भर रहे। ...इन कथाओं में स्त्री का पुरुष के प्रति प्रेम, समर्पण तथा निष्ठा तो है किन्तु साथ ही यह स्त्री इच्छित पति चुन सकती है, किसी भी आयु, किसी भी अवस्था में विषम परिस्थितियों का डटकर सामना कर सकती हैं, अपने बुद्धिकौशल से पुरूषों को भी संकट से बचा सकती है, उसमें अपने अधिकारों के लिए लड़ने की क्षमता है, वह स्त्री

जाति के अस्तित्व के प्रति सजग है अर्थात् इन कथाओं की स्त्री एक पूर्ण मनुष्य की भांति पूर्ण स्त्री है।"[255]

साहित्य में उपलब्ध पुरखा साहित्य में दो-तीन विशेषताएँ कॉमन हैं-'पुरखों के प्रति कृतज्ञता का भाव, प्रकृति और प्रेम के प्रति गहरी संवेदनशीलता, बाहरी समाज के हमलों के प्रति सजगता, अपनी परम्परा और संस्कृति को बचाने का भाव आदि। आदिवासियों पर बाहरी समाजों के हमलों का इतिहास काफी पुराना है और उतनी ही पुरानी है उसके प्रति आदिवासी पुरखों की सजगता। एक मुंडारी कविता का उदाहरण इस प्रकार हैं-

'रास्ते में एक जोड़ा जो लूदम फूल है
उस फूल को ऐ बेटी, किसने तोड़ लिया?
रास्ते में अटल फूल की जो कतार है /हे बेटी, किसने छीन लिया?

चमचमाते हुए शिकारी शिकारियों ने फूल तोड़ लिया

झलकते हुए अहेरी अहेरियों ने डाल को छीगा दिया

शिकारियों ने जो फूल को तोडा़

हे बेटी, चोटी से ही तोड़ लिया।"[256]

आदिवासी कविता में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है। आदिवासी चेतना से लैस कविता आदिवासी संस्कृति, इनकी अस्मिता के सवाल को मुख्यधारा के सामने ला रही है। गैर आदिवासी कवियों ने आदिवासी लोगों को कविता में नकारात्मक रूप में दर्शाया गया है ? इसका स्पष्टीकरण 'आदिवासी

[255] भारत की आदिवासी लोककथाओं में स्त्री विमर्श, कथाक्रम, संपा. शैलेन्द्र सागर, दिल्ली, अक्तूबर-दिसम्बर, 2011, पृ. 44
[256] बांसरी बज रही है, जगदीश त्रिगुणायत, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, पृ. 6

साहित्य:एक आकलन' लेख में दिया है कि 'स्वयं के अस्तित्व तथा अस्मिता की तलाश आदिवासी साहित्य का मुख्य विषय है। इनके लिए आदिवासी के स्थान पर 'वनवासी' शब्द का प्रयोग विस्तृत पैमाने पर किया जा रहा है । लेकिन ये लोग 'वनवासी' शब्द से अत्यधिक नफरत करते हैं । ये अपने आप को यहाँ के मूलनिवासी मानते हैं । वनवासी कहकर आदिवासी की ऐतिहासिक पहचान को समाप्त करने का षड़यंत्र चल रहा है जो इन्हें स्वीकार नहीं । 'गाँवबांधनी' कविता में कवि संकेत करते हैं –

'वे हमें सौ टक्का सब्सिडी इसलिए दे रहे हैं
ताकि उसके बदले में
आदिवासियों का नामकरण
'वनवासी' किया जाए ।"[257]

इन कविताओं में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति को गैर आदिवासी कवियों ने नकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया है और साथ ही उनकी संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास किया गया है, जो कि षड़्यंत्र का एक पहलू है जिसमें आदिवासी समाज का चेहरा दोहरे शोषण के जरिये प्रकट हुआ है ।

4.2.2. यथार्थवादी दृष्टि

यथार्थवाद के लिए अंग्रेजी का शब्द 'रियलिज्म' है । यथार्थवाद अंग्रेजी भाषा के शब्द 'रियलिज्म' का हिन्दी रूपांतर है । 'रियल' शब्द ग्रीक भाषा के रीस शब्द से बना है जिसका अर्थ है वस्तु । अत: रियलिज्म का अर्थ वस्तुसंबंधी

[257] अरावली उद्धघोष , जनकसिंह मीणा, (संपा.), अंक-100, पृ. 71

विचारधारा है। यही कारण है 'रियलिज्म'(यथार्थवाद) वस्तु के अस्तित्व से संबंधित यह एक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु सत्य और वास्तविक है।

हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद यह शब्द अंग्रेजी के 'Realism' का पर्याय माना जाता है । यथार्थवाद आधुनिकता की देन है । यथार्थवाद का जन्म सर्वप्रथम दार्शनिक विचारधारा के रूप में हुआ। यथार्थवाद साहित्य में एक शैली का नाम है।

यथार्थवाद की परिभाषा अलग-अलग विद्वानों ने इस प्रकार से दी है-

शिव कुमार मिश्र कहते हैं, "यथार्थवाद का उद्भव 18 वीं शताब्दी के उतरार्ध में ही एक सशक्त साहित्यिक आन्दोलन के रूप में हुआ । यथार्थवादी आन्दोलन के इस उद्भव ने परम्परागत साहित्य तथा कलाओं अनुशासन करने वाली भाववादी और आदर्शवादी चिंतन को आघात पहुँचाया।"[258]

भारतीय दर्शन में यथार्थवाद का स्वरूप दिखाई देता है। इस संदर्भ में परशुराम शुक्ल का कथन है, "नवीन वैज्ञानिक प्रगति ने दर्शन को शुद्ध यथार्थवादी प्रेरणाएँ और अध्ययन के यथार्थवादी आयाम दिए। आधुनिक युग की अनेक चिंतनधाराओं में आदर्शवाद और यथार्थवाद की विशेष चर्चा हुई।"[259]

यथार्थवाद को परिभाषित करते हुए आचार्य नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं, "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक-पृथक सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का संबंध प्रत्यक्ष वस्तु जगत

[258] यथार्थवाद, डॉ. शिवकुमार मिश्र, पृ. 7

[259] हिन्दी साहित्य का निबंधात्मक इतिहास, उमेश शास्त्री, पृ. 263

है।"[260] छायावाद की कवयित्री महादेवी वर्मा यथार्थवाद के विषय में कहती है, "यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है जहाँ से वह हमें जीवन के उस भिन्न वर्णी चित्र ही नहीं देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति प्रतिक्रियात्मक संवेदन भी होता है ।"[261] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है, "यथार्थवाद कला के क्षेत्र में ऐसी एक मानसिक प्रवृति है, जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपमित होती है।"[262]

रामचन्द्र वर्मा यथार्थवाद के संदर्भ में लिखते हैं, "यथार्थवाद में आदर्शों का ध्यान छोड़कर उसी रूप में कोई चीज या बात लोगों के सामने रखी जाती है जिस रूप में वह नित्य या प्राय: सबके सामने आती रहती है । उसमें कर्ता न तो अपनी ओर से टिप्पणी करता है, न अपना दृष्टिकोण बतलाता है और निष्कर्ष निकालने का काम पाठकों पर छोड़ देता है ।"[263]

उमेश शास्त्री ने यथार्थवाद की विशेषताएँ निम्नलिखित मानी हैं-

- 'यथार्थवाद भौतिकवाद के रूप में अस्तित्व रखने वाली वास्तविकता को व्यक्त करता है ।
- यथार्थ वाद आदर्शवादी विचारधारा का विरोधी है ।
- यथार्थवादी आधुनिक और लोकप्रिय वस्तुओं का चयन करता है ।
- यथार्थवाद कल्पना से दूर रहता है ।

[260] हिन्दी साहित्य का निबंधात्मक इतिहास, उमेश शास्त्री, पृ. 265
[261] वही,
[262] वही,
[263] मानक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा, पृ. 435

- यथार्थ दृष्टि यथार्थवादी का मुख्य दृष्टिकोण है।
- यथार्थवाद लोकवार्ता और अश्लीलता का निस्संकोच अभिव्यक्ति का पक्षधर है।
- समसामयिक व युगीन घटनाओं, मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों का प्रासंगिक प्रस्तुतिकरण करता है।
- यथार्थवाद कला को कला के लिए अपितु जीवन की अभिव्यक्ति स्वीकारता है।
- यथार्थवादी रचना वैयक्तिकता को अधिक महत्त्व देती है।"[264]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यथार्थवाद सामाजिक संरचना की विसंगतियों को प्रस्तुत करता है। यथार्थवाद का प्रमुख लक्ष्य सर्वहारा, दलित और आदिवासी वर्ग का चित्र अंकित करता है। यथार्थवाद परम्परागत मान्यताओं को अधिक महत्त्व देता है।

आदिवासी समाज का चित्रण इतिहास के रूप में कवि ने किया है । क्योंकि आदिवासी समाज का इतिहास बहुत पुराना है। आदिवासी कविता में आदिवासी जीवन शैली का सम्बन्ध प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ है। इसी संदर्भ में डॉ. मलखान सिंह टिप्पणी करते हैं- 'इस प्रकार अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, अपना इतिहास, अपना भूगोल जानने , सबकी पड़ताल करने उसे बाह्य जगत से रूबरू कराने की चेतना से युक्त है-समकालीन आदिवासी कविता लेखन। विकास के नाम पर प्रकृति का अंधाधुंध दोहन ही विनाशकारी प्राकृतिक आपदाओं का कारण हैं। जब पूरी

[264] हिन्दी साहित्य का निबंधात्मक इतिहास, उमेश शास्त्री, पृ. 265

दुनिया पर्यावरण के असंतुलन के प्रति चिंतित है तब आदिवासी जीवनशैली, प्रकृति के प्रति उनका मित्रवत व्यवहार दुनिया के लिए एक नज़ीर है। कवि आदिवासियों के प्रकृति प्रेम को निम्न पंक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं -

'अगर प्यार और स्नेह
तो जाओ पेड़ के पास /धरना चाहते हो गर
धैर्य, सब्र और सच्चाई /तो जाओ पेड़ के पास।"[265]

इस कविता के माध्यम से कवि ने आदिवासी जीवन दर्शन को प्रकृति के विविध रूपों में दिखाने का प्रयास किया है। आदिवासी समाज का जीवन ही वास्तव में प्रकृति से ही जुड़ा हुआ है, वह प्रकृति पूजक माना जाता है न की स्वामी। फिर भी उसमें नि:स्वार्थ भावना रहती है प्रकृति के साथ, वह प्रकृति का उतना ही दोहन करता है जितनी उसको आवश्यकता होती है। यही चेतना आदिवासी कविता में विविध रूप में प्रकट हुई है। आदिवासी लेखन का मुख्य विषय आदिवासी समाज की जीवन-शैली, संस्कृति और प्रकृति के साथ तालमेल पर आधारित है, जिसका वर्णन कवियों ने आदिवासी कविता में किया है।

निर्मला पुतुल की कविताओं के माध्यम से पहली बार आदिवासी स्त्री की पीड़ा की साहित्य में मुखर रूप से अभिव्यक्त हुई है। उनकी कविता 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए' पाठकों के बीच बहुत लोकप्रिय है, जिसमें वे तमाम स्त्रियों की प्रतिनिधि बनकर पुरुषों से सवाल करती हैं कि –

'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए एक तकिया
कि कहीं से थका-मांदा आया

[265] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, गंगासहाय मीणा, (संपा.), पृ. 35

और सर टिका दिया /या कोई चादर

की जब जहाँ जैसे-जैसे /ओढ़-बिछा ली ?"[266]

महादेव टोप्पो ने 'जंगल पहाड़ के पाठ' कविता संग्रह में आधुनिकता और प्राचीन परम्पराओं के बीच आदिवासियत के संकट को वैश्विक दृष्टि से समझाने की कोशिश की हैं। वही दूसरी ओर ये कविताएँ धरती, मनुष्य और मनुष्यता को बचाने के लिए चिंतित और बेचैन भी नज़र आती हैं। आधुनिकता की चकाचौंध में आदिवासी सभ्य बनने की दौड़ में अपनी संस्कृति और सभ्यता को भूल गया हैं-

'आधुनिकता और प्राचीन परम्परा /इन दो पाटों के बीच दबा

शहर और जंगल की ओर /अपनी महत्वाकांक्षाओं की यात्रा करता

होता हूँ सवार कभी कार पर /कभी बैलगाड़ी पर

दुविधाओं की धूल पीछा नहीं छोड़ती /और शहर से जंगल की सड़कों तक तब /मैं

एक जंगली, एक आदिवासी /महसूस करता हूँ घुटन

कि असभ्य से सभ्य बनने की कोशिश में

जीवन की अन्धी दौड़ में /एक पुर्जा बनता जा रहा हूँ

न बचा पा रहा हूँ अपना आदिवासीपन /न पुरखों की विरासत।"[267]

वैश्विक परिदृश्य में आदिवासी दर्शन की महत्ता को आदिवासी कवि महादेव टोप्पो ने कविता संग्रह 'जंगल पहाड़ के पाठ' में दिखाया है। आधुनिकता के दौर में किस तरह हमारे आदिवासी समाज का आदिवासी दर्शन गायब हो रहा है उसकी चिंता को जगजाहिर करते हुए नए दृष्टिकोण के साथ अपनी बात को रखने की कोशिश की है –

[266] आदिवासी चिंतन की भूमिका, गंगासहाय मीणा, (संपा.) , पृ. 53

[267] जंगल पहाड़ के पाठ (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 16

‘आप क्यों हँसते हैं ?/देखकर हमें!
कम कपड़े पहनते हैं इसलिए ?/काले दिखते हैं इसलिए ?

जंगल बीच गाँवों में रहते हैं इसलिए ?

आपकी तरह लिख-पढ़ नहीं पाते हैं इसलिए ?

जानिये फुटकल भी दवाई है, रानू बनाते बूटियाँ भी

और भी अनेक ऐसे ही जंगल में हैं औषधियाँ...

क्या आप बता सकते हैं यह,/पत्ते इनके देखकर ?

रात को तारे देख बता सकते हैं हम- समय

मकड़े, चींटी की देखकर गतिविधि,

बता सकते हैं कब होगी बारिश?या बदलेगा मौसम?”[268]

इस कविता के माध्यम से कवि ने भूमंडलीकरण के इस दौर में खत्म होते आदिवासी दर्शन को बचाने की बात कही है। इस आधुनिकता की दौड़ में आदिवासी संस्कृति लुप्त होने के कगार पर पहुँच गई है। यह विश्वदर्शन के लिए खतरा है। इस खतरे को भांपते हुए आदिवासी कवि महादेव टोप्पो ने दर्शन और जीवन दृष्टि की ओर इंगित किया है। ‘जंगल पहाड़ के पाठ’ कविता संग्रह में कवि ने आदिवासी दुनिया के संघर्ष, जद्दोजहद, आक्रोश, पीड़ा, प्रतिरोध के अतिरिक्त आशाओं, आकांक्षाओं, सपनों से न केवल परिचित कराया है। बल्कि आदिवासी-जीवन और झारखंडी-परिवेश से जुड़े, अनदेखे कई मुद्दों, प्रश्नों की स्थानीयता को, वैश्विक-संदर्भों से भी जोड़कर एक नया आयाम दिया है।

[268] जंगल पहाड़ के पाठ (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 19

महादेव टोप्पो के कविता संग्रह 'जंगल पहाड़ के पाठ' में शीर्षक कविता 'मैं पूछता हूँ' में आदिवासी के इतिहास को कमजोर साबित किया गया है। उन्हें इस देश के संविधान और लोकतंत्र में उपेक्षित दृष्टि से देखा जा रहा है। इतिहास के अनछुए पहलुओं को कवि ने दिखाने का प्रयास किया है क्योंकि आज का इतिहास आदिवासी को किस रूप में देखता है और उसको किस रूप में इतिहास में दर्ज़ कर रहा है? इसकी पड़ताल आदिवासी कवि अपनी कविताओं में करते हैं। कवि कविता की इन पंक्तियों के माध्यम से आदिवासी इतिहास के पिछड़ेपन को उजागर करता है–

'सरकार के शब्दकोश में /हम हैं कमजोर वर्ग के आदमी
जैसा कि और अख़बारों में आते हैं सरकार के बयान
दफ़्तर में अपने सहकर्मियों के बीच हम
चपरासी, क्लर्क या अधिकारी नहीं हैं
या फिर रिजर्व कोटे के आदमी /संविधान की भाषा में हम
अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति हैं
मनु की भाषा में शूद्र /कम्यूनिस्टों की भाषा में शोषित...
मैं पूछता हूँ तुम सबसे /आखिर इस देश में/हम क्या हैं ?''[269]

हिन्दी आदिवासी कविता में आदिवासी जीवन की पीड़ा का चित्रण महादेव टोप्पो की कविता 'फिर भी हम कहते रहे हैं जोहार' में प्रमुखता से उभरकर सामने आया है। इन सीधे-सादे आदिवासियों के साथ दिकू लोगों ने सीधेपन का फायदा उठाकर उनके साथ षड्यंत्र रचकर उनको जबरन अपनी जमीन से बेदखल कर दिया। यहाँ कवि ने दिकू समाज की दकियानूसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए आदिवासी

[269] जंगल पहाड़ के पाठ (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 90

समाज को सचेत किया है। इनकी कविता न केवल विद्रोह करती है, बल्कि प्रतिरोध के स्वर के साथ आदिवासी समाज की बात को मुख्यधारा के सामने लाती है और दिकू समाज के घिनौने रूप का पर्दाफाश भी करती हैं। इस कविता के माध्यम से कवि ने आदिवासी के साथ हुए छलावे के प्रति दुःख एवं आक्रोश व्यक्त किया है–

'अब तुम आते हो अनेक वेशों में /कभी हम तुम्हें पहचान लेते हैं
कभी नहीं पहचानते /आखिर तुमने बहुरूपिये की तरह
धर रखा है कई रूप /कभी इंजीनियर के वेश में
बी.डी.ओ के वेश में /कभी दरोगा के वेश में...
हम कभी-कभी इसलिए /तुम्हें पहचान नहीं पाते
आखिर किन –किन रूपों में हम तुम्हें पहचानें
क्योंकि हमने तुम्हारे जिस रूप को माना सच
उसी रूप ने किया है हमारे साथ विश्वासघात
फिर भी हम कहते रहते हैं तुम्हें जोहार ! जोहार! जोहार !''[270]

दिकू यानी बाहरी लोगों ने बहरूपिये वेश में आदिवासियों के साथ छल-कपट किया है। जबकि आदिवासियों ने उन्हें जोहार कहकर उनका अभिवादन किया। उन्हें बदले में क्या मिला ? उन्हें जमीन, जंगल से बेदखल कर दिया। यह कविता दिकू समाज द्वारा किए जा रहे छलावे के प्रति आक्रोश व्यक्त करती है। वंदना टेटे की कविता 'कब तक ? में आदिवासी की अपनी पहचान के संघर्ष के प्रति नई दृष्टि रखने की बात की गयी है-

'कब तक जोहते रहोगे
अपनी पहचान जानने...

[270] जंगल पहाड़ के पाठ (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 86

कब तक खुश होते रहोगे
कि उनकी कहानी में
तुम्हारा जिक्र है /कि तुम्हारा इतिहास

तुमने नहीं उसने लिखा है

अवतारों के आगमन की बाट...

क्यों करेगा कोई तुम्हारी

व्यथा का निराकरण

अपनी व्यथा बढ़ाने के लिए।"[271]

बतौर इन कविताओं में आदिवासी इतिहास का समग्र रूप में चित्रण हुआ है। आदिवासी जीवन दृष्टि समतावादी, भाईचारे की है जो 'वसुधैव कुटम्बकम्' की भावना का अनुसरण करती है। वंदना टेटे ने कविता 'बाबा तिलका' में बाबा तिलका के योगदान का आदिवासी समाज के लिए किए गए संघर्ष के इतिहास का चित्रण बखूबी ढंग से किया है –

'तुम पर कोड़ों की बरसात हुई
तुम घोड़े में बांधकर घसीटे गए
फिर भी तुम्हें मारा नहीं जा सका

तुम भागलपुर में सरेआम

फांसी पर लटका दिए गए

फिर भी डरते रहे जमींदार और अंग्रेज...

आज सिर्फ तुम्हें तुम्हारे पहाड़िया वंशज ही नहीं

संताल भी तुम्हें अपना मानते हैं

[271] कोनजोगा, (कविता संग्रह), वंदना टेटे, पृ. 68

तुम जो जबरा पहाड़िया थे

और तुम्हें, जो बाबा तिलका मांझी हो

हम सब आदिवासी जनगण तुम्हें याद करते हैं।"[272]

इस कविता में आदिवासी इतिहास में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई में बाबा तिलका के महत्त्वपूर्ण योगदान का चित्रण किया है। उन्होंने मांझी के लिए अगुवा होकर युद्ध लड़ा जिसका इतिहास भी साक्षी रहा है। आदिवासी समाज को इतिहास में उपेक्षित दृष्टि से देखा गया है और उनके संघर्ष को इतिहास से बाहर किया है। इन बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए आदिवासी साहित्यकारों ने अपने लेखन में जगह देने की सकारात्मक पहल की। हरिराम मीणा ने मानगढ़ इतिहास की घटना का जिक्र 'मानगढ़' शीर्षक कविता में बखूबी ढंग से किया है –

'चलो, मानगढ़ की धरती पर
जिसकी घटना का अब भी वृतांत नहीं लिखा
यदि इतिहास न लिख पाओ तो

साथी लिखो उसी पर कविता।"[273]

आदिवासी समाज के जीवन के विविध पक्षों का चित्रण आदिवासी कविता में साहित्यकारों ने बखूबी ढंग से किया है। आदिवासी समाज का जीवन प्रकृतिमय रहा है , जीवन में राग, लय उसके प्रतिमान रूप में विद्यमान रहते हैं।

आदिवासी कविताओं की मूल प्रकृति 'गीत' की रही है जिसकी रचना पूरे आदिवासी समुदाय ने की है। उनकी कविताओं में संगीत और नृत्य की ताल की अनिवार्यता मौजूद है। सृजन की इस सांगीतिक परम्परा में 'गीत' की परम्परा कविता

[272], कोनजोगा (कविता संग्रह), वंदना टेटे पृ. 86

[273] अरावली उद्घोष, शंकरलाल मीणा (संपा.), पृ. 23

में ध्वनि-संगीत की विशिष्टताओं के साथ-साथ गीतात्मक रूप में लय और ताल के साथ विद्यमान रहती है। इस गीतात्मक परम्परा के रूप में आदिवासी कवि रामदयाल मुंडा, दुलाय चन्द्र मुंडा की परम्परा से शुरू होकर अंत में अनुज लुगुन तक दिखाई पड़ती है। इसी संदर्भ में रामदयाल मुंडा की लंबी कविता 'शालवन के अंतिम शाल का' का एक अंश इस प्रकार से हैं-

'मैं सबकुछ देख रहा हूँ
और क्रोध से पागल हुआ जा रहा हूँ
मुझे अगर इस षड्यंत्र का पता होता
तो विकसित करता अपने भीतर
विषाक्त कोई द्रव्य, जो मेरी खाल छुनेवालो को

कर देता खार-खार

या कोई ओढ़ता काँटे, जो चुभते

मात्र दृष्टिपात पर।"[274]

दुलाय चन्द्र मुंडा वाचिक परम्परा में गीतात्मक रूप में नई ध्वनियों के साथ गीत प्रस्तुत करते हैं। 'मुंडा' गीतात्मक परम्परा के मूलतः कवि माने जाते हैं। वे गाते हैं-

'कौन-सा रास्ता लिया ?
नहीं दिखते तुम्हारे क़दमों के निशान तक
मैं कहाँ खोजूंगी ?

तिरिरिरी बांसुरी के स्वर में

मैं तुमको नहीं सुनती हूँ।"[275]

[274] लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, वंदना टेटे, (संपा.), पृ.59
[275] लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, वंदना टेटे, (संपा.), पृ.59

इसी रूप में तेमसुला आओ की कविता **'पहाड़ के बच्चे'** में प्रकृति के सौन्दर्य में नाचते गाता हुआ आदिवासी समुदाय अपना जीवन नृत्य के साथ विभिन्न रंगों के साथ जीता है-

' पहाड़ के बच्चे /एक बहुभाषी दुनिया
जो जानकार है /पक्षियों की भाषा के
और जानते है पशुओं का विमर्श
एक ऐसे छात्र /जिन्होंने चींटियों से सीखा है
नक्काशी की कला /जिनके मुकुट हैं
युद्धों में जीते गये /दुश्मनों के सिर।"[276]

आदिवासी लोग गेयता और लयात्मकता में जीते हैं, जो वे प्रकृति के सानिध्य में रहकर सीखते हैं। प्रस्तुत संग्रह वंदना टेटे की ' लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ' गीत रूप में रची गई है। लेकिन आदिवासी कविताओं की मूल प्रकृति 'गीत' की रही है, जिसका रचयिता वह नहीं बल्कि पूरा समुदाय है। संग्रह में शामिल कविताएँ 'गीत' सृजन के साथ सांगीतिक परम्परा को अपने साथ लेकर चलती है।

आदिवासी जीवन को लेकर जब कविता की बात आती है तो उनकी मौखिक परम्परा ही सामने आती है। यह गेय परम्परा ही रही है। समकालीन कविता की दृष्टि से आँचलिक भाषा में अवश्य कविताएँ लिखी गई है। लेकिन हिन्दी में आदिवासी कविता अभी शुरूआती दौर में चल रही है। इस दौर में कई आदिवासी और गैर-आदिवासी कवियों द्वारा आदिवासियों के जीवन पर कविताएँ लिखी जा रही है। विशेष रूप से आदिवासियों का संघर्ष, अस्मिता, संकट, घुसपैठ, नायक बिरसा,

[276] लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, वंदना टेटे, (संपा.), पृ. 21

आदिवासी स्त्री, संस्कृति, भाषा आदि को लेकर कविता लिखने की कोशिश की जा रही है। इस दृष्टि से निर्मला पुतुल, रमणिका गुप्ता, हरिराम मीणा, चंद्रकांत देवताले, रोज केरकेट्टा, ग्रेस कुजूर, अनुज लुगुन, मंजू ज्योत्स्ना, सरिता सिंह बड़ाईक, ऋतुराज, लीलाधर मंडलोई, वाहरु सोनवणे आदि कवियों ने अपने लेखन में आदिवासी समाज को रखा है। "ये आदिवासी स्वर की कविताएँ केवल आदिवासी जीवन के अनुभव में सीमित रचनाएँ ही नहीं हैं, प्रत्युत अंततः सम्पूर्ण मानवीय सरोकारों की अभिव्यक्ति हैं।"[277] लेकिन आज आदिवासी पर लिखा जा रहा साहित्य अपने इतिहास का नेतृत्व कर पा रहा है या नहीं, यह सोचने वाली बात है। "अगर आदिवासी साहित्य में यदि प्रकृति, सामूहिक जीवन-शैली, जंगल, जमीन से लगाव, आदिवासी विद्रोह, शौर्य, विस्थापन, पलायन और दमन शोषण का दंश और अपने इतिहास पर गर्व वर्णित न हो तो वह अधूरा ही माना जाएगा। आज तो स्त्री अधिकारों पर भी आदिवासी साहित्य में रचनाएँ आ रही हैं और बाजारवाद पर भी।"[278] वैसे तो आदिवासी लोग जंगल के दावेदार होकर भी जंगल से बाहर हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उनकी अपनी एक अलग संस्कृति, रीति-रिवाज एवं बोली है, जो अन्य जातियों से अलग है। "जिन मानव वैज्ञानिकों ने इन आदिवासियों के बीच काम किया है उनका विचार है कि ये आदिवासी अपनी सामाजिक व्यवस्था में अन्य जातियों से अलग हैं।"[279] स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास के पन्नों पर आदिवासियों का अपना एक अलग इतिहास लिखा जा सकता है।

[277] समकालीन आदिवासी कविता, संपा-हरिराम मीणा, पृ. 14
[278] एकांत श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी(संपा.), वागर्थ, पृ. 56
[279] भारतीय आदिवासी जीवन, संपा. श्याम परमार, पृ. 11

साहित्य की अन्य विधा की तरह आज कविता में भी आदिवासी जीवन पर कविताएँ लिखी जा रही हैं। कुछ लोग आदिवासी और दलित को एक ही समझते हैं। लेकिन सामाजिक तत्वों को लेकर इनमें भिन्नता है। आदिवासी की अपनी एक अलग संस्कृति है, जो मानवीय सभ्यता में अपनी अलग पहचान रखती है। प्राचीनकाल से ही आदिवासी समाज प्रकृति के सान्निध्य में अपना जीवनयापन करता आया है। आदिवासियों के लिए प्रकृति ही देवता है।इसलिए वे 'जंगल के दावेदार' कहे जाते हैं। लेकिन आज के समय में परिस्थिति बदल गई है। जंगलों को नष्ट करके बड़ी-बड़ी इमारतें बनायी जा रही हैं। सड़कों,बाँधों एवं शासन की परियोजनाओं के नाम पर उनका पुनर्वास किया जा रहा है। विस्थापन के नाम पर आदिवासियों का शोषण किया जा रहा है। इस प्रकार एक ओर आदिवासियों को अपनी सभ्यता के और दूसरी ओर अस्मिता के संकट पैदा हो रहे हैं। इनका संकेत आज की कविता में देखने को मिल रहा है। रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली के द्वारा विभिन्न भाषाओं में लिखित आदिवासी कविता संग्रहों का अनुवाद किया जा रहा है, ताकि आदिवासी जीवन को सही ढंग से समझाया जाये। इसलिए रमणिका फाउन्डेशन के द्वारा प्रसिद्ध आदिवासी कवि वाहरु सोनवणे का 'गोधड'(1987), काव्य संग्रह का हिन्दी में 'पहाड़ हिलने लगा है' नाम से अनुवाद किया गया। आज के आदिवासियों की स्थिति का जिक्र उनकी कविताओं में हुआ है। वैसे तो मूल आदिवासी और गैर-आदिवासियों द्वारा भी आदिवासी लेखन किया जा रहा है। आज समकालीन हिन्दी कविता में आदिवासी के जीवन पर कविताएँ लिखी जा रही है।जिनमें हरिराम मीणा, निर्मला पुतुल, वंदना टेटे, ग्रेस कुजूर, शंकर लाल मीणा,

सहदेव सोरी, डॉ. रामदयाल मुंडा, महादेव टोप्पों, सरिता सिंह बड़ाईक, लीलाधर मंडलोई, रमणिका गुप्ता, चन्द्रकांत देवताले, वाहरु सोनवणे, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह आदि कवियों के नाम लिए जा सकते हैं। इन्होंने अपनी कविता में आदिवासी जीवन के विभिन्न पक्षों को स्पर्श करने की कोशिश की है।

इक्कीसवीं सदी के श्रेष्ठ आदिवासी लेखकों में हरिराम मीणा का नाम लिया जा सकता है। उनके अब तक तीन काव्य संग्रह-'हाँ चाँद मेरा है', 'रोया नहीं था यक्ष' तथा 'सुबह के इंतजार में' में प्रकाशित हो चुके हैं। इन काव्य-संग्रहों में कवि ने आदिवासी सभ्य समाज को पहचानने की कोशिश की है। हरिराम मीणा आदिवासी समाज से है। इसलिए उनकी कविताएँ आदिवासियों के जीवन को बहुत ही बारीकी से चित्रित करती है। 'हाँ चाँद मेरा है' संग्रह में हरिराम मीणा ने मेवाड़ के अंचल में रहने वाली 'भीलनी' जनजाति के लोगों की संवेदनाओं को महत्त्व दिया है। प्रबंधात्मक लम्बी कविता की दृष्टि से उनका 'रोया नहीं था यक्ष' संग्रह महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि ने सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठायी है। कुबेर के माध्यम से सामान्य जनता के शोषण को उजागर किया है। अत: हरिराम मीणा ने इस संग्रह में सामंतवादी व्यवस्था का पर्दाफाश किया है। 'सुबह के इंतजार' काव्य संग्रह में कवि ने आदिवासी और उसके आसपास के परिवेश का चित्रण किया है। कवि ने आदिवासियों के जननायक के रूप में बिरसा मुंडा की भी पहचान करायी है। इसलिए इस संग्रह की अनेक कविताएँ आदिवासी के विद्रोह को प्रकट करती हैं। इसमें कवि ने स्थापित जमींदार, सरदार एवं ब्रिटिश की नीति को खत्म कर दिया है ।इसलिए इस संग्रह की कविताएँ हमें तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करती हुई

नज़र आती है। हरिराम मीणा मूलतः आदिवासियों के शोषण के साथ उनके संघर्ष के भयंकर रूप को चित्रित करते हैं । कई कविताएँ तो नर्मदा नदी पर बनाए जा रहे सरदार सरोवर बाँध पर भी भाष्य करती है। मेधा पाटकर ने नर्मदा बचाओ आंदोलन का नारा लगाकर आदिवासियों के विस्थापन एवं पुनर्वास की समस्याओं को उजागर किया है ।कई कविताएँ इन समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं। हरिराम मीणा की 'सरदार सरोवर में डूबा भविष्य,' 'राजस्थान में भीषण अकाल' आदि कविताएँ आदिवासी जीवन के साथ विस्थापन की समस्याओं पर भाष्य करती हैं। हरिराम मीणा लिखते हैं-

'ग्लोबल विकास के पैकेज पर
प्रहार करने का स्वांग करते
प्रकृति-पुत्रों की आवाज निकालते
नेपथ्य में सुरक्षित शैतानों का समूह
विकास-घुसपैठ, आदिम चेतना-आतंक
सब गड्डमड्ड करती यात्रा
बाल्को, हिंदाल्क, नेतरहाट
नंदीग्राम, सिंगरुर, लालगढ़
राजधानी एक्सप्रेस से ग्रीन हंट-वाया दंतेवाड़।"[280]

समकालीन कविता में आदिवासी स्त्रियों पर निर्मला पुतुल ने अधिक कविताएँ लिखी हैं। अब तक उनके तीन काव्य-संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द,' 'अपने घर की तलाश,' 'बेघर सपने' प्रकाशित हो चुके हैं। ये तीनों ही कविता संग्रह आदिवासी के जीवन पर प्रकाश डालते हैं । उनमें पुरुषवादी सोच की चिंता और नारी अस्मिता

[280] समकालीन आदिवासी कविता, संपा. हरिराम मीणा, पृ. 105-106

आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरी ओर वाहरु सोनवणे का 'पहाड़ हिलने लगा है' काव्य-संग्रह में आदिवासी के दर्द, उनकी पीड़ा, समस्याएं, त्रासदियाँ आदि बैचेनी के साथ उजागर हुई हैं। किन्तु इस बैचेनी में एक संयम का स्वर है जो कवि के क्रोध में आकर चिल्लाने के लिए मना करता है। केदार प्रसाद मीणा लिखते हैं, "वाहरु सोनवणे का स्वर निर्मला पुतुल से थोड़ा भिन्न है। यह महिपाल भूरिया की कविताओं से अधिक साम्य रखता है। शायद इसलिए भी ये दोनों कवि पुरुष हैं और निर्मला पुतुल एक स्त्री। आदिवासी समाज में भी पुरुषवादी सोच घर करती जा रही है और यह निर्मला पुतुल की वाजिब चिंता है जो उनकी कविताओं में झलकती है। पर आदिवासी पुरुष की समस्याओं का दायरा भी कम बड़ा नहीं है। वह समाज में हर जगह आता-जाता है, हरेक का सामना करता है। अगर वह समस्याओं के सम्मुख हमेशा इतना आक्रोशित व मुखर होगा जितना कि एक महिला होती है, तो वह जल्दी ही टूट जायेगा। अपना, अपने परिवार का अस्तित्व बचा नहीं पायेगा। इसलिए वाहरू सोनवणे की कविताओं में सभी दर्द, सभी समस्याएं, सारी त्रासदियाँ बहुत ही सयंमभरी बेचैनी के साथ दर्ज होती हैं। वह बार-बार आदिवासी-आदिवासी भी नहीं चिल्लाता है।"[281] वाहरू सोनवणे की 'स्टेज' नाम की कविता आदिवासी शोषकों की नीति का पर्दाफाश करती है। कवि कहते हैं-

'वे स्टेज पर खड़ा हो हमारा दुःख
हमें ही बताते रहे हमारा दुःख
अपना ही रहा कभी उनका हुआ ही नहीं।"[282]

[281] रमणिका गुप्ता (संपा.), युद्धरत आम आदमी पत्रिका, केदार प्रसाद मीणा का लेख, पृ. 101
[282] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 101

यह कविता उन लोगों पर तीखा प्रहार करती है जो दलित एवं आदिवासी की पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं । लेकिन उनके अस्तित्व को जगह नहीं छोड़ते । आदिवासियों एवं पिछड़े समाज को व्यवस्था की मुख्यधारा में लाने की घोषणा स्टेज पर करते हैं । कवि केवल कवि ही नहीं बल्कि समाज का अध्येता भी होता है। इसलिए समकालीन आदिवासी कवियों ने अपने समाज के भोगे यथार्थ को परखा है। आज की कविता में प्रकृति और प्रेम की जगह आम आदमी की शंका, शोक, विद्रोह, शोषण और आंदोलन आदि को महत्त्व दिया जा रहा है । निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी सभ्यता, अस्मिता, आदिवासी स्त्री की व्यथा, शोषण आदि का महत्त्व रहा है । दलित लेखकों के समान निर्मला पुतुल पर भी अम्बेडकरवादी विचारधारा का प्रभाव दिखाई देता है । इसलिए उनकी कविता में दलित और आदिवासी समाज का चित्रण आया है । प्रो. ऋषभदेव शर्मा ने लिखा है, "अम्बेडकरवादी कविता के उन्नायकों में निर्मला पुतुल का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने केवल दलित जीवन को ही नहीं बल्कि दलितों में दलित अर्थात् आदिवासियों और स्त्रियों के जीवन संघर्ष को अपनी कविता का विषय बनाया है।"[283] आदिवासी समाज की अपनी संस्कृति एवं सभ्यता होती है । प्रकृति की सुन्दरता में वे अपना जीवन बिताते हैं। लेकिन सड़कों, बाँधों का निर्माण तथा शासन की परियोजनाओं के नाम पर उनका पुनर्वास किया जा रहा है। गाँव के परिवेश को छोड़कर ये लोग शहरों में बसना चाहते हैं। लेकिन यहाँ उन्हें झुग्गी-झोपडियों में ही जीवनयापन करना पड़ता है। निर्मला पुतुल दलितों एवं आदिवासियों की स्थिति पर प्रकाश डालती है-

[283] प्रो. ऋषभदेव शर्मा, साहित्य कुंज, पृ. 42

'और उन जगमगाती रोशनियों से दूर
शहर के आखिरी छोर पर झुग्गी-झोपड़ियाँ हैं
जहाँ टिमटिमाते हुए कुछ दिए जल रहे हैं

दिल की लौ लगातार लड़ रही है अंधेरों से

और अँधेरा है कि भागने का नाम नहीं ले रहा है।

अंधेरों से घिरी झोपड़ियों में बैठा हुआ आदमी

देख रहा है दिए अँधेरे से लड़ते।"[284]

निर्मला पुतुल की कविता में पुरुष की सोच, विडम्बना है दूसरी ओर अपनी जमीन को तलाशती हुई बेचैन स्त्री है। 'आदिवासी लड़कियों के बारे में' कविता में कवयित्री ने आदिवासी लड़कियों के उल्लासमय जीवन को इस प्रकार व्यक्त किया है-

'ऊपर से काली भीतर से अपने चमकते दाँतों
की तरह शांत धवल होती हैं वे /...वे जब खेतों में
फसलों को रोपती काटती हुई गाती हैं गीत
भूल जाती हैं जिन्दगी के दर्द /ऐसा कहा गया है।"[285]

उनकी कविता में आदिवासी स्त्रियों की दुनिया अलग है, जो महानगर की दुनिया से अपरिचित हैं। निर्मला पुतुल सभ्य समाज की भोगवादी मानसिकता की निंदा करती है। यह समाज आदिवासियों के रहन-सहन, पोशाक, भाषा आदि का मजाक उड़ाता है। निर्मला पुतुल पुरुष के शरीर की अपेक्षा स्त्री के अलग मन को समझना चाहती हैं वह कहती है-

[284] भारतीय साहित्य और आदिवासी विमर्श, संपा. माधव सोनटक्के, डॉ. संजय राठौड़, वाणी प्रकाशन, पृ. 38
[285] Kavitakosh.org (आदिवासी लड़कियों के बारें में (कविता), नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल

'तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के मन की गाँठ खोलकर
कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का खौलता इतिहास।"[286]

निर्मला पुतुल ने आदिवासी पुरूषों की नीति का भी पर्दाफाश किया है। इसलिए उनकी कविताएँ बार-बार आदिवासी स्त्री चुप्पी तोड़ने का काम करती हैं। इस प्रकार निर्मला पुतुल की कविताओं में दलित, आदिवासी और स्त्री के अधिकारों का चित्रण हुआ है। आज की कविता आदिवासी के जीवन की समस्याओं से संबंधित है। आदिवासी समाज सदियों से विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करता आया है। वह अपनी अस्मिता, संस्कृति, भाषा एवं जीवन शैली को बरकरार रखे हुए है। आदिवासी जीवन को लेकर जब कविता की बात की जाती है तो मौखिक परम्परा सामने आती है। आधुनिक दौर में विविध भाषाओं में कविता के माध्यम से आदिवासी जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति होती रहती है। इस दृष्टि से कवि ग्रेस कुजूर,हरिराम मीणा, निर्मला पुतुल की कविताएँ महत्त्वपूर्ण है। हरिराम मीणा आदिवासी और प्रकृति का गहरा संबंध मानते हैं। इसलिए उनकी कविता में आदिवासी जीवन में प्रकृति महत्त्व रहा है। ग्रेस कुजूर की कविताएँ मनुष्य को प्रकृति न छेड़ने की बात करती हैं। निर्मला पुतुल कविता के माध्यम से बाहरी लोगों की साजिशों को पहचानती है। गैर-आदिवासी समाज की स्त्रियों ने पुरुष के वर्चस्व को सहा है। जबकि आदिवासियों की मूल समस्या अपने अस्तित्व को लेकर है। हरिराम मीणा की 'आदिवासी और यह दौर' कविता में विकास के नाम पर

[286] Kavitakosh.org (क्या तुम जानते हो (कविता), नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल

आदिवासी का शोषण होता हुआ दिखाई देता है। आज आदिवासी बड़े संकट से जूझ रहे हैं। इस दौर में जमीन से विस्थापन की समस्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। बाँध परियोजना, रेलवे लाइन, खनन-व्यवसाय, औद्योगीकरण, अभयारण्य एवं अन्य कारणों से आदिवासियों का विस्थापन हो रहा है। एक तरह से उन्हें अपनी पूर्वजों की जमीन से खदेड़ने को मजबूर किया जाता है। इसकी वजह से उनके जीविका के साधन समाप्त होते जा रहे हैं। दूसरी ओर जंगलों का विनाश किया जा रहा है। कवि सूर्यभान गुप्त की 'पेड़ अब भी आदिवासी है' कविता आदिवासी और प्रकृति के गहरे संबंध को दर्शाती है। वे सदियों से पीड़ित आदिवासी समाज की स्थिति को प्रकट करते हैं। कवि कहते हैं-

'हो गयी सदियाँ मगर फिर भी
है अजूबा पेड़ अब भी आदिवासी है
पत्तियाँ अब तक पहनते हैं,मुड हो, नंगे ही रहते हैं
पेड़ इतने हो गए हैं कम /खो चुकी अपनी हरापन जो
उन अभागी जर्द नस्लों की उदासी है
पेड़ अब भी आदिवासी है।"[287]

आदिवासी कवियों ने शोषकों की साजिशों के खिलाफ़ आवाज उठायी है। अब वे ओढ़ी हुई सभ्यता को नहीं चाहते। इसलिए उन्होंने बिरसा मुंडा को फिर से धरती पर आने की कामना की है-

'...उठो कि अपने अँधेरे के खिलाफ़ उठो
उठो अपने पीछे चल रही साजिशों के खिलाफ़

[287] भारतीय साहित्य और आदिवासी विमर्श, संपा. माधव सोनटक्के, डॉ. संजय राठौड़, वाणी प्रकाशन, पृ. 40

नहीं चाहते अब हम ओढ़ी हुई सभ्यता

बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा।"[288]

इस तरह समकालीन कवियों ने हाशिए पर पड़े हुए गरीब, आदिवासी, उपेक्षित,वंचित लोगों का चित्रण किया है। साथ ही आदिवासी जीवन संघर्ष को लेकर उनका अपनी कविताओं में चित्रण किया है। कुछ कविताओं में आदिवासी और दलित जीवन के संदर्भ मिलते हैं। इस दृष्टि से रमणिका गुप्ता, ऋतुराज, लीलाधर मंडलोई आदि की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। ऋतुराज ने आदिवासी, उपेक्षित एवं हाशिए पर पड़े हुए आम लोगों के जीवन को ताकत के जरिए रेखांकित किया है। कवि मंगलेश डबराल ने 'कवि ने कहा' संग्रह के फ़लैप पृष्ठ पर लिखा है कि "आदिवासी जीवन की सरलता, मासूमियत और अच्छाइयां ऋतुराज की कविता के प्राण तत्व हैं। लेकिन वह आदिवासियों के मन की तरह जटिल और सांकेतिक भी हैं। एक आदिवासी कवि जितना व्यक्त होता है उससे कहीं अधिक अव्यक्त रहता है। शायद ऋतुराज की कविता भी इसी तरह है, शब्दों के पीछे एक जटिल संरचना है।"[289] ऋतुराज बाज़ार विरोधी है, क्योंकि साम्राज्यवादी बाज़ार में गरीब, आदिवासियों एवं आम आदमी कहाँ टिक पा रहे हैं। इसलिए उनकी कविताएँ आम आदमी एवं गरीब आदिवासियों के भीतर निवास करती है। 'ऋतुराज की संवेदना पर समकालीनता और उसके साथ आनायास आ जाने वाले विषयों का बहुत कम दबाव दिखता है। इसलिए उनकी कविताएँ प्रचलित स्वीकृत और तयशुदा मुहावरें से अलग है। वे मुख्य भूमि से दूर किन्हीं हाशियों पर रहने वाले गरीब आदिवासी दुनिया से आधुनिक शहरी सभ्यता

[288] भारतीय साहित्य और आदिवासी विमर्श, संपा. माधव सोनटक्के, डॉ. संजय राठौड़, वाणी प्रकाशन, पृ. 40

[289] कवि ने कहा, ऋतुराज , संग्रह के फ़लैप से उद्धृत

को देखते हैं। अगर कभी उनकी कोई कविता किसी आदिवासी के धनुष-बाण की तरह दिखने लगती है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । इसलिए कवि ऋतुराज आदिवासी सभ्यता के कवि हैं।...क्योंकि ऋतुराज का ज्यादातर जीवन राजस्थान के आदिवासियों, भीलों के क्षेत्रों में बीता है। और दूसरा शायद यह कि उनकी संवेदना शहरी तनावों के प्रति सजगता के बावजूद देशज और स्थानिक है।"[290]

कवि ऋतुराज की कविता में हाशिये पर पड़े हुए गरीब आदिवासी का संसार है। 'जंगल के दावेदार; कविता में आदिवासियों की जंगलों के प्रति आस्था है। दूसरी ओर शहरों की अमानुष दुनिया भी है। इस बदलती दुनिया में आदिवासी एवं आम लोगों की स्थिति क्या है? इसका समाधान ऋतुराज की कविताएँ ढूंढती हैं। आदिवासी शहरीकरण की विसंगतियों में नहीं रह पाते। वे अपने परिवेश में जाकर 'जंगल के दावेदार' बनना चाहते हैं। शहरों की आधुनिक सभ्यता को कवि इस प्रकार से व्यक्त करते हैं-

'उन्हें घर नहीं चाहिए /घर में अँधेरा होता है
अकेले व्यक्तियों का /वे घर की बजाय पेड़ चाहते हैं
जिस पर तरह-तरह की चिड़िया बैठेगी और उड़ जाएँगी
एक राशन कार्ड मेले में खोए हुए
किसी बच्चे का आर्त्तनाद होता है
वह उसका फोटो है जो कहीं गायब हो चूका है
उन्हें चाहिए जंगल में साथ-साथ चलता बच्चा

[290] कवि ने कहा, ऋतुराज , संग्रह के फ्लैप से उद्धृत

जो लोटने तक यह नहीं कहे कि भूख लगी है।"[291]

इस प्रकार कवि महानगरीय सभ्यता की विसंगतियों पर प्रहार करता है। शहरी परिवेश में सामान्य लोगों का अधिकतर शोषण ही किया जाता रहा है। 'जंगल के दावेदार' कविता में गरीब आदिवासियों का क़र्ज़ के नाम पर शोषण किया जाता है। कवि कहते हैं-

'दया अथवा ममता से बदलती नहीं है दुनिया
दया अथवा आशीष से बदलते नहीं है दरिद्र लोग
वे खूब समझते हैं उसे जो भीख दे रहा है
वे जानते हैं उसे जो हाथ मिला रहा है और क़र्ज़ उठा रहा है
वे सुन रहे हैं उनकी मुक्ति किधर से आ रही है ?"[292]

दूसरी और लीलाधर मंडलोई की कविता में सतपुड़ा की घाटियों के छिंदवाडा जिले के मूल आदिवासियों के जीवन-संघर्ष को दर्शाया गया है। इसमें गौंड आदिवासी की स्थिति उभरी है। आदिवासी लोग जंगल के सहारे अपना जीवन बिताते रहे हैं। कवि ने जंगलों का विनाश और खदान से कोयला बेचने की छूट को आदिवासियों के लिए खतरा बताया है। क्योंकि जंगल कटने के कारण आदिवासी धीरे-धीरे विस्थापित हुए हैं। दूसरी ओर कोयला खदानों के मजदूरों को काम की तुलना में मुआवजा कम मिलने की वजह से उनमें गहरा आक्रोश व्यक्त हुआ है। अत: मंडलोई की कविताएँ सामान्य मनुष्य का पक्ष लेती हैं। स्वयं कवि कहते हैं कि "मैं अंतिम उपेक्षित, वंचित और शोषित मनुष्य को अपनी भाषा में रचने को प्रतिबद्ध हूँ।"[293]

[291] ऋतुराज , कवि ने कहा, जंगल के दावेदार, पृ. 43
[292] कवि ने कहा, जंगल के दावेदार, ऋतुराज , पृ. 43-44
[293] कवि ने कहा, लीलाधर मंडलोई, पृ. 10

समकालीन कविता में अब तक आदिवासी, दलित, घुमंतू जनजाति पर बहुत कम लिखा गया है। परन्तु आज के वैश्वीकरण के युग में ये लोग अपने अस्तित्व को बाज़ार में टिकाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं । इसलिए आज के लेखकों और आलोचकों की नज़र उपेक्षित, वंचित एवं गरीब समाज पर जानी चाहिए ताकि वे भी समाज की मुख्यधारा में आ सकें। लीलाधर मंडलोई पर समकालीन परिवेश का प्रभाव रहा है। लेकिन कवि स्वयं कहते हैं, "मेरे पाठ में धीरे-धीरे निराला, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, धूमिल, चंद्रकांत देवताले, कुंवर नारायण, विष्णु खरे, ऋतुराज आदि आये और पाठ के दौरान मुझे अपनी कविता के लिए जैसे रास्ता मिला। लेकिन वहाँ आदिवासी और उपेक्षित वंचित समाज कुछ कम था या वैसा नहीं था और प्रकृति और पशु-पक्षियों का समाज भी वैसा ही कम था जैसा मैं सचमुच पाना चाहता था।"[294] सही है कि हिन्दी साहित्य में दलित, आदिवासी पर बहुत कम साहित्य लिखा जा गया है। लीलाधर मंडलोई की कविता में सतपुड़ा के जंगलों में रहने वाले आदिवासियों की स्थिति का चित्रण है। 'मेरी उम्र बयालीस के आगे की परछाई है' कविता में आदिवासियों की परम्परा, मूल निवासी एवं उनके वंशज का परिचय मिलता है। कवि कहते हैं-

'सतपुड़ा के कंधे है मेरे पास
इसी पहाड़ से गुजर पैदल आये थे माँ-बाप
कोसों का फासला अपनी पिंडलियों के भरोसे कलोगने।"[295]

'नानगिरू' कविता में आदिवासियों के जवानों की वीरता की सफलता पर आयोजित समारोह का चिंतन है। आदिवासी अपनी सभ्यता में परम्परा, वीरता, संस्कार को

[294] कवि ने कहा, लीलाधर मंडलोई, संग्रह के फ्लैप से उद्धृत
[295] कवि ने कहा, लीलाधर मंडलोई, पृ. 13

महत्त्व देता है। दूसरी ओर मंडलोई ने आदिवासियों के विस्थापितों की उभरती बस्ती में साजिशों की ताकत को चित्रित किया है। 'एक अबुझ बंदिश कविता' में गाँव के सामान्य लोगों की विस्थापितों की उभरती बस्ती है। साम्राज्यवाद एवं सरकार की विभिन्न परियोजनाओं के नाम पर आदिवासियों के गाँव को खाली करने के लिए मजबूर किया जाता है-

'गाँव भी तब उसे बमुश्किल शुमार किया जाता था
विस्थापितों की एक उभरती बस्ती थी जिसमें कुछ
घरनुमा-सी हो सकने वाली झुपड़ियाँ थी जिन पर...

नजीक से मुहार से यत्नपूर्वक काटकर जुटायी गयी
लेंडी की हरी कच्ची टहनियाँ थीं
जो किसी जुगत बिछी थी।"[296]

आज भी दलितों एवं आदिवासियों के विस्थापन के समय ठेकेदारों एवं अधिकारी वर्ग के माध्यम से शोषण किया जाता है। इस प्रकार मंडलोई ने अपनी कविता में गरीब, वंचित, उपेक्षित और आम जन को महत्त्व दिया है। साथ ही आदिवासियों की परम्परा, रीति-रिवाज, संस्कार, लोकगीत आदि का भी चित्रण अपनी कविताओं में किया हैं। अत: कहा जा सकता है कि आदिवासी ही इस देश के मूलनिवासी है ये प्रारम्भ में उपेक्षित, शोषित एवं नक्सलवाद के शिकार रहे हैं। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में आदिवासियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। बिरसा मुंडा जैसे क्रांतिकारी आदिवासी योद्धा ने अंग्रेजों की गुलामी और अत्याचार को नामंजूर करके

[296] कवि ने कहा, लीलाधर मंडलोई, एक अबुझ बंदिश, पृ. 20

अपना बलिदान दिया। इसलिए समकालीन हिन्दी कवियों की कविताओं पर बिरसा मुंडा, टंट्या भील जैसे जननायकों का प्रभाव रहा है।

निष्कर्ष

आदिवासी समाज हमेशा से प्रकृति पूजक रहा है। उसकी जीवन शैली 'वसुधैव कुटम्बकम' पर आधारित है जो विश्व समुदाय को एकसूत्र में बांधने का सन्देश देता है। आदिवासी समाज में सहभागिता, सामूहिकता और भाईचारे की भावना सर्वोपरि होती है जिसका जिक्र आदिवासी कविता में विविध रूपों में दिखाई देता है। आदिवासी कविता में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति सकारात्मक व नकारात्मक दोनों रूपों में वैविध्यपूर्ण रही है। हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन परम्परा, मिथक, इतिहास के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन के रूप में सामाजिक, सांस्कृतिक, व आर्थिक समस्याओं को प्रस्तुत किया है। साथ ही साथ स्त्री जीवन के विविध पहलुओं पर बारीकी से अध्ययन किया गया है। आदिवासी जीवन-शैली के कवियों ने स्वानुभूति के रूप में आदिवासी साहित्य चेतना के रूप में पैरवी की है। क्योंकि आदिवासी चेतना का मुख्य स्वर मुक्ति और स्वतंत्रता की वैचारिकी को आगे बढ़ाना है। दूसरे शब्दों में कहें तो 'आदिवासी लोगों की संस्कृति, साहित्य, मूल्य मानवता की एक ऐसी धरोहर है, जो एक नयी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के सृजन के लिए प्रासंगिक है। एक ऐसी व्यवस्था जो समानता, सामंजस्य, करुणा व शांति के सिद्धांतों पर आधारित है। उनका सापेक्ष समतावाद, सभी मानव समुदायों, पादपों, जीव-जगत के प्रति अनिवार्य सामंजस्य, पारस्परिक सहभागिता जैसे मूल्यों को परिपुष्ट करता रहा है और लघु-लघु संस्कृतियों

को जन्म देता रहा है। उनकी कविताओं, कहानियों, लोकगीतों, लोक स्वर लहरियों एवं वैचारिक अभिव्यक्ति में उनकी उन्हीं संस्कृतियों का अवबोध समाहित होता है।' सवाल यह उठता है कि क्या आदिवासी साहित्य जंगल की संस्कृति से संबंधित साहित्य को एकसूत्र में रखकर देखता है। यदि देखता है तो उसके मौलिक प्रतिमान क्या है जिससे आदिवासी साहित्य को मानक कसौटी पर परखा जा सकता है। आदिवासी दर्शन में समानता का जो मूल तत्व है वह अब धीरे-धीरे गायब हो रहा है। इसके सामाजिक परिणाम हम बदलते आदिवासी परिवेश में देख सकते हैं। आदिवासी परिवेश में महिलाओं के बदलते मूल्यों पर सामाजिक भेदभाव का असर दिखाई दे रहा है। साहित्य में आदिवासी स्त्रियों की उपस्थिति या उनके सामाजिक सवाल सीधे-सीधे वर्गीय और लिंगगत दृष्टि से आपस में जुड़ गए हैं। यह महत्त्वपूर्ण भी कि उसे आदिवासी लिख रहा है या गैर-आदिवासी पर इससे ज्यादा कहीं महत्त्वपूर्ण सवाल यह भी है कि वह जो लिख रहा है किस भाषा में लिख रहा है। भाषा का सवाल यहाँ महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि क्योंकि भाषा का निर्धारण लेखक सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रमों के तहत करता है। समानता, सहअस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता और सामूहिकता के जीवन मूल्यों के साथ आदिवासी समाज अपने आदिम मूल्यों को कई सालों से सुरक्षित रखा हुआ है। धरती, प्रकृति और आदिवासियत को बचाने की यह कार्यवाही बौद्धिक वर्गों और जनसमुदायों के सक्रिय सृजनात्मक सहयोग एवं भागीदारी से ही संभव हो सकेगा।

पंचम् अध्याय

आदिवासी हिन्दी कविता : भाषा के विविध रूप

5.1. आदिवासी कविता के स्रोत तत्व

5.2. भारत के प्रमुख भाषा परिवार

5.2.1.आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार

5.2.2. चीनी -तिब्बती भाषा परिवार

5.2.3. द्रविड़ भाषा परिवार

5.2.4. अंडमानी भाषा परिवार

5.2.5. भारोपीय आर्य भाषा परिवार

5.3. मिथक

5.4. प्रतीक

5.5. बिम्ब

5.6. हिन्दी आदिवासी कविता में लोकभाषा का प्रयोग

पंचम् अध्याय

आदिवासी हिन्दी कविता : भाषा के विविध रूप

प्रस्तावना–

दुनिया में जितनी भाषाएँ मिट चुकी है, उसकी आधे से ज्यादा भाषाएँ आदिवासी भाषाएँ हैं। इस समय में भारत देश में भाषाएँ मिटने के कगार पर है , जो अगले बीस-तीस सालों में मिट जायेगी । उसमें से यूँ समझिये की लगभग नब्बे फीसदी भाषाएँ आदिवासी भाषाएँ हैं । इस देश के बारे में बात की जाए तो जो आदमी मुख्यधारा की दौड़ में है,वह जो कालाहांडी में है,जो झारखण्ड के किसी ग्रामीण इलाके में बैठा हुआ आदिवासी है,वह मुख्यधारा में शामिल होना चाहता है। डॉ.तुलसीराम जो अब नहीं रहे वे दलित कला,संस्कृति की बात किया करते थे । आदिवासियों पर इस बात को सब दोहराते हैं कि आदिवासियों की संस्कृति भिन्न है,कलाएँ भिन्न है,भाषाएँ भिन्न है और आज पूरी दुनिया में,पूरे देश में ,अकादमिक जगत में यह एक मौजूदा सवाल है कि आदिवासियों की भाषाएँ खतरे में हैं । जी.एन.देवी गुजरात में संस्थान बनाकर काम कर रहे हैं, वे इन्हीं भाषाओं पर काम कर रहे हैं। आदिवासियों की कितनी भाषाएँ मिट चुकी हैं,उनका आकलन यह था अगले पचास सालों में आदिवासियों की सभी भाषाएँ लगभग हाशिये पर आ जाएगी । आदिवासियों की ये भाषाएँ मिट रही है,दरअसल यह जीने का माध्यम ही नहीं बल्कि पूरी एक संस्कृति और सभ्यता के नष्ट होने का प्रतीक है। एक आदिवासी

समाज की भाषा लुप्त होने का मतलब यह समझिये की आदिवासी समुदाय की पूरी संस्कृति मिट चुकी है । अभी 2011 में अंडमान-निकोबार के किसी आदिवासी कबीले के 'ओंगे' भाषा के अंतिम आदमी की मृत्यु हो गई और उस व्यक्ति के मृत्यु के साथ वह भाषा भी चली गई। जैसे-जैसे आदिवासी मुख्यधारा की तरफ जा रहा है वैसे-वैसे आदिवासी भाषाएँ नष्ट हो रही है। कुछ आदिवासी समुदाय विलुप्त हो गए है, जो विलुप्त हुए है साथ में उनकी भाषाएँ भी विलुप्त हुई है। राजस्थान का मीणा समाज अपनी मातृभाषा में बात न करके हिन्दी में बात करता है वो अपने बच्चों को भी हिदी में शिक्षा देता है। अपनी भाषा के प्रति हीन भावना इन समाजों में पैदा हो चुकी है। जो समाज मुख्यधारा के जितना नजदीक गया उसमें उतनी हीनभावना पैदा हो गई और उसकी भाषाएँ भी उसी तरह मिट गई। इस देश की सरकारी मशीनरी ने भी आदिवासी भाषाओं के साथ अन्याय किया। सरकार ने कभी भी यह जरुरत नहीं समझी कि आदिवासी भाषाओं में शिक्षा दी जाए । जैसे रांची विश्वविद्यालय में आदिवासी भाषाओं के विभाग है, लेकिन उनमें न तो अध्यापक और न ही उन भाषाओं पर रिसर्च किया जाता है । यानी की मुख्यधारा का पूरा समाज सरकारी मशीनरी आदिवासी भाषाओं को हतोत्साहित करता रहा है। आदिवासी समाज भी यह सोचता है कि हम अपनी भाषा बोलेंगे तो हम पिछड़ जायेंगे ,हमको रोजगार नहीं मिलेगा। इस भावना के चलते भी आदिवासी भाषाएँ नष्ट हुई है।

आदिवासी कवयित्री वंदना टेटे झारखण्ड की आदिवासी भाषाओं पर सविस्तार लिखती है- "झारखण्ड की आदिवासी भाषाएँ अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही हैं। औपनिवेशिक काल से आज तक के स्वतंत्र भारत में झारखंडी जनगण राष्ट्रीयता एवं

पहचान के लिए अंतहीन संघर्ष में है। मुंडारी, खड़िया, कुडुख और संथाली जैसी अन्य आदिम भाषाएँ अपनी उत्कट जिजीविषा के साथ लड़ते-भिड़ते हुए पुरखौती(लोक) से शिष्ट साहित्य के संसार में साहस के साथ प्रवेश कर चुकी हैं।"[297]

5.1. आदिवासी कविता के स्रोत तत्व

कवि हरिराम मीणा का संपादित संकलन 'समकालीन आदिवासी कविता' की भूमिका में कविता के शिल्प, भाषा को लेकर बात हुई है : 'कविता में प्रमुख रूप से चार तत्त्व होते हैं। इन्हें 'स' धातु के स्तर पर सामान्यीकृत किया जा सकता है यथा स्रोत, शब्द, शिल्प और सन्देश। 'स्रोत' से तात्पर्य जीवनानुभव की उस जमीन से है जहाँ से कविता उपजती है। जब कवि का किसी दृश्यादृश्य स्थिति से साक्षात्कार होता है और वह उसे आत्मसात कर हर्ष-विषाद की मनोदशा में अभिव्यक्त करने को विवश या प्रेरित होता है तो कविता की रचना होती है। यह स्रोत या जमीन कविता के होने की पहली आवश्यकता होती है। निश्चित रूप में यह अभिव्यक्ति भाषा के स्तर पर संभव है जिसे 'शब्द' तत्त्व कहा गया है। तीसरा तत्त्व है 'शिल्प' जो कविता को सुन्दर, प्रभावी, संप्रेषणीय, हृदय को छूने वाला बनाता है। भाषा के स्तर पर हिन्दी रचनाओं के साथ-साथ आंचलिक आदिवासी भाषाओं से हिन्दी में अनूदित रचनाएँ भी शामिल थी उस संकलन में।"[298]

'समकालीन आदिवासी कविता' के संपादक हरिराम मीणा के अनुसार आदिवासी कविता में मुख्यतः चार तत्त्व होने आवश्यक हैं, "यथा

[297] आदिवासी साहित्य परम्परा और प्रयोजन, वंदना टेटे, पृ. 37

[298] हरिराम मीणा, संपा. समकालीन आदिवासी कविता, भूमिका पृ. 8

1.**स्रोत**

'स्रोत' से तात्पर्य जीवनानुभव की उस जमीन से है जहाँ से कविता उपजती है।...यह स्रोत या जमीन कविता के होने की पहली आवश्यकता होती है।

2. शब्द

यह अभिव्यक्ति भाषा के स्तर पर ही संभव है जिसे 'शब्द' तत्त्व कहा गया है। कविता में शब्द की व्याख्या अलग-अलग रूपों में आदिवासी रचनाकारों ने की है।

3.**शिल्प**

तीसरा तत्त्व है 'शिल्प' जो कविता को सुन्दर, प्रभावी, संप्रेषणीय, हृदय को छूने वाली बनाता है। हम इसे 'अंदाजे बयाँ' भी कह सकते हैं।

4. संदेश

'संदेश' कविता का अंतिम तत्त्व माना जाता है, जो अनिवार्यत: होना चाहिए। 'संदेश' का अर्थ नारेबाजी, नीति-पाठ या प्रवचन नहीं, प्रत्युत् कवि अपनी रचना से बेहतरीन भविष्य के लिए किसी तरह पाठक या श्रोता को विषय विशेष से जोड़ने की स्थिति में हो पाता है- इस ध्येय से है।"[299]

[299] समकालीन आदिवासी कविता, पृ. 8

शिल्प का विधान और आदिवासी समाज का ताना-बाना हिन्दी की अभिव्यक्ति में सहज रूप से सामने आया है। कविता -शिल्प अपनी सार्थकता में सामाजिक ताने-बाने को इतनी विश्वसनीयता के साथ चित्रित करता है कि लगता है जैसे कोई अनगढ़ सौन्दर्य लिए, अनूठे भाव-बिम्बों में आदिवासी जीवन के दृश्य किसी बड़े कैनवास पर उकेर रहा हो। आदिवासी जीवन का इतना प्रभाव है। कविता के साथ शिल्प का सौन्दर्य प्रासंगिकता का स्वरूप निर्धारण करता है। अत: शिल्प, संरचना, भाषा के माध्यम से भी आदिवासी अस्मिता की छवियाँ उभरती हैं। आदिवासी कविता में शिल्प रूप प्रकृति चित्रण, रूप सौन्दर्य, भाव भंगिमा, प्रकृति की भाव भंगिमाओं के साथ नाचते हुए आदिवासी अपने उन्मुक्त वातावरण के साथ व्यक्त हुए हैं।

5.2. भारत के प्रमुख भाषा परिवार

भारतीय आर्य भाषा के विकास को मौटे तौर पर इस प्रकार से देखा जा सकता है- संस्कृत> पाली> प्राकृत> अपभ्रंश> हिन्दी एवं अन्य भारतीय आधुनिक आर्य भाषाएँ। आधुनिक आर्य भाषाएँ अधिकांश रूप से उत्तर भारत के इलाकों में बोली जाती है। द्रविड़ परिवार की भाषाओं के रूप में दक्षिण भारत की प्रमुख भाषाएँ तमिल(तमिलनाडु), तेलुगु(आंध्रप्रदेश एवं तेलंगाना) , कन्नड़(कर्नाटक) और मलयालम(केरल) आदि है। भाषा का एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र होता है जिसका संबंध विभिन्न प्रान्तों की बोली-भाषा से होता है। भाषिक वर्ग की दृष्टि से भाषा-बोली का व्यापक रूप लोकवार्ता के रूप में निहित होता है। इसका विवेचन हमें आदिवासी भाषा के लौकिक ज्ञान के रूप में मिलता है। नदीम हसनैन के अनुसार, "आदिवासी भाषाओं को मुख्य रूप से चार भाषाई परिवारों में वर्गीकृत किया जा

सकता है । इनके नाम हैं भारतीय-यूरोपीय (आर्य), द्रविड़, आस्ट्रिक(कोलोर मुंडा) तथा तिब्बत-चीनी(चीनी-तिब्बत) ।"[300] इसी संदर्भ में डी.एन.मजूमदार का मत है कि 'जहाँ तक जनजातीय लोगों का संबंध हैं आर्य भाषा केवल सांस्कृतिक संपर्क के फलस्वरूप सामने आती है क्योंकि हमारे लगभग सभी जनजातियों का संबंध पूर्व आर्य अथवा अनार्य प्रजातियों के उद्भव से है।' आदिवासी भाषा के उद्भव और विकास में सांस्कृतिक संपर्क मूल कारण रहा है । लेकिन अधिकांश विद्वानों का मानना है कि भारत की आदिवासी भाषाएँ मुख्य तौर पर तीन भाषा परिवारों में वर्गीकृत की जा सकती है- 1. द्रविड़, 2.आस्ट्रिक, 3. चीनी-तिब्बती । लेकिन आदिवासी भाषा को भारत के पाँच भाषा परिवारों में बाँटकर देखा गया है क्योंकि आदिवासियों का अधिकतर साहित्य वाचिक और मौखिक परम्परा के रूप में समाज में मौजूद हैं।

भारत में आदिवासी साहित्य पाँच प्रमुख भाषा परिवार की भाषाओं में वाचिक और लिखित रूप में मौजूद है जिनको निम्नलिखित भागों में बाँटकर देखा जा सकता है-

1. आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार
2. चीनी-तिब्बती भाषा परिवार
3. द्रविड़ भाषा परिवार
4. अंडमानी भाषा परिवार
5. भारोपीय आर्य भाषा परिवार

[300] जनजातीय भारत, नदीम हसनैन, पृ. 21

5.2.1. आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार

'आस्ट्रो-एशियाटिक' शब्द लैटिन शब्द 'साउथ' और 'एशिया' के मिलने पर बना नया शब्द 'साउथ-एशिया' से बना है । 'पीटर स्मिथ' ने 'आस्ट्रोनेशियन' परिवार को 'आस्ट्रो-एशियाटिक' परिवार से जोड़कर एक बृहत भाषा परिवार की कल्पना की जिसे उन्होंने 'आस्ट्रिक परिवार' का नाम दिया ।'[301] क्षेत्र की दृष्टि से 'आस्ट्रिक' परिवार संसार का सबसे बड़ा भाषा परिवार है। भारत में बोले जाने वाले भाषा परिवारों में 'आस्ट्रो-एशियाटिक' भाषा परिवार सबसे पुराना है।

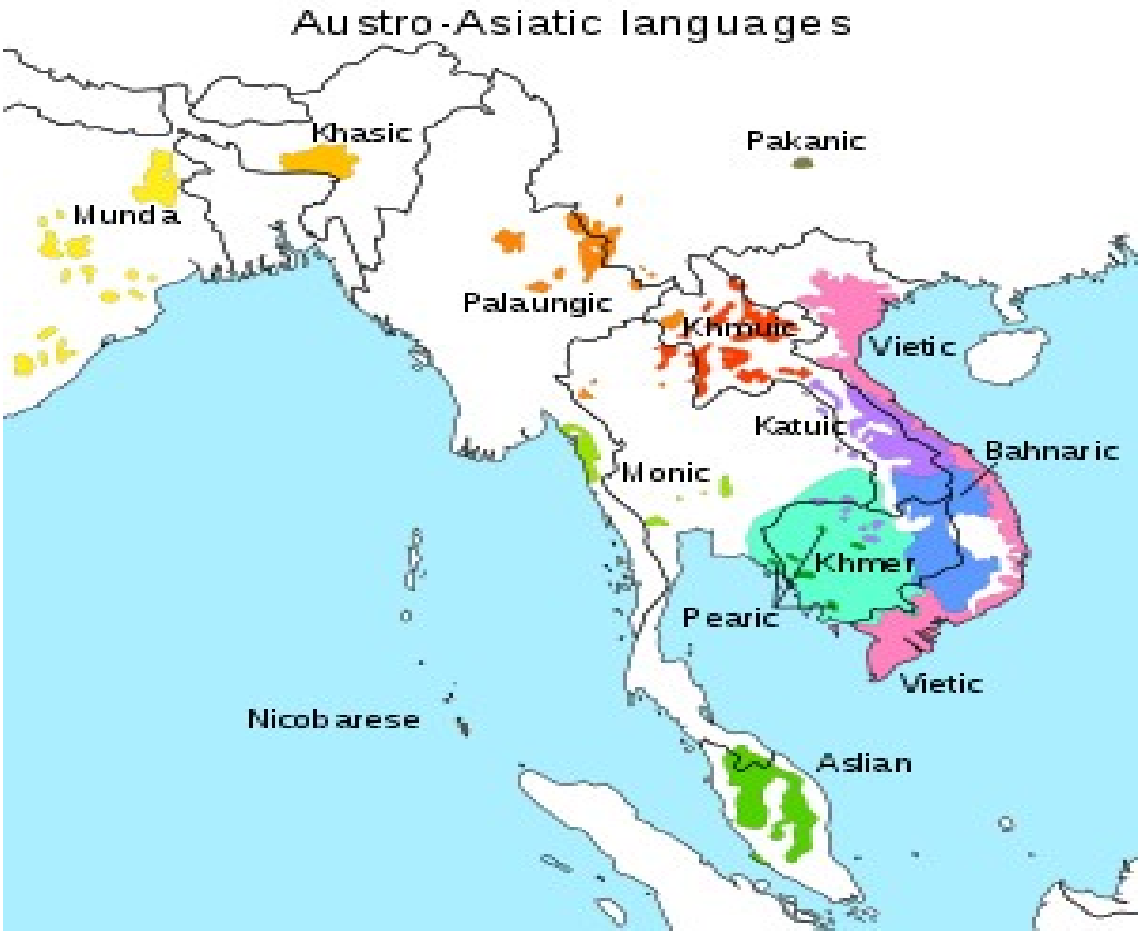

(आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार का मानचित्र,गूगल से)

[301] डब्ल्यू.जी.आर्चर : दि ब्लूग्रोव(भूमिका), पृ. 2

'इस आदिवासी भाषा परिवार की भाषाएँ मुख्य रूप से भारत में झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के ज्यादातर हिस्सों में भाषाएँ बोली जाती हैं। संख्या की दृष्टि से इस परिवार की सबसे बड़ी भाषा संताली है। इस परिवार की प्रमुख भाषाओं में हो, मुंडारी, खड़िया आदि भाषाएँ हैं।'[302]

5.2.2. चीनी -तिब्बती भाषा परिवार

'इस परिवार की ज्यादातर भाषाएँ प्रमुख रूप से भारत के सात(अब आठ) उत्तर-पूर्वी राज्यों में बोली जाती हैं। जिनमें नागा, मिज़ो, मणिपुरी, खासी, आओ आदि प्रमुख भाषाएँ हैं।'[303]

5.2.3.द्रविड़ भाषा परिवार

'यह भाषा परिवार भारत का दूसरा सबसे बड़ा भाषा परिवार है। इस परिवार की गैर-आदिवासी भाषाएँ ज्यादातर दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। जिसमें तमिल, कन्नड़, मलयालम और तेलुगु भाषाएँ हैं। लेकिन द्रविड़ परिवार की आदिवासी भाषाएँ पूर्वी, मध्य और दक्षिण राज्यों में बोली जाती हैं। गोंडो की गोंडी, उरांव और धांगर समुदायों की कुडुख द्रविड़ परिवार की प्रमुख भाषाएँ हैं।'[304]

5.2.4.अंडमानी भाषा परिवार

'जनसंख्या की दृष्टि से यह भारत का सबसे छोटा आदिवासी भाषाई परिवार है। इसके अंतर्गत अंडमान-निकोबार द्वीप समूह की भाषाएँ आती हैं'[305]। अंडमानी, ग्रेट

[302] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 13
[303] वही,
[304] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 13
[305] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 13

अंडमानी, ओंगे, जारवा, सेंटीनली आदि प्रमुख से बोली जाने वाली आदिवासी भाषाएँ है। इनके साहित्य में आदिवासी मौखिक रूप देखने को मिलता है।

5.2.5.भारोपीय आर्य भाषा परिवार

भारत की दो तिहाई से अधिक गैर-आदिवासी आबादी हिन्द आर्य भाषा परिवार की कोई न कोई भाषा अनेक स्तरों पर प्रयुक्त की जाती है। 'संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, डोगरी, पंजाबी, मैथिली, कोंकणी, गढ़वाली, असमिया, उड़िया'[306] इस परिवार की प्रमुख भाषाएँ हैं। राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश की आदिवासी भाषाएँ भारतीय आर्य परिवार की भाषा के अंतर्गत आती हैं। इस क्षेत्र की आदिवासी भाषाओं में भीली, वागडी, आदि आदिवासी साहित्य के मौखिक और लिखित रूप में मौजूद हैं।

आदिवासी साहित्य, जो लोक साहित्य तक सीमित था उसका अब धीरे-धीरे विस्तार होकर लिखित साहित्य के रूप में उभरकर सामने आ रहा है। वैसे देखा जाये तो आज आदिवासी साहित्य हिन्दी, अंग्रेजी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के अलावा नब्बे से अधिक आदिवासी भाषाओं में लिखा जा रहा है। भारत में आदिवासियों की लगभग छ: सौ हैं। आदिम संस्कृति से लेकर आज तक का इतिहास मिथक, लोककथाओं के इतिहास रूप में विद्यमान है। आदिवासी इतिहास प्राचीन परम्पराओं का द्योतक रहा है, जिसमें प्रकृति के विविध रूपों जैसे, नदी, पहाड़,जंगल, जमीन और उनके वाद्ययंत्र उनकी परम्परा के पोषक हैं। परम्परा के प्रयोजन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण पक्ष भाषा है। चित्र, नृत्य,गीत, संगीत, संकेत, इशारे, कथा, मिथक और ध्वनियाँ

[306] आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा. वंदना टेटे, पृ. 13

सभी प्रकारांतर से भाषा के विभिन्न रूप हैं। भाषाएँ परम्पराओं का सबसे प्रमाणिक दस्तावेज हैं। गैर-आदिवासी विश्व और उसकी शासन व्यवस्था पहला सुनियोजित प्रहार भाषाओं पर ही करती है ताकि समुदाय विशेष की परम्पराओं को कुंद और लुप्त किया जा सके। आदिवासी कविताओं के संकलन स्वयं कवियों द्वारा प्रकाशित किये ही गए हैं, तीन संपादित संकलन भी आदिवासी कविता का अध्ययन करने की दृष्टि से उपयुक्त हैं। 'समकालीन आदिवासी कविता'(2013) शीर्षक से प्रकाशित संकलन के संपादक हैं हरिराम मीणा। संकलन में कई गैर-आदिवासी कवियों की रचनाएँ भी शामिल हैं। आदिवासी कविताओं का दूसरा संकलन 'कलम को तीर होने दो' (2015) शीर्षक से रमणिका गुप्ता द्वारा तैयार किया गया है। हालाँकि इसमें केवल झारखण्ड के हिन्दी कवियों/कवयित्रियों को शामिल किया गया है। लेकिन यह हरिराम मीणा के संकलन से इसलिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें कवियों का विभाजन उनकी मातृभाषाओं के अनुसार किया गया है। कविताएँ हिन्दी में हैं, लेकिन कवियों का वर्गीकरण उनकी मातृभाषा के अनुसार, जैसे मुंडारी के कवियों में रामदयाल मुंडा और अनुज लुगुन को शामिल किया गया है और कुडुख वाले भाग में ग्रेस कुजूर, महादेव टोप्पो, ओली मिंच, ज्योति लकड़ा, आलोका कुजूर, जसिंता केरकेट्टा और नीतिशा खालको की कविताओं को रखा गया है। इसके अलावा खड़िया, संताली, हो और नागपुरी के कवियों को भी शामिल किया गया है। इस वर्गीकरण की महत्ता यह है कि इनमें से ज्यादातर कवियों ने अपनी मातृभाषाओं में भी कविताएँ लिखी हैं।

आदिवासी कविताओं का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण संकलन वंदना टेटे का 'लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ'(2016) शीर्षक से प्रकाशित हुआ है । यह प्रतिनिधि संकलन है। हर भाषा-क्षेत्र के आदिवासी कवियों को इसमें शामिल किया गया है। उदाहरण के लिए पूर्वोत्तर से तेमसुला आओ, कमल कुमार तांती और इरोम चानू शर्मीला हैं तो पश्चिम क्षेत्र से हरिराम मीणा और वाहरु सोनवणे हैं। संकलनकर्ता वंदना टेटे आदिवासी समाज और साहित्य पर हो रहे हमलों के प्रति सचेत हैं। वे लिखती हैं –"पिछले कुछ सालों में एक प्रवृति आदिवासी कविता के सम्बन्ध में बार- बार दिखलाई पड़ती है । वह प्रवृत्ति है –आदिवासी कविताओं को गैर आदिवासी मानकों पर परखने की।"[307] इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती है कि "सत्तर के दशक तक आदिवासी लेखकों में हिन्दी,अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं में लिखने की प्रवृत्ति अधिक थी। लेकिन फिर धीरे- धीरे अपनी मातृभाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा। इस बदलाव के पीछे मुख्यरूप से झारखंड आन्दोलन की मजबूत उपस्थिति थी और शिक्षा के कारण तेजी से विकसित होती चेतना भी। नब्बे तक आते-आते हिन्दी और आदिवासी दोनों ही भाषाओं में आदिवासी लेखकों, कलाकारों और गायकों की उल्लेखनीय संख्या दिखाई देने लगती है । चालीस-पचास के दशक में संताली के रघुनाथ मुर्मू, हो समुदाय के लको बोदरा, खड़िया समाज के प्यारा केरकेट्टा, मुंडारी के बुदु बाबू और कुडुख साहित्य के अलावा उरांव जैसे अगुआ संस्कृतिकर्मी आदिवासी भाषा साहित्य, पहचान और अस्मिता व 'सांस्कृतिक नवोन्मेष' के प्रतीक बन जाते हैं। इस विरासत को रचनात्मक साहित्य में हिन्दी सहित अपनी-अपनी मातृभाषाओं में नई ऊंचाई तक ले जाने वाले प्रमुख नाम

[307] आदिवासी चिंतन की भूमिका , गंगासहाय मीणा, पृ. 66

हैं- अदित्य मित्र 'संताली', निर्मला पुतुल, एलिस एक्का, ग्रेस कुजूर, पीटर पॉल एक्का, महादेव टोप्पो, रामदयाल मुंडा, दुलायचन्द्र मुंडा, रोज केरकेट्टा, मंगल सिंह मुंडा, वंदना टेटे, वाल्टर भेंगरा 'तरुण' जैसे लेखक-लेखिकाएं साहित्येतर रचनाओं में पूरे दम-ख़म के साथ प्रतिरोध को दर्ज करते हैं।"[308]

आदिवासी साहित्य में लोक साहित्य को प्रमुखता से स्थान दिया जाता है। इस सन्दर्भ के साथ लोक के परम्परागत रूप को आदिवासी भाषाओं में लोकगीत, मिथकीय रूपों के साथ व्यक्त किया गया है -'पुरखा साहित्य और आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर बाहरी साहित्य के प्रभाव में हिन्दी, बांग्ला, तमिल, मलयालम, उड़िया आदि बड़ी भाषाओं में भी लेखन शुरू किया। हर भाषा में इसकी शुरुआत तीन दशक पहले से ही मानी जा सकती है। हिन्दी के लेखकों के प्रभाव में आदिवासियों ने मुंडारी, संताली, खड़िया आदि भाषाएँ छोड़कर हिन्दी में लिखना शुरू किया। इन्होंने कविताओं के अलावा कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं। हिन्दी आदिवासी कविता में पहला नाम सुशीला सामद का है, लेकिन उसके बाद एक निरंतरता का अभाव दिखाई देता है। इसलिए समकालीन हिन्दी आदिवासी कविता की शुरुआत हम रामदयाल मुंडा की कविताओं से मान सकते हैं, जिन्होंने मुंडारी के साथ हिन्दी में भी कविताएँ लिखी हैं। उनके बाद ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, वंदना टेटे, रोज केरकेट्टा, ज्योति लकड़ा, अनुज लुगुन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रमणिका गुप्ता ने 'कलम को तीर होने दो' काव्य संग्रह का संपादन किया है। जिनमें सत्रह आदिवासियों की

[308] आदिवासी साहित्य परम्परा और प्रयोजन , वंदना टेटे, पृ.56

कविताएँ शामिल हैं जो हिन्दी और अपनी भाषाओं में लिखी गई है। इस संकलन में झारखंडी कवियों का बहुत बड़ा योगदान है। यह संकलन भाषा के आधार पर छ: खंडो में विभाजित है जिसमें खंड एक में मुंडारी भाषाओं की कविता, खंड दो में कुडुख भाषाओं की कविता, खंड तीन में संताली कविता, खंड चार में खड़िया भाषा की कविता, खंड पाँच में हो भाषा की कविता और खंड छ: में नागपुरिया भाषाओं की कविताओं को शामिल किया गया है।

5.3 . **मिथक**

'मिथ' (Myth) अंग्रेजी शब्द है जिसका उद्भव लैटिन के 'मिथस' के माध्यम से जर्मन 'मिथोस' से आया है। यूनानी भाषा में भी 'मिथोस' शब्द का प्रयोग होता था, जहाँ इसका अर्थ कथा था। इसी से 'माइथालोजी' शब्द बने, जिनका प्रयोग 'मुथोस' के पुन: स्मरण के अर्थ में किया जाता था। अरस्तू के 'पोएटिक्स' में 'मिथ' शब्द का प्रयोग कथानक, कथाबंध, गल्पकथा के रूप में हुआ है।'[309] डॉ.कामिल बुल्के ने शब्दकोश में 'मिथ के समानार्थी शब्द के रूप में 'मिथक' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए हिन्दी में 'मिथक' शब्द के निर्माता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को माना जाता है। अंग्रेजी का 'मिथ' शब्द उन्हें हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं जँचा। इसलिए 'मिथ' शब्द के साथ कर्त्तावाचक 'क' प्रत्यय लगाकर उन्होंने इसे हिन्दी और संस्कृत की परम्परा का संज्ञा शब्द बनाया है।'[310] हिन्दी साहित्य में मिथक के लिए 'कल्पकथा,' 'पुराणकथा', 'पुराख्यान', 'पुराकथा', 'धर्मगाथा' आदि अनेक शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। शुरुआत में डॉ.नगेन्द्र ने

[309] Theory of Literature : Rene Wedlock Austin, p. 248

[310] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथमाला, खण्ड 7, पृ. 85

मिथक को 'कल्पकथा'[311] कहा था। लेकिन बाद में स्वयं उनकी जगह 'मिथक' शब्द प्रयोग करना ही उचित समझा।'[312] भगवतशरण उपाध्याय ने मिथक के लिए 'पुराण'[313] शब्द का उल्लेख किया है। तो दूसरी ओर नगेन्द्र ने 'पुराण कथा'[314] का। यहाँ पुराण से तात्पर्य यह है जो पुरातन समय से चला आ रहा है। अर्थात् 'पुराण कथा' में भारतीय साहित्य इतिहास के विशेष कालखंड की कथाओं के अर्थ के रूप में प्रयोग में लिया जाता है। यानी कि यहाँ उस प्राचीन परम्परा और लोक में या आदिवासियों में प्रचलित उन मौखिक कथाओं का समावेश निहित होता है जो एक मिथक का रूप धारण करती हैं। मानक हिन्दी कोश में 'मिथक' के लिए 'पुराकथा' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'पुराकथा' प्राचीनकाल की बातों के संदर्भ में प्रयुक्त की जाती है।'[315] 'मिथक' के लिए प्रयुक्त 'देवताख्यान' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।'[316]

भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने मिथक को परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों के मत मिथक के संबंध में इस प्रकार हैं-'धर्म' के परिप्रेक्ष्य में मिथक की व्याख्या करते हुए ई.ए.गार्डनर ने लिखा है 'मिथक' प्राय: प्रत्यक्ष: कथा रूप में होता है। सामान्य कथा से अंशत: यह इस रूप में भिन्न है कि जिन मनुष्यों में यह कथा प्रथम बार प्रचारित होती है, वे अवश्य ही उसे तथ्यत: सत्य मानते हैं। इस प्रकार मिथक कथा, नीति कथा या अन्योक्ति से उसी प्रकार भिन्न है, जिस प्रकार कहानी या

[311] काव्य-बिम्ब, डॉ.नगेन्द्र, पृ. 8
[312] मिथक और साहित्य, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 7
[313] मिथक और भाषा, संपा. लोढ़ा , शंभूनाथ, पृ. 8
[314] मानविकी पारिभाषिक कोश, संपा. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 77
[315] मानक हिन्दी कोश, रूपचन्द्र वर्मा, पृ. 437
[316] मिथकीय आलोचना, दस्तावेज़ त्रेमासिक पत्रिका, संपा. इन्द्रनाथ चौधरी, पृ. 37

रोमांस से।'[317] रमेश कुंतल मेघ के अनुसार, "मिथकीय चिंतन तर्कपूर्व चिंतन है तथा मिथक आदिभाषा तथा रूपकात्मक भाषा के धुंध में झिलमिलाता कंपकपाता रहता है।"[318] मेक्समूलर के अनुसार-"भाषा जब अपनी शक्ति अथवा असमर्थता के कारण एक के स्थान पर साम्य एवं भ्रांति के कारण दूसरे शब्द को ग्रहण कर लेती है और अर्थ विषयक परिवर्तन भी पैदा करती है, तब मिथक का जन्म होता है।"[319]

डॉ.कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार-"कोई कथा तभी तक 'मिथ' कही जा सकती है, जब तक उसके प्रधान पात्र देवी और देवता हैं अथवा इन पात्रों में देवत्त्व की भावना बनी है। परन्तु जब ये पात्र देवत्त्व की कोटि के नीचे उतर कर मनुष्यों की श्रेणी में आ जाते हैं तब उस कथा को 'लीजेण्ड' कहने लगते हैं।"[320] डॉ.राजकुमार के मतानुसार-"मिथ (पुराकथा,पुराख्यान) सामूहिक मन की आकांक्षाओं चुनौतियों और संघर्षों का प्रतीक कथा, जो देश-काल की सीमाओं में आबद्ध होकर रूढ़ हो जाती है, उसके रूढ़ अर्थ का आगामी युग के लिए कोई महत्त्व नहीं रह जाता।"[321] डॉ.शम्भुनाथ के अनुसार-"मिथक उन्हीं कथाओं को कहते हैं जो किसी न किसी रूप में पवित्र धार्मिक अनुष्ठानों से बंधी रहती है।[322] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार-"जो ऊपर से देखने पर झूठ हो और गहराई में जाने पर सत्य हो, यही मिथक है। मिथक की और परिभाषा नहीं है।"[323]

---

[317] Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol. p. 118

[318] साक्षी है सौन्दर्य प्रश्न, रमेश कुंतल मेघ, पृ. 284-85

[319] हिन्दी साहित्य कोश,भाग-1, संपा. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 42

[320] हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, 16 भाग, संपा. राहुल सांकृत्यायन, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय , पृ. 120

[321] मिथक और कविता, डॉ. राजकुमार, पृ. 7

[322] मधुमती पत्रिका, संपा. डॉ. प्रकाश आतुर, अंक, नवम्बर,82 , पृ. 41

[323] द्विवेदी साहित्य में मिथकीय प्रयोग गोष्ठी में भाषण मिथक साहित्य : विविध संदर्भ, डॉ. नामवर सिंह, पृ. 11

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि पाश्चात्य साहित्य में वीर-चरित्र गाथाओं, देवकथाओं, सृष्टि संबंधी गाथाओं के लिए 'मिथक' का प्रयोग किया जाता है। भारतीय साहित्य में मिथक शब्द के समानांतर, संस्कृत साहित्य और प्राचीन हिन्दी साहित्य में पुराण, पुराख्यान, पुराकथा, पुरातत्त्व आदि शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है।

हरिराम मीणा का आदिवासी मिथकों के संदर्भ में अपना मत है। वे मानते हैं कि 'जब किसी मिथक के बनने की प्रक्रिया को समझना होता है तो हमें उसके यथार्थ को जानना आवश्यक है। इस तरह हमें मिथक के निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए मिथक को 'डिकोड' करना जरुरी होता है। आदिवासी समाज में पाए जाने वाले मिथकों की विशेषताओं को निम्न रूपों में समझा जा सकता है-

- सृष्टि संबंधी मिथकों में समान कारक यह पाया जाता है कि सृष्टि की उत्पति के मूल में कोई जल तत्त्व प्रमुख रूप से पाया जाता है चाहे वह जल के अलावा बादल, हिम, कीचड़, अंडा आदि हो।
- सृष्टि कर्त्ता ईश्वर के रूप में शिव या आदिवासी समुदाय विशेष के लोकदेव को अपनाया गया है। जहाँ कहीं शिव के अलावा ब्रह्मा, विष्णु या अन्य कोई विधाता सामने आता है।
- आदिवासियों में अमूर्त्त ईश्वर की अवधारणा की जगह लोकदेव, प्रेतात्मा जैसी विश्वासों की परम्परा पायी जाती है।

- मिथकों में देव व मानव के बराबर ही आदर व स्थान मानवेतर प्राणियों व अन्य प्रकृति तत्वों को दिया जाता रहा है जिनका आदिवासी जीवन से सहअस्तित्व की भावना के साथ गहरा रिश्ता बना हुआ है।
- सृष्टि के आरम्भ या मूल तत्त्व के रूप में अदृश्य सत्ता और जल के बाद जो सृजन होता है वह जल-प्राणियों के रूप में होता है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन के वैज्ञानिक सिद्धांतों की ही तरह आदिवासी मिथकों में भी सजीव जगत में जलचर पैदा हुए।
- अति महत्त्वपूर्ण सूत्र इन आदिवासी मिथकों के विश्लेषण से मिलता है वह है कि किसी अदृश्य शक्ति यथा ईश्वर से सृष्टि की उत्पति ना होकर भौतिक पदार्थों के मिश्रण से हुई।'[324]

अनुज लुगुन एकलव्य के मिथक का भी पुनर्पाठ करते हैं। अनुज लुगुन मिथकीय परम्परा के इतिहास का पुनरावलोकन करते हुए आदिवासी कविता पर एक नई दृष्टि डालते हैं। वे मिथक और इतिहास से एकलव्य को बाहर निकालकर उनसे संवाद करते हैं –

'मैंने तुम्हें देखा है
अपने परदादा और दादा की तीरंदाजी में
भाई और पिता की तीरंदाजी में
अपनी माँ और बहनों की तीरंदाजी में
हाँ एकलव्य! मैंने तुम्हे देखा है
जहाँ महाभारत में तुम्हारी कथा समाप्त होती है।"[325]

[324] आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. 51

अनुज लुगुन आदिवासी समाज को मुख्यधारा के समाज द्वारा होने वाले छलावे से सचेत रहने की बात करते हैं। यानी वे एकलव्य से अपने पुरखों के माध्यम से संवाद करते हैं और साथ ही उसे नसीहत भी देते हैं-

'हाँ, किसी द्रोण को अपना गुरु न मानना
वह छल करता है /हमारे गुरु तो हैं
जंगल में विचरते शेर, बाघ

हिरन, बराह और वृक्षों की छाल'[326]

ये मिथक आदिवासी इतिहास को कविताओं के माध्यम से अवगत कराते हैं। वास्तव में इन कविताओं में मिथक, प्रतीक , बिम्ब आदिवासी समाज की जीवन शैली की विशेषता को प्रकट करते हैं। हरिराम मीणा भी आदिवासी कविता के क्षेत्र में लगभग दो दशक से सक्रिय हैं। उनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे- 'रोया नहीं था यक्ष', 'हाँ चाँद मेरा है', 'सुबह के इंतजार में' आदि। वे अपनी कविताओं के माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति और परम्परा में विद्यमान मिथकों से मुठभेड़ करते हैं, वहीं दूसरी ओर समकालीन आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं को भी कविताओं का विषय बनाते हैं। मिथकों को डी-कोड करने से संबंधित उनकी 'एकलव्य' कविता दृष्टव्य है, जिसमें वे एकलव्य के चरित्र और उससे जुड़े मिथकों का पुनर्पाठ प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं-

'कितने भी महान धनुर्वीर /आखिर में थे भोले निषाद
सपनों में भी न देख पाये /क्या होती है छल की माया

ईश्वर अर्जुन /अर्जुन ईश्वर /मानव अवतारी मायावी

---

[325] http:/www.hindisamay.com/content Detail-aspx/id(5516 &page no. 1

[326] http:/www.hindisamay.com/content Detail-aspx/id(5516 &page no. 1

चाहे तुम में थी शक्ति, निपुणता कई गुणी

पर /पुन: कपट की जीत हुई"[327]

आदिवासी मानस में प्रकृति के साथ सहजीवन की आकांक्षा इतनी प्रबल है कि कार्बी कवि लांगकांग तेरांग को प्रकृति का हर प्रतीक, हर रूप से पगा नज़र आता है दरअसल आदिवासी प्रकृति को माँ मानता है। वह उससे उतना लेता है, जितनी उसे जरुरत हो। पेड़ को काटने से पहले वह उससे क्षमा मांगता है- जमीन जोतने से पहले जमीन से माफ़ी मांगता है। कवि लांगकांग तेरांग कहते हैं-

'पाना चाहते हो अगर प्यार और स्नेह

तो जाओ पेड़ के पास /धरना चाहते हो अगर

धैर्य, सब्र और सच्चाई

तो जाओ पेड़ के पास!"[328]

कवयित्री आदिवासी जीवन के नैसर्गिक मूल्यों और सहज उल्लास के ख़त्म हो जाने से दु:खी हैं। वे उस हर चीज को बचाना चाहती हैं, जिससे मिलकर आदिवासी दर्शन बनता है। आदिवासी दर्शन का बचना ही पूरी सृष्टि का बचना है। वे बारिश के बिम्ब के माध्यम से मनुष्य की उसी सहजता को बचाना चाहती हैं-

'मैं बारिश में भी /और बारिश मुझमें
मेरे पंख भीग रहे थे /देह नदी हो गई थी
शब्द पानी-पानी हो रहे थे

हँसी झरने की तरह /शोर कर रहे थे

बदमाश बादल मेरे पीछे पड़ा था

[327] आदिवासी साहित्य पत्रिका, अंक-2, पृ-24
[328] आदिवासी साहित्य पत्रिका, अंक-2, पृ-24

किसी आवारा शोहदे की तरह।"[329]

आदिवासी कविता में बिरसा मुंडा, नागवंश, खांडवन, बलिराजा, तक्षक, द्रोणाचार्य, भीम, एकलव्य आदि मिथक हैं जो आदिवासी संस्कृति के प्रमाण हैं। आदिवासियों ने लोकगीतों, लोककथाओं, त्यौहार-गीतों के माध्यम से अपनी संस्कृति को व्याख्यित किया है। मिथक रूप में आदिवासी समाज की संस्कृति को दिखाने का प्रयास किया है।

मूलतः आदिवासी समाज के मिथक उनकी लोककला, लोकजीवन के रूप में कहीं न कहीं जुड़े हुए हैं। 'आदिवासी समाज और सांस्कृतिक संकट के लेख' में दिनेश कुमार वर्मा बताते हैं कि "आदिवासियों में सहिष्णुता, सामूहिकता एक विशिष्ट प्रकृतिवादी विचारधारा रही है। आदि धर्म आदिवासियों की धार्मिक अवस्थाओं का मूल स्वरूप है। इनकी संस्कृति में देवी-देवता, भूत-प्रेत, प्रतीक-चिन्ह, झाड़-फूंक और जादू टोना जैसे विश्वास का प्रतीक बने हुए हैं।"[330] रमणिका गुप्ता अपने शब्दों में आदिवासी इतिहास के पहलुओं पर बेबाक टिप्पणी करती हैं –"यह सही है कि आदिवासी साहित्य अक्षर से वंचित रहा, इसलिए वह उसकी कल्पना और यथार्थ को लिखित रूप में न तो साहित्य में दर्ज कर पाया और न इतिहास में ही। हां, लोकगीतों, किंवदंतियों, लोककथाओं तथा मिथकों के माध्यम से लोकगान में उसकी गहरी पैठ है। जिसे तलाशना जरुरी है। यह तलाश शुरू हो गई है। वह शिक्षित होने लगा और अक्षर से उसका परिचय हुआ तो उसने जाना कि रानी ही नहीं बल्कि उनके बीच की एक 'सिनगी दई' जैसी वीरांगना भी विदेशियों से टक्कर लेती

[329] कोनजोगा, वंदना टेटे, पृ. 23

[330] आदिवासी विमर्श, डॉ, रमेशचंद मीणा, पृ. 149

रही है। आज 'सिनगी' आदिवासी महिलाओं के शौर्य की प्रतीक बन गई है। आज वह उससे प्रेरणा पाने लगे हैं। ग्रेस कुजूर उसी से प्रेरणा पाकर कह उठती हैं-

'और अगर /अब भी तुम्हारे हाथों की
अंगुलियाँ थरथराई /तो जान लो
मैं बनूगीं एक बार और /'सिनगी दई'। बांधुंगी फेटा
और कसेगी फिर से /'बेतरा' की गाँठ
सच!!बहुत जरुरत है झारखण्ड में
फिर एक बार /एक जबरदस्त /जनी-शिकार।"[331]

इसमें कवयित्री ने आदिवासी महिला के रूप में 'सिनगी दई' को प्रतीक मानकर शोषण के खिलाफ एक आवाज उठाई है। इन प्रतीकों के माध्यम से आदिवासी कविताओं में 'लोक' की व्यापकता की झलक देखने को मिलती है। इसमें आदिवासी लेखकों ने लोक-प्रचलित प्रतीकों को लोक कविता कोश की परम्परा में रखा है।

'रोया नहीं था यक्ष' कविता संग्रह में 'यक्ष-प्रेत का आक्रोश-एक' कविता में हरिराम मीणा ने आदिवासी मिथकों को लेकर मेघ को प्रतीक रूप में मानकर आदिवासी इतिहाकारों की लोक-दृष्टि को इंगित किया है-

'मैं प्रेत बहुत ताकतवर हूँ /सैकड़ों कुबेरों से लड़ सकता हूँ
पर विश्वास नहीं करेगा कभी भी
न पुख्ता विचार ही ले पायेगा यह व्यापक लोक
आश्रित सब जन रह जायेंगे/मुझ जैसों की उम्म्मीद में
पीढियां गँवा देंगे /..मुझ पर चढायेंगें

[331] आदिवासी : निज घरे परदेसी, रमणिका गुप्ता पृ. 30

अमूर्तन, कल्पना और मिथक का खोल

ख़ारिज ही कर देंगे यथार्थवादी इतिहासकार

मैं फिर रहा वही-का वही/और लोक यह ज्यों का त्यों ..।"[332]

इस कविता में हरिराम मीणा ने आदिवासी मिथकीय रूप को लेकर तार्किकता का परिचय दिया है । कवि ने कविता के मूर्त्त रूप को आदिवासी लोक-परम्परा से जोड़कर दिखाने की कोशिश की है। ग्रेस कुजूर की कविता में प्रकृति के विनाश की अभिव्यक्ति विविध रूपों में देखने को मिलती है। यहाँ इस कविता में प्रकृति के उपादानों को लोक-प्रचलित मिथकों के संदर्भों से जोड़ा है-

'यही प्रकृति
एक दिन मांगेगी
अपनी तरूणाई का एक-एक क्षण

और करेगी /भयंकर बगावत।"[333]

महाभारत काल के समय में एकलव्य को मिथक मानकर अनुज लुगुन एकलव्य को सचेत करते हुए कहते हैं कि तुम किसी द्रोण जैसे गुरु के छलावे में मत आ जाना। तथाकथित सभ्य समाज में शिक्षण के क्षेत्रों में हो रहे भेदभावपूर्ण व्यवहार को कविता के माध्यम से दर्शाया गया है-

'एकलव्य, काश ! तुम आए होते
महाभारत के युद्ध में अपने हुनर के साथ
तब मैं विश्वास के साथ कह सकता था

दादाजी ने तुमसे ही सीखा था तीरंदाजी का हुनर

दो अँगुलियों के बीच /कमान में तीर फँसाकर।

[332] रोया नहीं था यक्ष (कविता संग्रह), हरिराम मीणा, पृ. 79

[333] आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना , रमणिका गुप्ता, पृ. 121

एकलव्य अब जब भी तुम आना /तीर-धनुष के साथ ही आना। [334]

अत: आदिवासी कविताओं में कवियों ने मिथक का प्रयोग किया है। उन्होंने मिथकों के माध्यम से आदिवासी कविता की मिथ-परम्परा के पुर्नपाठ पर अपनी बात की है। अर्थात् इन कवियों ने आदिवासी लोक में प्रचलित मिथक को कविता का मुख्य विषय बनाया है।

5.4. **प्रतीक**

आधुनिक साहित्य में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'सिम्बोल' शब्द के पर्याय के रूप में माना जाता है। 'एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के अनुसार 'अमूर्त का मूर्त्त रूप में परिवर्तन होना ही प्रतीक है।'[335] अर्थात् इससे स्पष्ट होता है कि 'प्रतीक' का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है लेकिन हमारा तात्पर्य यहाँ केवल काव्यगत प्रतीकों से है जो कि अधिकांश रूप से व्यंजना शब्द शक्ति से ओतप्रोत माना जाता है। जिससे प्रतीत होता है या किसी वस्तु की अभिव्यक्ति होती है उसे प्रतीक कहते है- 'प्रतीयते अनेन इति प्रतिकम'[336] अर्थात् प्रतीक शब्द की निष्पति प्रति उपसर्ग कन् प्रत्यय के योग से हुई है जिसका अर्थ शरीर होता है। जिस प्रकार से शरीर का आत्मा के साथ दृश्य प्रतिनिधि होता है, उसी प्रकार से किसी अन्य के स्थान पर प्रयोग होने वाले चिन्ह, वरन शब्द को प्रतीक कहा जाता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतीक को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रतीक की परिभाषा एवं स्वरूप के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों ने गंभीर चिंतन किया है। 'सिम्बल' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक

[334] प्रगतिशील वसुधा पत्रिका, कमला प्रसाद, (संपा.), अंक-85, भोपाल, पृ. 183

[335] Encyclopaedia Britannica Vol. 21, P-700 , Edition 1911, London

[336] हिन्दी शब्द सागर, भाग-3, पृ. 2208

भाषा से हुई है, जिसमें ऐसे चिन्हों की ओर संकेत किया गया है जो खंडित अनुबंधों वाले दलों के साथ विनिमय करते हैं। एन्सक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का मानना है कि प्रतीक किसी दृश्य वस्तु को दिया गया नाम है जो मस्तिष्क को किसी वस्तु के सादृश्य के रूप में अनुभूत करता है।

डॉ. नगेन्द्र प्रतीक के साथ बिम्ब का अंतर्संबंध बताते हुए कहते हैं-'प्रतीक एक प्रकार से रूढ़ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है।'[337] डॉ. कुमार विमल के अनुसार- 'एक ही शब्द या अप्रस्तुत किसी सम्पूर्ण अर्थ को व्यंजित करने की शक्ति अर्जित कर लेता है तब वह प्रतीक रूप में बदल जाता है।'[338] इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए डॉ.अवधेश पाण्डेय बताते हैं कि कवि के भाव लोक से संबंध वह शब्द हैं जो सांकेतिक रूप से अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। अर्थात् साहित्य में प्रयुक्त होने वाले अधिकतर प्रतीक अतीन्द्रिय सत्ता के साथ-साथ भौतिक अनुभवों एवं इंद्रिय सत्ता की अभिव्यक्ति करते हैं। उनका मानना है कि प्रतीक के द्वारा अर्थ की व्यंजना लाक्षणिक रूप में होती है, जो अधिकतर रुढ़िमूलक ही होता है। जिस प्रतीक में जितनी व्यंजकता होती है वह प्रतीक उतना ही उच्चकोटि का होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में यद्यपि प्रतीक शब्द का प्रयोग हमें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है तथापि आधुनिक साहित्य में विशेषतया, काव्य में प्रतीक शब्द का जिस रूप में ग्रहण हुआ है, उसका संबंध अंग्रेजी शब्द के 'सिम्बल' से है।"[339] आधुनिक समीक्षकों ने प्रतीक शब्द पर

[337] काव्य बिम्ब, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 7-8
[338] सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, कुमार विमल, पृ. 256
[339] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 669

पर्याप्त प्रकाश डाला है। डॉ.रामकुमार वर्मा के अनुसार 'प्रतीक व्यष्टि में समष्टि का संपोषण है।'[340]

डॉ. नित्यानन्द शर्मा ने प्रतीक शब्द की परिभाषा देते हुआ लिखा है कि 'अप्रस्तुत अप्रमेय, अगोचर अथवा अमूर्त का प्रतिनिधित्व करने वाले उस प्रस्तुत या गोचर वस्तु विधान को प्रतीक कहते हैं, जो देशकाल एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण हमारे मन में अपने चिर साहचर्य के कारण किसी तीव्र भावना को जाग्रत करता है।"[341] प्रतीक वस्तुतः अप्रस्तुत की समस्त आत्मा या धर्म या गुण का समन्वित रूप लेकर अपने प्रस्तुत का नाम है।'[342] सुमित्रानंदन पंत का मानना है कि 'हमारा मन जिस प्रकार के विचारों के सहारे आगे बढ़ता है उसी प्रकार मानव चेतना प्रतीकों के सहारे विकसित होती है। हमारे राम और कृष्ण इसी प्रकार के प्रतीक है, जिनके व्यक्तित्व में एक युग की संस्कृति मूर्तिमान हो उठी है। अज्ञेय का मानना है कि प्रतीक स्थूल से सूक्ष्म की प्रतिष्ठा करता है।'[343] अत: स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि 'भाव एवं अभिव्यंजन दोनों ही दृष्टियों से काव्य में प्रतीकों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, जहाँ प्रतीक एक ओर चेतना के गंभीर स्तरों पर अनुभूत अनिर्वचनीय भावों और संवेदनाओं को मूर्त एवं स्थायी रूप प्रदान करता है, तो दूसरी ओर वह अर्थ के अनन्त विस्तार को परिमित सीमा में आबद्ध कर अभिव्यंजना पक्ष को समृद्ध करता है। उदाहरण के लिए चट्टान की स्थिरता निर्झर या नदी गतिशीलता उषा, आशा और बसंत जीवनोदय के प्रतीक बन जाते हैं।'[344] अत: कहा जा सकता

[340] साहित्यशास्त्र , डॉ.रामकुमार वर्मा, पृ.118
[341] आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक विधान, डॉ. नित्यानन्द शर्मा, पृ. 21
[342] हिन्दी कविता के युगांतर, डॉ. सुधीन्द्र, पृ. 364
[343] हिन्दी संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. 236
[344] चिंतामणि , भाग-2, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 121

है कि प्रतीक काव्यभाषा का महत्त्वपूर्ण अंग है जो कि काव्य में विशेष महत्त्व रखता है।

काव्य क्षेत्र में प्रतीकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है अतएव प्रतीकों का सहज रूप में वर्गीकरण करना मुश्किल है। इसलिए पाश्चात्य और भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अपने अनुसार प्रतीकों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ.नगेन्द्र प्रतीकों को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं-

1. सृजन के प्रतीक
2. ध्वनि के प्रतीक
3. ध्वंस के प्रतीक'[345]

सांस्कृतिक प्रतीकों के अंतर्गत धर्म, पुराण एवं इतिहास से सम्बद्ध प्रतीक और सैद्धांतिक प्रतीकों के अंतर्गत वैज्ञानिक दार्शनिक और राजनैतिक प्रतीक संग्रहित किए गए हैं।'[346] अर्थात् इसमें कोई संदेह नहीं होता है कि कवि प्रतीकों के माध्यम से ही अपने परिवेश की वस्तुओं, रीतियों, चरित्रों तथा स्वानुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं।

रमणिका गुप्ता ने आदिवासी मूल्यों के पतन का कारण दिकू यानी बाहरी लोगों द्वारा किये गए संस्कृति पर हो रहे हमले को माना है, जिसका परिणाम आदिवासी समाज को भुगतना पड़ रहा है। इन सभी समस्याओं को इंगित करते हुए कवयित्री ने आदिवासी मुद्दों को व्यापक स्तर पर नई पहचान दिलाई है । इस संदर्भ में रमणिका

[345] देव और उनकी कविता, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 203

[346] आधुनिक हिन्दी कविता में अप्रस्तुत विधान, डॉ.नगेन्द्र मोहन, पृ. 57

गुप्ता लिखती हैं कि-" उसने अपनी पहचान को अपने स्वाभिमान से जोड़ कर संघर्ष और मूल्यों का पर्याय बना दिया है। उसका साहित्य अपनी खोई या कहें छीनी गई इज्जत या मर्यादा को अपने मूल्यों पर तौल कर, अपने शब्दों, प्रतीकों, मिथकों में बाँधने लगा है। आज आदिवासी साहित्य, जो केवल लोक-साहित्य तक ही सीमित था, जो आगे निकल आया है और समकालीन साहित्य का एक अभिन्न हिस्सा बन गया है। आदिम संस्कृति से आज की संस्कृति की यात्रा का इतिहास इसके मिथकों, लोक-कथाओं, सृष्टि-कथाओं में भरा पड़ा है, जो इसके साहित्य को समृद्ध करता है। इसका साहित्य अपनी लोक-कथाओं व लोकगीतों में पृथ्वी के निर्माण की कथा भी कहता है, तो बादल, पहाड़, नदी, पेड़, वंशी, ढोल, मांदर यानी सबके होने के कारणों को परिभाषित और व्याख्यित भी करता है। भगवान नहीं है उसके साहित्य में, पूर्वज हैं बस, जिनसे यह निर्देशित होता है। मंदिर नहीं है कोई उसका। पेड़ और चट्टानें उसके 'जाहेर स्थान' है।"[347]

वंदना टेटे की कविता 'हम भी जा रहे हैं' में आदिवासी प्रतीकों और भाव-विचार के माध्यम से कविता के नए स्वरूप को लेकर बात की गई है। उन्होंने कविता में निहित आदिवासी प्रतीकों का सहारा लेकर नए सौन्दर्य का रूप गढ़ा है –

'जैसे सूख गई दामोदर सुवर्णरेखा
जैसे आसमान में बिला गई सुंगंधित हवाएं
जैसे चूर-चूर हो गए मजबूत पहाड़ जैसे
छटते –कटते चले गए जंगल
जैसे चले गए भालू, हाथी और बाघ
जैसे खो गई सब की सब तितलियाँ /हाँ, हम जा रहे हैं

[347] आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 121

जैसे चले गए गोंदली, मडुवा और गोडा धान

जैसे गुम हो गए चुआ, डाडी और झरने

हम जा रहे हैं /जैसे चले गए पुरखे

जैसे जा रही है यह धरती

सबकी पहुँच से बाहर /धीरे-धीरे हर क्षण।"[348]

आदिवासी मिथक की परम्परा अनुज लुगुन की कविता 'एकलव्य से संवाद' में झारखण्ड के सिमडेगा क्षेत्र के मुंडा आदिवासियों में दिखाई देती है। बताया जाता है कि किस प्रकार से मुंडा आदिवासी अंगूठे का प्रयोग किये बिना तर्जनी और मध्यमिका अंगुली के बीच तीर को कमान में फँसाकर तीरंदाजी करते हैं –

'एकलव्य मैंने तुम्हें देखा है
तुम्हारे हुनर के साथ
एकलव्य मुझे आगे की कथा मालूम नहीं

क्या तुम आए थे /केवल अपनी तीरंदाजी के प्रदर्शन के लिए

गुरु द्रोण और अर्जुन के बीच

या फिर तुम्हारे पदचिन्ह भी खो गए /मेरे पुरखों की तरह ही

जो जल जंगल जमीन के लिए /अनवरत लिखते रहे

जहर बुझे तीर से रक्त-रंजित /शब्दहीन इतिहास।"[349]

रामदयाल मुंडा की कविता में मानवीय प्रेम व मूल्यों की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से हुई है। 'इंकार' कविता में मुंडा जी ने पहाड़, नदी और पानी के रूपक से क्रमशः पुरुष, कुँआरी कन्या और नाजायज संतान की कहानी कही है-

[348] कोनजोगा (कविता संग्रह), वंदना टेटे, पृ. 95

[349] प्रगतिशील वसुधा पत्रिका, अंक-85, कमला प्रसाद, (संपा.), भोपाल, पृ. 183

'पहाड़ ने कहा
मैं इतना ऊँचा
कैसे कर सकता हूँ ऐसी खोटी करनी?
सागर ने कहा /मैंने उसे कभी देखा भी नहीं
कैसे हो सकती है यह मेरी पत्नी ?
और नदी कुमारी रो रही थी /गोद में लेकर पानी ।"[350]

रामदयाल मुंडा पुराने व आधुनिक प्रतीकों का मिश्रित प्रयोग 'पनिहारिन' कविता में डीजल ट्रक की चाल से पनिहारिन की तुलना प्रतीकों के माध्यम से इस प्रकार करते हैं –

'नल पर से घर, लचकती कमर
ऐसे चलती है जैसे
ईट लदी, मिट्टी सजी डीजल ट्रक
सर्कुलर रोड पर ।"[351]

रोज केरकेट्टा सशक्त प्रतीकों और रूपकों की धनी हैं । लोकतंत्र के लिए पेड़ का अनोखा प्रतीक एक आदिवासी ही सोच सकता है । इस संदर्भ में उनकी एक कविता 'बरगद' का कुछ अंश हैं-

'लोकतांत्रिक पेड़ पर
न कोई भूखा
न कोई प्यासा
सब आजाद, सब आजाद ।"[352]

[350] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता (संपा.), पृ. 7 की भूमिका से
[351] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता (संपा.), पृ.. 7 की भूमिका से
[352], कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता (संपा.), पृ. 17

इस कविता के माध्यम से विनोद कुमार शुक्ल ने आदिवासी कविता के यथार्थ और मिथक को सही ढंग से रेखांकित करने का प्रयास किया है । उन्होंने आदिवासी कविता के मर्म को ठीक तरह से समझने की कोशिश की है जो कविता की यथास्थिति को दर्शाती है -

'एक आदिवासी लड़की
महुआ बीनते बीनते/एक बाघ देखती है
जैसे जंगल में/एक बाघ दिखता है।

आदिवासी लड़की को बाघ/उसी तरह देखता है

जैसे जंगल में एक आदिवासी लड़की दिख जाती है।"[353]

महाराष्ट्र के आदिवासी कवि भुजंग मेश्राम अपनी कविता के द्वारा बिरसा की यशोभूमि का गान करते हुए मुक्ति की बात करते हैं , वे बिरसा को याद करते हुए कहते हैं-

'बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा
घास काटती दरांती हो या लकड़ी काटती टांगी
यहाँ-वहां पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण/खेतों की बयार बन कर

कहीं से भी आ मेरे बिरसा लोग तेरी बाट जोहते "[354]

इस कविता के माध्यम से कवि बिरसा की संघर्षभूमि के व्यावहारिक पक्ष पर पेचीदा सवाल करते हैं। बिरसा के संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए हरिराम मीणा 'बिरसा मुंडा की याद में' कविता के माध्यम से उलगुलान का नारा देते हुए आदिवासी अस्मिता के प्रश्नों को रेखांकित करते हैं-

[353] प्रतिनिधि कविताएँ, विनोद कुमार शुक्ल, पृ. 62
[354] आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ.19

'अभी-अभी,सुन्न हुई उसकी देह से
बिजली की लपलपाती कौंध निकली
जेल की दीवार लाँघती

तीर की तरह जंगलों में पहुंची

एक-एक दरख्त, बेल, झुरमुट, खेत-खलिहान, बस्ती

वहां की हवा, धूल, जमीन में समां गई..."[355]

अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए मुगलों से जूझने वाली वीरांगना महारानी दुर्गावती जनजाति की ही थी। इस प्रकार की गौरवशाली जनजातियों के इतिहास को भुलाया नहीं जा सकता-

'सुन रहे हो, बिरसा मुंडा
सिद्धू-कान्हू सन्याल
टट्या भील, उमेड बसावा।

मेरे वीर-शिरोमणि।"[356]

आदिवासी समाज की स्त्रियाँ 'सिनगी दई' की तरह मुग़ल सेना से लड़ाई लड़ती हैं। ग्रेस कुजूर की कविता आदिवासी स्त्री जाति के नायकों के इतिहास का वर्णन करती है। भारतीय मिथक एवं इतिहास परम्परा में बहुत से ऐसे संदर्भ हैं जिनका जिक्र परम्परागत वर्चस्वकारी वर्ग अपने पक्ष में करता रहा है। महाभारत के पात्रों के रूप में, कहीं रामायण के पात्रों के रूप में आदिवासी इतिहास की परम्परा का वर्णन मिलता है। इतिहास परम्परा में बिरसा, एकलव्य, शम्बूक आदि को प्रतीक रूप में मानकर आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं का मुख्य हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है।

[355] सुबह के इंतजार में, हरिराम मीणा, अक्षर शिल्पी, पृ. 9
[356] अम्बेडकरवादी सौन्दर्यशास्त्र और दलित, आदिवासी जनजाति विमर्श, डॉ. विनय कुमार पाठक, पृ. ६०८

5.5. **बिम्ब**

आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'बिम्ब' शब्द अंग्रेजी के 'इमेज' का हिन्दी रूप है। भारतीय शब्दकोश में बिम्ब के अर्थ हैं-प्रतिमा, छाया प्रतिबिम्ब[357], अकस,प्रतिच्छाया, सूर्य या चन्द्र का मण्डल, कमण्डलु, कुंदरू (बिम्ब या बिम्बाफल) उपमेय, आईना[358] । प्रतिबिम्ब, अकस, छाया, कमण्डलु, प्रतिमूर्ति, कुंदरू, नमक, फल, सूर्य अथवा चंद्रमा का मण्डल, झलक, आभास[359] । इस प्रकार बिम्ब शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में माना गया है-चित्र, प्रतिमा के अर्थ में, छाया के अर्थ में और फल विशेष प्राप्ति के अर्थ में। पाश्चात्य साहित्य में भी ;इमेज' के यही अर्थ देखने को मिलते हैं।

बिम्ब का आविर्भाव कल्पना के द्वारा होता है और बिम्बों से प्रतीक का। बिम्ब विधान कला का क्रिया पक्ष है। जब कल्पना मूर्त रूप धारण कर लेती है तब बिम्ब का प्रादुर्भाव होता है। 'साधारण अर्थ में बिम्ब का अर्थ शब्दों द्वारा निर्मित चित्र है। शब्दों द्वारा चित्र खड़ा करना बिम्ब की मूलभूत विशेषता है। बिम्ब यथातथ्य और सर्वांगीण होते हैं तथा एक अविछिन्न वस्तु व्यापार का प्रतिपादन करते हैं। बिम्ब अनेकार्थ व्यंजक होते हैं तथा काव्य के जीवन्त तत्व माने जाते हैं। अत: उत्कृष्ट कलाकृति योजित बिम्बों के द्वारा अपने क्षेत्र में आयी हुई वस्तुओं को गेटे के कथनानुसार कंक्रीट यूनिवर्सल बना देती है।''[360] अर्थात् बिम्ब का काव्य में बहुत महत्त्व है। इसलिए बिम्ब कवि के कृत्रिम संवेदन को तथा अमूर्त अनुभूति को

---

[357] संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 717

[358] वृहद हिन्दी कोश : संपा. कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, पृ. 934

[359] नालंदा शब्द सागर, संपा. नवल जी , पृ. 977

[360] सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व , डॉ. कुमार विमल, पृ. 204

रूप चित्रों में प्रस्तुत करता है। जिस कविता में जितने बिम्ब होगे, वह कविता उतनी ही प्रभावशाली होगी। बिम्ब के द्वारा कवि विचारों और वस्तुओं के कल्पित रूप को इन्द्रिय ग्राह्य बनाता है।

बिम्ब शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'इमेज' के पर्याय के रूप में होता है। बिम्ब एक शब्द चित्र है। बिम्ब विधान को कला सृजन के माध्यम के साथ-साथ आवश्यक रूप माना गया है-'इमेज' शब्द का शाब्दिक अर्थ मूर्त अथवा आकृति रूप से लिया जाता है। बिम्ब वस्तुतः मानसिक होता है। इस प्रकार कल्पना की ऐसी मानसिक प्रक्रिया जिसकी सहायता से कवि मूर्त या आकृतियों की सृष्टि करता है बिम्ब कहलाती है।"[361] अर्थात् बिम्ब कविता का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है क्योंकि बिम्ब भाव संप्रेषण और सौन्दर्य विधान का एक प्रभावकारी माध्यम है। बिम्ब कविता का पर्याय नहीं होता है बल्कि काव्य के रूप में उसकी प्रभावकारी भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। 'सामान्यत: बिम्ब शब्द चित्र को माना जाता है पर काव्य में बिम्ब का अर्थ कुछ अधिक व्यापक होता है। एक काव्यात्मक बिम्ब का रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि इंद्रिय गुणों से अनिवार्य संस्पर्श होना चाहिए और उसमें भावों को उद्भूत तथा उद्वेलित करने की शक्ति भी होनी चाहिए। इन गुणों के अभाव में हम किसी शब्द चित्र मात्र को काव्यात्मक बिम्ब की संज्ञा नहीं दे सकते।"[362] इस प्रकार बिम्ब काव्य में कल्पना के द्वारा निर्मित मानस छवि है जो मूल रूप से कविता में भाव को ग्रहण करती है। इस तरह कवि अपनी कविता में अनुभूति को शब्दों के जरिए चित्रात्मक रूप में प्रस्तुत करता है।

[361] महादेवी के काव्य में बिम्ब विधान, डॉ. सुधा श्रीवास्तव, पृ . 14

[362] प्रगतिशील हिन्दी कविता, डॉ. दुर्गा प्रसाद, पृ. 255

'बिम्ब कल्पना और स्मृति की वह क्रिया है, जो शब्दों द्वारा रूप(चित्र) प्रस्तुत करके पाठक के मन को प्रभावित करती है। बिम्ब-विधायक कल्पना पुनरुत्पादक कल्पना होती है। कवि अतीत की घटनाओं, स्थितियों और अनुभूत पदार्थों को उनके रंग ध्वनि, आकार-प्रकार, के साथ शब्द-चित्रों के रूप में उपस्थित करता है। काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"[363]

बिम्ब को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने के संदर्भ में डॉ. प्रेम प्रकाश गौतम का मत है 'वे बिम्ब जो हमारी कल्पना को हृदय में उपस्थित करते हैं, साधारण बिम्ब होते हैं, जो बिम्ब दृश्य उपस्थित करने के साथ हमारी अन्य इन्द्रियों को भी प्रभावित करते हैं, वे काव्य दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट होते हैं।"[364] इसी संदर्भ में सेसिल डेलेबिस का कहना है, "बिम्ब ऐसा इंद्रिय शब्द-चित्र है, जिसमें अलंकारिकता और भावावेग का संदर्भ होता है और जो पाठकों में भावोत्तेजना पैदा करता है।"[365] बिम्ब को परिभाषित करते हुए डॉ. केदारनाथ सिंह ने लिखा है-"बिम्ब वह शब्द चित्र है जो कल्पना द्वारा इंद्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।"[366] इस संदर्भ में टी.आर.करियूजर के अनुसार-"बिम्ब काव्य का आंगिक अवयव है जो अलंकार या साज-सज्जा से नितांत भिन्न होता है।"[367]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिंतामणि' में बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार से दी है-"काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के

[363] काव्य-बिम्ब, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 5
[364] साहित्य संदेश पत्रिका, संपा. बाबू गुलाबराय, जुलाई-अगस्त, 1937 , पृ. 8
[365] वही, पृ. 6-7
[366] आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान का विकास, डॉ. केदारनाथ सिंह, पृ. 23
[367] Elements of poetry, Robert Scholes, oxford university publication, 1969, p. 929

सामने कोई विचार लाना नहीं ।"[368] इस परिभाषा से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावों के मूर्त रूप को ही बिम्ब का पर्याय माना है । वे बिम्ब को रसपूर्ण होने के कारण सहृदय की कल्पना से जोड़कर देखते हैं । रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि 'ऐसे रागात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियां उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उसकी योजना करती है ।'[369] डॉ.केदारनाथ सिंह ने बिम्ब के स्वरूप को इस प्रकार से चित्रित किया है-"काव्यगत बिम्ब यह शब्द चित्र है, जो संवेग और वासना से उत्पन्न होता है और जो इंद्रिय गुणों से अनिवार्य रूप से समन्वित रहता है ।"[370] उपर्युक्त परिभाषाओं से तीन बातें निकलकर सामने आती हैं -पहली कि बिम्ब एक प्रकार का शब्द चित्र होता है और दूसरी बात यह है कि बिम्ब का निर्माण कल्पना के द्वारा होता है । तीसरी बात यह है कि बिम्ब के निर्माण के लिए इंद्रिय अनुभव के आधार का होना बहुत ही जरुरी होता है।

कविता के विषय चयन को लेकर अनुज बहुत सावधानी रखते हैं । वे शब्दों के चयन, बिम्ब और प्रतीक को लेकर बहुत सावधानी बरतते हैं । उनकी कविता की विशेषता यह है कि वे व्यापक दृष्टिकोण को लेकर चलती है । इस लिहाज से अनुज की कविता 'बादल' का एक अंश इस प्रकार है-

"मेरे सर के ऊपर और मैं जहाँ खड़ा हूँ
वहाँ एक खेत की मेड से
पानी के बहने की आवाज आ रही है

[368] चिंतामणि (पहला भाग), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 228
[369] चिंतामणि (पहला भाग), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 228
[370] कल्पना और छायावाद, डॉ. केदारनाथ सिंह, पृ. 76

मैं जहाँ खड़ा हूँ वहीं मेरी जमीन है

मैं एक पहाड़ के सामने खड़ा हूँ और उसके ऊपर मंडराते

बादलों को देख रहा हूँ वाकई /यह बहुत खूबसूरत दृश्य है

और इस पर लिखी जा सकती है

एक कविता ,अपने प्रियतमा के नाम।"[371]

कवि का प्रेम कविता लिखने के बारे में सोचता है लेकिन अगले ही पल उसका मन प्रेम कविता से परे चला जाता है और पहाड़ की खूबसूरती में रम जाता है। वह प्रकृति के सौन्दर्य बिम्बों में अपनी कविता को बांधना चाहता है। अनुज की कविता में बिम्बों, प्रतीकों का प्रयोग बड़े सजीव ढंग से किया गया है। एक तरफ मुंडा जी आदिवासी व गैर-आदिवासी दृष्टिकोण की सीमाओं की बात करते हैं। अनमेल की बात वे 'जंगल जड़ी-बूटी पीसने की तरह' कविता में बड़े खूबसूरत ढंग से प्रतीकों के माध्यम से करते हैं। इनके यहाँ प्रतीक अन्यत्र आदिवासी कविता से बहुत अधिक मात्रा में मौजूद है। इनके बिम्ब का बेजोड़ नमूना- मिलना, टूटना और छिनगना आदि रूपों में है –

'जड़ी-बूटी पीसने की तरह
गर्म लोहा गलाने की तरह
तुमने मुझे पीस डाला, मिला डाला

मैं घुल ही गया.../तुमसे मन मिल ही गया...

कोई फल तोड़ने की तरह /कोई साग टूंगने की तरह

तुमने मुझे तोड़ लिया-टूंग लिया /मैं छिनग ही गया।"[372]

---

[371] परिंदे द्वैमासिक पत्रिका, डॉ. शिवदान सिंह भदौरिया (संपा.), पृ. 44

[372] कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिंदी कवि), रमणिका गुप्ता (संपा.), पृ. 50

कवि रामदयाल मुंडा ने बिम्ब विधान का प्रयोग अपनी कविताओं में किया है। कवि रामदयाल मुंडा द्वारा सृजित में बिम्ब केवल रुक्ष शब्द का चित्र ही नहीं बल्कि भावों को भी समाहित करने वाला है। रामदयाल मुंडा की कविताओं में दृश्य बिम्ब, घ्राण बिम्ब, श्रव्य बिम्ब आदि बिम्बों का सहज प्रयोग देखने को मिलता है।

सजग संस्कृतिकर्मी होने के नाते वंदना टेटे की सोच में स्थानीयता के बाद पूरे विश्व के अस्तित्व की चिंता शामिल हो जाती है। वंदना टेटे प्रकृति के सहज सौन्दर्य और भावों को अपनी कविताओं में पिरोती हैं। वे चिंतित हैं कि धीरे-धीरे यह सहजता ख़त्म होती जा रही है-

'चिंतित हूँ और उदास भी
कि छूट रही है मेरे बच्चों से
बहुत सारी चीजें
बहुत बड़ी दुनिया
जिन्हें वे शायद ही जान पाएँ।"[373]

कविता के प्रतिमान कैसे होने चाहिए ? या काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कविता में किन-किन लक्षणों का होना जरुरी है ? ये सब शिल्पगत सौन्दर्य के अंतर्गत आता है। आज कविता के प्रतिमान बदल रहे हैं। धीरे-धीरे आदिवासी कविता का शिल्प भी बदलने लगा है, जिस तरह पेड़-पौधों पर नैसर्गिक रूप से फूल खिलते हैं, आसमान में सूरज, चाँद-सितारे और बादल मनोहारी कलाएँ रचते हैं, वैसे ही व्यक्ति की भावनाएँ और विचार शब्दों के जरिये कविता में पिरोये जा रहे हैं।

[373] आदिवासी साहित्य विमर्श त्रैमासिक पत्रिका , गंगासहाय मीणा, पृ. 160

आदिवासी कविता नए शिल्प-सौन्दर्य को प्रकृति के साथ जोड़कर देखती है और पुराने मिथ को तोड़ते हुए नए प्रतिमान गढ़ती है। आज के संदर्भ में आदिवासी कविता का शिल्प-नए विधान के साथ-साथ विविध रूपों में सामने आ रहा है। आदिवासी कवयित्री वंदना टेटे के कविता संकलन 'कोनजोगा' में उद्दृत कविता 'पके धान के खेतों से दूर' में प्रकृति के विविध रूपों का सुन्दर चित्रण बखूबी ढंग से किया गया है –

'पके धान के खेतों से दूर /पहाड़ी के पीछे
सरगुजा के खेतों के बीच /चाँद अकेला है
हवा संवाद चाहती है /नदी गुनगुनाना
सलवा जुडूम के डर से /फुसफुसाती है जिन्दगी यहाँ
बहेगी बदलाव की बयार /मुस्कुराएगा चाँद
घोटुल में गूंजेगी हँसी /ये उम्मीद
कौंधती रहती है /बिजली की तरह
जब पके धान के खेतों से दूर
मराड़ बुरु पहाड़ पर /नाचते हैं काले-काले बादल।"[374]

इस तरह से कविता का शिल्प नए बिम्बों के रूप में नए विधान के साथ प्रस्तुत हुआ है। यह कविता शिल्प-सौन्दर्य के द्वारा किये गए नए-नए प्रयोगों द्वारा रचना को विस्तृत रूप देती है। प्रकृति के नए भाव चित्रण के साथ वंदना टेटे की कविता 'जामुन का पेड़' में प्रकृति के शिल्प सौन्दर्य की मनोरम छटा का बखूबी ढंग से चित्रण हुआ है –

[374] आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, पृ. 14

‘बारिश, मैं जामुन का पेड़
और ढेर सारी यादे /पानी की बूंदे बूंदों का रेला
बहा ले जाना चाहता है /हवा कह रही है डराती हुई
बहा दो /पेड़ मौन है बारिश में भीगा है
मौन सहमति नहीं है /जड़े मिट्टी छोड़ रही हैं
पेड़ की पकड़ छूट रही है
बारिश, मैं जामुन का पेड़ /स्तब्ध हैं /मन भीगा है।”[375]

इन कविताओं में मिथकीय ढंग से कथाएं पशु-पक्षियों में मानवीय संवेदना से ओतप्रोत होती हैं और पशु-पक्षी मानव हित में मनुष्य का रूप लेकर मनुष्य की मदद करते हैं। शिल्प-सौन्दर्य का विधान आदिवासी कविताओं में मिथक रूप में आया है। कविता के माध्यम से कवि ने यौवनता का चित्रण प्रकृति के बिम्बों के रूप में किया है। एक तरह से आदिवासी कविता नारी-सौन्दर्य के रूप को विविध रूपों में प्रस्तुत करती है। इसी संदर्भ के साथ आदिवासी कविता का नया रूप प्राकृतिक बिम्बों, भाव-विचारों के साथ प्रकट हुआ है।

आदिवासी जीवन की कल्पना प्रकृति के बिना संभव नहीं, प्रकृति के साथ छेड़छाड़ आदिवासी के लिए अधिक चिंताजनक बात है। संताली कविता में कहा गया है-

“...ढह गई बड़ी पहाड़ी /भसकी छोटी पहाड़ी
उल्टी पुल्टी हो गई दुनिया
ओ मेरे भाई..।”/तो ठीक, नहीं तो..”
हमें सौपा है हमारे पूर्वजों ने /धन सम्पदा से संपन्न।”[376]

[375] कोनजोगा (कविता संग्रह), वंदना टेटे, पृ. 31

'थोडा सा स्त्री होना चाहता हूँ' संग्रह की अधिकतर कविताएँ सौन्दर्य और श्रम में एक सुन्दर संबंध बनाती दिखती हैं। इस सौन्दर्य के दो रूप हैं एक तरफ है मजदूर योद्धा का सौन्दर्य। इस संदर्भ में कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है-

'पूस माह में भी /तर-तर छूट रहा पसीना
फटी गंजी, घुटने लुंगी...
छिलन चोट के लाल निशान
तमने से चमचमा रहे

बुघन कमाण्डो के सीने पर...

देगा वह बलिदान /न सम्मान !

हमारा वीर बहादुर

जनरल-मार्शल /बुधन जवान।"[377]

रणेंद्र की कविता में एक तरफ घर के बाहर धूप में पकता सौन्दर्य है तो दूसरी तरफ घर के भीतर चूल्हे की आँच में आकार लेता सौन्दर्य है। कवि के अनुभव ने इस अनुपम सौन्दर्य को अपनी कविता में बहुत सहजता से पिरोया है-

"चूल्हे के आँच में
दमदम दमकते नक बेसर पर
श्रम बूंदों के अमोल मोती,

बलि-बलि जाएँ जिन पर

सौ-सौ पूनो के चाँद

हे चांदो ! सांवर गुइयाँ !!"[378]

---

[376] आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगासहाय मीणा, पृ. 160

[377] हाशिया : साँवला रंग और कवि के मन का हरापन ब्लॉग से उद्धृत , पृ. 1

[378] हाशिया : साँवला रंग और कवि के मन का हरापन ब्लॉग से उद्धृत , पृ. 2

रणेंद्र की इन कविताओं में ग्रामीण स्त्रियों का यह सौन्दर्य चाहे वो सांवर गुईयाँ विगत यौवना हो, बुधन बिरिजिया हो, बीड़ी का कश भरती स्त्री हो इन सभी में श्रम के सौन्दर्य का चित्रण बेजोड़ ढंग से हुआ है।

शिल्प सौन्दर्य का चित्रण आदिवासी कविता में देखने को मिलता है। आदिवासी कवियों ने अपनी कविता में प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति के सौन्दर्य को केंद्र में रखा है। शंकरलाल मीणा की कविता 'परदेशी सौदागर' में सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा को कविता का मुख्य विषय बनाया गया हैं-

'हम जैसे फटीचरों में
विश्व-सुंदरी ही नहीं
ब्रह्माण्ड-सुंदरी भी हो सकती है
सौदागर से पहले
इसका एहसास कहाँ था हमें ?
अब तो हमारी /एकमात्र चिंता-सौन्दर्य
एकमात्र चिंतन-सौन्दर्य।"[379]

इस कविता में कवि ने कविता के शिल्प को लेकर मार्मिक भाव से चित्रण किया है। इसमें भाव, विचार, शब्द-बिम्ब आदि का विवेचन किया गया है।

5.6. **हिन्दी आदिवासी कविता में लोकभाषा का प्रयोग**

आदिवासी लेखकों के रचना-संसार की मुख्य विशेषता यह है कि वे अपने कविता में स्थान-परिवेश की या लोक-भाषा का रचनात्मक व्यवहार करती हैं। यह

[379] जनकृति अन्तराष्ट्रीय ई पत्रिका, कुमार गौरव (संपा) , पृ. 5

लोक-भाषा आदिवासी कविता की स्थानीयता की पहचान है और यह प्रादेशिकता से भी जुड़ी हुई हैं। यह लोक-भाषा, उनकी मातृभाषा भी है जो आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी की काव्य-परम्परा को भी समृद्ध करती हैं।

संताली भाषा की मौलिक शब्दावली में शरीर के अंगों, प्राकृतिक पदार्थों तथा भोजन संबंधी विषय क्रियाकलाप से संबंधित हैं। जैसे-बोहोक-सिर, उप-बाल, मेंत-आँख, देया-पीठ, ती-हाथ, ओत-पृथ्वी, सेरमा-आकाश, दारे-पेड़, बिर-वन, बुरु-पहाड़, हासा-मिट्टी आदि। संस्कृत शब्दों की अंतिम ध्वनि 'म्' संताली में 'म' के रूप में होती है। अर्थात् ये शब्द सीधे संस्कृत से संताली में आए हैं। संस्कृत के अनेक क्रियामूल भी कुछ परवर्तित रूपों में संताली में विद्यमान है। जैसे- अंज्-आजोक्(लगाना,तेल), जिघ्र-जी(सूंघना), जम्-जोम(खाना) आदि। इसी तरह हिन्दी से आए हुए शब्द जैसे-आलू-आलू, छाता-छातार, दुहना-दुहाऊ, पोथी-पुथी आदि। 'संताली भाषा में ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनका प्रयोग हिन्दी भाषा में नहीं मिलता है, लेकिन इनमें ध्वनिगत समानता देखने को मिलती है। मूल रूप से ऐसे बहुत से शब्द संताली से हिन्दी में आए हैं जो स्वतंत्र रूप से मुंडारी भाषा परिवार में ध्वन्यात्मक रूप से भिन्न प्रतीत होते हैं।

रामदयाल मुंडा और अनुज लुगुन की कविताओं में मुंडारी शब्दों का प्रयोग मिलता है और साथ में उरांव के शब्द भी मिलते हैं। जैसे-

गिति: ओड़ा: (मुंडा समाज), सोसोबोंगा (मुंडाओं की लोककथा),

लुटूकम हडम और लुटूकुम बूढी (मुंडाओं के आदि पूर्वज)

टूनटा साईंल (मुंडाओ के एक गोत्र का टोटेम)

बुनुम (दीमकों का टीला)सेंदेरा (शिकार)

महादेव टोप्पो की कविता 'आप क्यों हँसते हैं?' में कई शब्द आए हैं जो लोक परम्परा के रूप में प्रचलित है जैसे-

'आप क्यों हँसते हैं ?/आइये, यहाँ आइये
जंगल का कौनसा पत्ता है यह?
कौनसा पेड़ है ? बताइये !

जानिए फुटकल1 भी दवाई है, रानू'2 बनाते बूटियाँ भी.."[380]

कविता की इन पंक्तियों में दो शब्द आए है जैसे -1. फुटकल –जिसका अर्थ पीपल जाति का एक पेड़ होता है और 2. रानू -शब्द का अर्थ चावल की गुंडी(आटा) के साथ, जंगल की जड़ी-बूटियों को मिलाकर तैयार टिकिया, जो महुआ की शराब या हंडिया बनाने के लिए उपयोग में लायी जाती है। इस तरह से 'रचने होंगे ग्रंथ' में 'जाहेरथान' शब्द आया है जिसका अर्थ आदिवासियों का पवित्र-पूजा स्थल है।

इस तरह 'प्रश्नों के तहखाने में' कविता में कई प्रचलित शब्द हैं जिनका प्रयोग आदिवासी परम्परा के रूप में होता रहा है, इनका एक उदाहरण इस प्रकार हैं-

'धरती बनती रहती है फिर भी बंजर
इसी बीच लेकिन
कोई हमारी टंगिया, कुमनी1, हल, कुदाल, तीर, धनुष
धुमकुड़िया/घोटुल2 का अध्ययन करता।"[381]

[380] जंगल पहाड़ के पाठ (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 19
[381] जंगल पहाड़ के पाठ, (कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, पृ. 25

इस कविता में आए शब्द जैसे -1. कुमनी- जिसका अर्थ होता है बांस की बनी एक ऐसी टोकरी जो आकार में अंग्रेजी के वाई अक्षर जैसी होती है। 2. घोटुल-जिसका अर्थ होता है झारखण्ड एवं बस्तर के आदिवासी युवाओं का ज्ञान-केंद्र, शिक्षण-केंद्र या युवा-गृह। इस तरह कविताओं में आदिवासी परम्परा में प्रचलित शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है, क्योंकि इन कविताओं में आए हुए शब्द लोक परम्पराओं के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

जब आदिवासी साहित्य के भाषा पक्ष पर बात होती है तो कई सारे प्रश्न हमारे दिमाग में आने लगते है कि आदिवासी समाज की भाषा का निस्तारण क्यों नहीं किया जाता है? इसलिए जब कोई लेखक लिखने के लिए भाषा का चुनाव करता है, उसी वक्त यह निर्धारित हो जाता है कि उसकी रचना किस जीवन मूल्य का पक्ष लेगी? आदिवासी विमर्श में आदिवासी भाषाओं को बचाने की बुनियाद का सवाल आदिवासी समाज की चिंता का मुख्य कारण बन गया है। जिन तत्त्वों से आदिवासी अस्मिता प्रभावित होती है उनमें आदिवासियों की भाषा एक प्रमुख तत्त्व है। भाषा की बात की जाए तो आदिवासी विमर्श दलित विमर्श से अलग मायने रखता है। आदिवासी समाज के पास तो अपनी मातृभाषा है जो शेष समाज से भिन्नता रखती है।

हरिराम मीणा की कविताओं की भाषा और प्रस्तुति हिन्दी के रचनाकारों से काफी मिलती –जुलती है। शब्दावली से लेकर संवेदना तक वही अंदाज। कहा जा सकता है कि उनके लेखन पर हिन्दी लेखकों का काफी असर है। आदिवासी रचनाकारों को परम्परा से सहजता और सादगी मिली है , लेकिन बदलती परिस्थितियों ने

आदिवासी कवियों को ओज से भर दिया है । हरिराम मीणा बिरसा मुंडा को याद करते हुए लिखते हैं-

'उसकी आवाज
जंगलों में अभी भी गूंजती है –
"मैं केवल देह नहीं
मैं जंगल का पुश्तैनी दावेदार हूँ
पुश्तें और उनके दावे मरते नहीं

मैं भी मर नही सकता

मुझे कोई भी

जंगलों से बेदखल नहीं कर सकता

उलगुलान !उलगुलान!!''[382]

आदिवासी जीवन को लेकर जब कविता की बात की जाती है तो इसकी मौखिक परम्परा ही समृद्ध धरोहर के रूप में सामने आती है जो प्रमुख रूप से गेय परम्परा रही है । आधुनिक या समकालीन कविता की दृष्टि से आँचलिक भाषाओं में अवश्य कविता के माध्यम से जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति होती है। लेकिन हिन्दी भाषा में आदिवासी कविता अभी शुरूआती दौर में चल रही है। आदिवासी इलाकों में बाहरी तत्वों की घुसपैठ सबसे बड़ी समस्या रही है। यहीं से आदिवासी जीवन पर होने वाले अस्मिता व अस्तित्व का सवाल खड़ा होता है। और अंत में आदिवासी अस्तित्व का संकट ग्रेस कुजूर की कविता के अंश में इस प्रकार से है-

"हे संगी क्यों घूमते हो
झुलाते हुए खाली गुलेल
क्या तुम्हें अपनी धरती की

[382] लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, वंदना टेटे, पृ. 142

सेंधमारी सुनायी नही दे रही ...?''[383]

हिन्दी साहित्य के आदिवासी विमर्श में लोक परम्परा का चित्रण आदिवासी कविताओं में नए-नए रूप विधान के साथ प्रयोग किया गया है। इस संदर्भ को गंगासहाय मीणा ने अपनी संपादित पुस्तक 'आदिवासी साहित्य विमर्श' में प्रमुखता से सामने लाने की कोशिश की है । इस विमर्श की अवधारणा को 'आदिवासी भाषाओं की अस्मिता और उनसे जुडी़ उनकी सांस्कृतिक अस्मिता के सवाल पर आज के समय में एक गहन विमर्श की आवश्यकता है । जो उपलब्ध इतिहास है वह निश्चित रूप से औपनिवेशिक इतिहास है । आदिवासी लोकगीत, राग, कहावत, लोकोक्ति, संस्कार गीत, श्रमगीत इस इतिहास के निर्माण के लिए प्रामाणिक साहित्यिक स्रोत होगें । इतिहास जहाँ चूक करता है वहां मिथक ज्यादा सन्दर्भवान हो उठते हैं । आदिवासी इतिहास लेखन में व्याप्त गहरे मौन और अंतरालों को इसी मिथकीय चेतना से अभिव्यक्त किया जा सकता है । यह मिथकीय चेतना इनके लोक व्यवहार में व्याप्त है। इस संदर्भ में एक संताली लोकगीत है-

डेला-डेला डेला से हो!
दुडुप अपाम हुयी काते,
सिविल सगाई रोड, ते,
आपन-आपिन रोड़, बेगोर
सुक –दुक लाड़ हाटीअ
जोड़आ /जुरुक्सेंगेल मारसाल ते ।"[384]

[383] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, गंगासहाय मीणा, संपा. पृ. 31
[384] आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगासहाय मीणा, (संपा.), पृ.61

वास्तव में आदिवासी भाषायी अस्मिताबोध, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिकता का सही खाका ये लोकराग ही तय कर सकते हैं। 'आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका' में उद्धृत संस्कृति के आलेख पर टिप्पणी है कि 'आदिवासी संस्कृति परम्परा के शब्दों की भरमार है इस कविता संग्रह से झारखंडी आदिवासी संस्कृति, दर्शन, परम्परा, देशज ज्ञान धरोहर से परिचित होने का मौका मिलता है। जब बादल पहाड़ों से सहिया जोड़ने चले, टुकनू भर रौशनी हिलिर-हिलिर, धइरे-धइरे, छउवा, संगी, गुइया, सहिया, कुंबा, धवई फूल, जिरहुल फूल ख़ुशी के शब्द रियो-रियो, सलय-सलय आदि से मुख्यधारा के पाठक परिचित होने का अवसर पाते हैं। अपनी कविताओं के अंत में कुछ ऐसे शब्द जिनसे मुख्यधारा के पाठक अनभिज्ञ, अपरिचित हैं उनके अर्थों को देने से कविता अधिक हृदयग्राही होती।"[385] अर्थात् आदिवासी कविताओं में अन्य भाषाओं की अनूदित कविताओं का बहुत महत्त्व है। अनेक बोलियों और भाषाओं की आदिवासी कविताओं का अनुवाद हिन्दी भाषा में किया जा रहा है। संथाली भाषा से अनूदित होकर निर्मला पुतुल की कविताएँ हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। मराठी भाषा से अनूदित 'पहाड़ हिलने लगा है' वाहरू सोनवणे का कविता संग्रह भी हिन्दी में प्रकाशित हुआ है। इस तरह हिन्दी से इतर अन्य भाषाओं में कविताएँ लिखी जा रही हैं और अनुवाद भी बहुत हो रहे हैं। मलयालम की कविताएँ भी धीरे-धीरे अनुवाद रूप में हिन्दी में आने लगी है। आज हिन्दी के पाठकों की संख्या अधिक है इसलिए हिन्दी में कविता लिखना हिन्दी पाठकों के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। आज नब्बे से अधिक भाषाओं में आदिवासी साहित्य की

[385] आदिवासी साहित्य त्रैमासिक पत्रिका, गंगासहाय मीणा, पृ, 89

रचना हुई है जिनमें कविता विधा में लेखकों ने मातृभाषा से इतर हिन्दी में भी कविताएँ लिखी हैं।

निष्कर्ष

अत: कहा जा सकता है कि आदिवासी कविता की भाषा के प्रतिमान बिम्ब, प्रतीकों के रूप में लोक साहित्य के रूप में विद्यमान है। कविता की भाषा का विवेचन भाव सौन्दर्य के साथ नए विधान के रूप में आदिवासी साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। वैसे देखा जाए तो आदिवासी साहित्य अपने शिल्प व भाषिक मुहावरों के साथ कविता के नए प्रतिमान के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज कर रहा है। क्योंकि आदिवासी साहित्य की मौखिक परम्परा लंबी और समृद्ध रही है। आदिवासी भाषाओं में लिखा गया साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। मराठी, खड़िया, संथाली, कुडुख, बोडो, राभा, गारो, मिजो, खासी, भीली, आदि भाषाओं में लिखा गया साहित्य अनुदित होकर हिंदी साहित्य में आ रहा है। आदिवासी कविता में शिल्प और सौन्दर्य का प्रतिमान मुख्यधारा के साहित्य से अलग रूप में किया जाता है। क्योंकि आदिवासी समाज की संस्कृति, समाज और मौखिक परम्परा का विवेचन आदिवासी कविताओं में मुख्य चेतना के स्वर के साथ प्रस्तुत हुआ है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आधार-ग्रन्थ
2. सहायक ग्रन्थ
3. पत्र-पत्रिकाएँ
4. कोश
5. वेब-सामग्री
6. पुस्तकालय

संदर्भ ग्रंथ सूची

1.आधार ग्रंथ

1.अश्विनी कुमार पंकज, भाषा कर रही है दावा, झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, प्रथम संस्करण-2013

2.अश्विनी कुमार पंकज, जो मिट्टी की नमी जानते हैं, प्यारा केरकेट्टा फाउन्डेशन, राँची, झारखण्ड, प्रथम संस्करण-2008

3. अश्विनी कुमार पंकज, प्रेम और युद्ध, प्यारा केरकेट्टा फाउन्डेशन, राँची, प्रथम संस्करण-2009

4. अनुज लुगुन, अघोषित उलगुलान, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2017

5. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुंडा की बेटी, वाणी प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण-2017

6. उषाकिरण आत्राम, मोटयारिन, मुक्तरंग प्रकाशन, तृतीय सं.-2017

7. एकांत श्रीवास्तव, नागकेशर का देश यह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1990

8. एकांत श्रीवास्तव, धरती अधखिला फूल है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013

9. कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, बोलो मोहन गांजू, लोकमित्र, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008

10. चन्द्रकांत देवताले, पत्थर फेंक रहा हूँ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012

11.चन्द्रकांत देवताले, आग हर चीज में बतायी गयी थी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1987

12. जंसिता केरकेट्टा, अंगोर, वाणी प्रकाशन, कोलकाता, प्रथम सं. 2016

13.जसिंता केरकेट्टा, जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019

14. जमुना बीनी तादर, जब आदिवासी गाता है,(कविता संग्रह), परिंदे प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2018

15. दुलाय चन्द्र मुंडा, नव पल्लव, बिहार सचिवालय मुद्रणालय, 1966

16. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005

17. निर्मला पुतुल, अपने घर की तलाश में, रमणिका फाउंडेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004

18. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2014

19. भगवान गव्हाड़े, आदिवासी मोर्चा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015

20. महादेव टोप्पो, पहाड़ जंगल के पाठ, अनुज्ञा बुक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2017

21. रोज केरकेट्टा, अबसिब मुरडअ (खड़िया-हिंदी), प्यारा केरकेट्टा फाउन्डेशन राँची, झारखण्ड, प्रथम संस्करण-2010

22. रामदयाल मुंडा, नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य नगीत, झारखण्ड साहित्य परिषद्, राँची, प्रथम संस्करण-1980

23. रामदयाल मुंडा, सेलेद (विविधा), साइल राकाब पुथिसेंटर बिराटी, कोलकाता, प्रथम संस्करण-1966

24. रामदयाल मुंडा, वापसी,पुनर्मिलन और अन्य नगीत, छोटा नागपुर प्रकाशन केंद्र, राँची, प्रथम संस्करण-1988

25. रमणिका गुप्ता (सं), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009

26. रमणिका गुप्ता, (सं), कलम को तीर होने दो (झारखण्ड के आदिवासी हिंदी कवि), वाणी प्रकाशन , नई दिल्ली , 2015

27. रणेंद्र, थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ, शिल्पायन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010

28. रविकुमार गोंड , आदिवासी अभिव्यक्ति(आदिवासी संवेदना की लंबी कविता), अनंग प्रकाशन , दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015

29. लीलाधर मंडलोई, काल बांका तिरछा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2005

30. लीलाधर मंडलोई, काला पानी, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, 2006

31. वंदना टेटे (सं.), लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2017

32. वंदना टेटे, कोनजोगा (खड़िया-हिंदी), प्यारा केरकेट्टा फाउन्डेशन, राँची, झारखंड, प्रथम संस्करण-2015

33. वंदना टेटे (सं.), प्रलाप, केरकेट्टा फाउन्डेशन, राँची, झारखंड, प्रथम संस्करण-2017

34.वाहरु सोनवणे, पहाड़ हिलने लगा है, शिल्पायन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009

35. विनोद दास, खिलाफ हवा से गुजरते हुए, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण-1986

36. विनोद कुमार शुक्ल, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

36.सरिता बड़ाइक, नन्हें सपनों का सुख, रमणिका फाउंडेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2013

37. डॉ. सुनील जाधव , मैं बंजारा हूँ , चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण-2012

38. हरिराम मीणा (सं.), समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2013

39. हरिराम मीणा, सुबह के इंतजार में, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

40. हरिराम मीणा, हाँ चाँद है मेरा, जगतराम एंड संस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

41. हरिराम मीणा, रोया नहीं था यक्ष, जगतराम एंड संस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

42. हरिराम मीणा, आदिवासी जलियाँवाला एवं अन्य कविताएं, अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019

43. ज्ञानेन्द्रपति, भिनसार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

44. ज्ञानेन्द्रपति, संशयात्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

2. सहायक ग्रन्थ सूची

1. अभय कुमार दुबे, भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2007

2.अनुज लुगुन, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

3. अश्विनी कुमार पंकज, आदिवासियत (जयपाल सिंह मुंडा के चुनिंदा लेख और वक्तव्य, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड, प्र. सं. 2018

4.डॉ.ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी,भोपाल, 2012

5.एम.कुमार, आदिवासी संस्कृति एवं राजनीति, विश्वभारती पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009

6. डॉ. श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र, भोपाल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2010

7.श्रीमती करुणा जोशी, जनजातीय क्षेत्र में स्वतंत्रता आन्दोलन, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण- 2008

8.कुमार सुरेश सिंह, बिरसा मुंडा और उनका आन्दोलन, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2008

9. केदार प्रसाद मीणा (सं.), क्रांतिकारी आदिवासी: आजादी के लिए आदिवासियों का संघर्ष, साहित्य उपक्रम, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2012

10.केदार प्रसाद मीणा, आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2014

11. कुमार कमलेश, आदिवासी विमर्श: अवधारणा और आंदोलन, तेज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2014

12. गणेश शंकर शर्मा, आदिवासी विद्रोह, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, प्रथम संस्करण-2005

13. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2017

14.गंगासहाय मीणा (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 2014

15.घनश्याम शाह, भारत में सामाजिक आन्दोलन,रावत पब्लिकेशन, जयपुर, प्रथम संस्करण , प्रथम संस्करण-2009

16. चन्द्रकांत देवताले, रोशनी के मैदान की तरफ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

17. दीपक कुमार केसरवानी, आदिवासी (लोक संस्कृति, साहित्य, कला), विन्ध्य न्यूज नेटवर्क प्राइवेट लिमिटेड (उ.प्र.), प्रथम संस्करण- 2014

18. नदीम हसनैन, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण-2004

19. डॉ. नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

20. डॉ.भीम सिंह, लोक आदिवासी-साहित्य और विमर्श, AUTHORS PRESS, प्रथम संस्करण-2018

21.योगेश अटल, यतीन्द्रसिंह सिसोदिया, आदिवासी भारत,रावत पब्लिकेशन, जयपुर , प्रथम संस्करण-2012

22. रामदयाल मुंडा, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता का सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

23. रामदयाल, मुंडा, आदिधरम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

24. रामशरण जोशी, आदिवासी समाज और शिक्षा,ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004

25.रमेशचंद मीणा (सं.), आदिवासी विमर्श, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण-2013

26. रमणिका गुप्ता, आदिवासी साहित्य यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, प्रथम संस्करण-2008

27. रमणिका गुप्ता (सं), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009

28. रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2013

29. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012

30. रमणिका गुप्ता, शौर्य एवं विद्रोह (आदिवासी), साहित्य उपक्रम, प्रथम संस्करण-2008

31. रमणिका गुप्ता,(संपा.), आदिवासी समाज और साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2016

32. रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी अस्मिता का संकट, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

33. रमणिका गुप्ता, (संपा.), आदिवासी विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

34. रोमिला थापर, आर्य: मिथक और यथार्थ, सफ़दर हाश्मी मेमोरियल ट्रस्ट, नई दिल्ली

35. रूपचंद वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली

36. रसाल सिंह, बन्नाराम मीणा, (संपा.), आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2014

37. लीलाधर मंडलोई, पचास कविताएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011

38. विनोद कुमार, आदिवासी संघर्ष गाथा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005

39. वीरभारत तलवार (सं.), नक्सलबाड़ी के दौर में, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटस प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2007

40. वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य परम्परा और प्रयोजन,प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची ,प्रथम संस्करण-2013

41. वंदना टेटे (संपा.), आदिवासी दर्शन और साहित्य, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015

42.वी.कृष्ण,भीमसिंह, (संपा.), आदिवासी विमर्श, स्वराज प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण,2014

43.सच्चिदानंद सिन्हा,भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, सिन्हा वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

44.श्यामाचरण दुबे, विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2001

45. हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया,नेशनल बुक ट्रष्ट, इंडिया, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2013

46. ज्ञानेद्रपति, भिनसार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2006

3.पत्र-पत्रिकाएँ

1. के. आर.शाह, (सं.) , आदिवासी सत्ता, वर्ष-9, अंक-11, दिसम्बर 2015, छत्तीसगढ़

2. कुमार गौरव, (संपा.), जनकृति अन्तराष्ट्रीय ई पत्रिका, महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

3. कमला प्रसाद (संपा.), प्रगतिशील वसुधा पत्रिका, अंक-85, भोपाल

4. गंगा सहाय मीणा, (सं.), आदिवासी साहित्य (आदिवासी दर्शन और समकालीन साहित्य सृजन त्रैमासिकी पत्रिका), जे.एनयू, नई दिल्ली, वर्ष,2 , अंक: 4-5 , अक्टूम्बर 2015, मार्च 2016

5.डॉ.जनक सिंह मीणा, (सं.), अरावली उद्घोष पत्रिका, जयपुर, राजस्थान आदिवासी साहित्य विमर्श पर केन्द्रित, अंक-99, अप्रैल, 2013

6. प्रो. टी. मोहन सिंह, (सं.), संकल्य(त्रैमासिक), जनजातीय भाषा, साहित्य और संस्कृति विशेषांक, हिंदी अकादमी, हैदराबाद, अंक- अक्तूबर-2010-मार्च-2011

7.बी.पी.वर्मा पथिक, (संस्थापक), अरावली उद्घोष, उदयपुर, राजस्थान, अंक (अक्टू-दिसम्बर 1996, अक्टू.-दिसम्बर 1999, अक्टू.-दिसम्बर 1998, अप्रेल-जून 2000, अप्रेल-जून 2001, जनवरी-मार्च 1997,

8. रमणिका गुप्ता, (सं.), युद्धरत आम आदमी पत्रिका, आदिवासी कविता विशेषांक, रमणिका फाउन्डेशन, नई दिल्ली, अंक -4 जनवरी 2014

9. रमेशचन्द्र मीणा, 'आदिवासी' कविता, युद्धरत आम आदमी, अक्तूबर-दिसम्बर, 2008

10.वंदना टेटे, (सं.), झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखंडा (त्रैमासिक),राँची, झारखण्ड , वर्ष-7 , अंक-2, जून-अगस्त, 2013 , वर्ष 9,अंक-1, मार्च-मई 2015

11.विनोद तिवारी, (संपा.), पक्षधर पत्रिका, जुलाई-दिसम्बर, गाजियाबाद, उतरप्रदेश, 2014

12. डॉ. शिवदान सिंह भदौरिया (संपा.), परिंदे पत्रिका, मार्च-2018, नई दिल्ली

13. शैलेन्द्र चौहान , 'आदिवासी' व 'मिथ' कविता (प्रभात खबर,दीपावली विशेषांक),2008

4. कोश

1. झारखंड इन्साइक्लोपीडिया(खंड-4), संपा.रणेंद्र, सुधीर पाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008
2. नालंदा शब्द सागर, संपा. नवलजी, न्यू इम्पीरियल बुक डिपो, नई दिल्ली, संस्करण-2004
3. मानविकी पारिभाषिक कोश, संपा. डॉ. नगेन्द्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
4. मानक हिन्दी कोश-2, प्रधान संपा.रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग,1966
5. वृहद् हिन्दी कोश : संपा. कालिका प्रसाद, प्रकाशन-ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण-2009
6. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2008
7. हिन्दी विश्वकोश, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा, खंड-1

8. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009

5.वेब-सामग्री

1.हाशिया : साँवला रंग और कवि के मन का हरापन ब्लॉग

2. www.kavitakosh.org

3. http:/www.google.com

4. http:/www.hindisamay.com

5. http:/www.en.wikipedia.org

6. http:/bharatdiscovery.org/india

6. पुस्तकालय

1. इंदिरा गांधी मेमोरियल पुस्तकालय, हैदराबाद विश्वविद्यालय

2. दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी(केन्द्रीय पुस्तकालय), दिल्ली

3. बी.आर. आंबेडकर केन्द्रीय पुस्तकालय, जेएनयू, नई दिल्ली

4. डॉ. राधाकृष्णन राज्य केन्द्रीय पुस्तकालय, राजस्थान सरकार

परिशिष्ट

1. आदिवासी रचनाकारों से लिए गए साक्षात्कार(हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, केदारप्रसाद मीणा)
2. प्रकाशित शोध-आलेख-1
3. प्रकाशित शोध-आलेख-2
4. राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र-1
5. राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र-2

परिशिष्ट

(साक्षात्कार)

{ आदिवासी चिन्तक एवं कवि हरिराम मीणा से शोधार्थी हनुमान सहाय मीणा की बातचीत 10-6-2018 }

ह.स. मीना.-हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श के मायने क्या है ?

हरिराम मीणा- साहित्यिक विमर्शों में आदिवासी हस्तक्षेप सबसे ताज़ा है जिसे मुश्किल से दो दशक होने को है । दरअसल आदिवासी समाज को लेकर आधिकारिक अध्ययनों की एक तरह से कमी रही है। इसमें मुझे दो दृष्टिकोण दिखाई देते हैं, एक, आदिवासी समाज को बाहरी लोगों ने जंगली-बर्बर जैसा कुछ चित्रित किया है । यह दृष्टि हमें ठेठ भारतीय मिथकों के असुर-राक्षस-दैत्य-दानव जैसी संज्ञाओं से लेकर ब्रिटेन हुकूमत के आपराधिक जनजातीय अधिनियम और इस वर्तमान में विकास विरोधी होने का ठप्पा लगाने तक देखी जा सकती है । दूसरा, फैशनपरस्त लोगों ने रोमांटिक नजरिया अपनाया है। सामान्यत: यह कह दिया जाता है कि 'आदिवासी समृद्ध प्रकृति की गोद में मस्ती से नाचता-गाता रहता है । आदिवासी समाज के असल सुख-दुखों तक बहुत कम लोग पहुँच पाए हैं। इस दृष्टि से साहित्य में आदिवासी समाज की यथार्थ अभिव्यक्ति का स्वागत किया जाना चाहिए। ऐसा करना हमारे साहित्य को और अधिक समृद्ध बनाएगा।

ह.मीना - आदिवासी कविता में मौखिक/वाचिक परम्परा किस रूप में विकसित हुई है ?

हरिराम मीणा- आदिवासी समाज की अभिव्यक्ति उसकी मौखिक-वाचिक साहित्यिक परम्परा में हजारों वर्षों प्राचीन है। समकालीन सन्दर्भ में देखा जाये तो खासकर हिंदी साहित्य में आदिवासी कविता का स्वर इसी विमर्श के साथ शुरू हुआ है । मुझे याद है जब रमणिका फाउंडेशन और साहित्य अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में सन् 2002 की पहली जून को दिल्ली में पहला अखिल भारतीय आदिवासी साहित्य सम्मेलन आयोजित किया गया था तब देश भर से दर्ज़नों आदिवासी लेखकों ने भाग लिया था। अनेक आदिवासी कवियों ने अपनी रचनाओं का पाठ किया। तब यह बात सामने आई कि आदिवासी कविता का स्वर मुख्य धारा की कविता से काफी कुछ भिन्न है, जिस पर आलोचकों को ध्यान देना चाहिए ताकि आदिवासी जीवन को कविता के माध्यम से समझा जा सके।

ह.स. मीना - हिन्दी कविता में आदिवासी विमर्श की मुख्य वैचारिकी क्या रही है ?

हरिराम मीणा- कविता की समग्र परम्परा के रूप में जिस तरह से समकाल एवं विश्व दृष्टि दोनों की अभिव्यक्त होती रही है उसी प्रकार से आदिवासी कविता की विषयवस्तु को समझा जा सकता है। आदिवासी जीवन की अनुभव-भूमि से सृजित होने वाली कविता में मनुष्य, मानवेतर प्राणिजगत व प्रकृति तत्वों के मध्य आदिकाल से चले आ रहे सह-अस्तित्व के सम्बन्ध की झलक प्रमुख रूप से मिलती है । आधुनिक विकास और खासकर पूँजीवाद के इस दौर में जिस कदर प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है उससे आदिवासी जीवन शैली को भयंकर खतरा उत्पन्न होने लगा है। इस सबका प्रतिरोध समकालीन आदिवासी कविता की केन्द्रीय वैचारिकी है। सदियों से चला आ रहा वनांचल में स्वच्छंद

जीवन की नष्ट होती जा रही स्मृतियाँ, वर्तमान में विकास के नाम पर हो रहा विस्थापन और अस्तित्व पर मंडराता भावी खतरा आदिवासी कविता का केन्द्रीय स्वर है, जिसे हम आदिवासी और गैर-आदिवासी दोनों किस्म के कवियों में देख सकते हैं। आदिवासी स्त्री की जो त्रासदी निर्मला पुतुल और प्रकृति के नाश के विरोध में जो काव्य-स्वर अनुज लुगुन की रचनाओं में तल्खी के साथ मुखर हुआ है। वैसी ही पीड़ा का स्वर हमें विरूपित होते बस्तर को देखकर चंद्रकांत देवताले अथवा भूख से मरते हुए बच्चे पर सुदीप बनर्जी की कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है।

ह.स.मीना - हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन की विषयवस्तु क्या है?

हरिराम मीणा- मैं यहाँ आदिवासी कविता के कुछ उदाहरणों से अपनी बात को स्पष्ट करना बेहतर समझता हूँ। आदिवासी इलाकों में बाहरी तत्वों की घुसपैठ सबसे बड़ी समस्या रही है। यहीं से आदिवासी जीवन की पवित्रता में प्रदूषण शुरू होता है और अंत में आदिवासी अस्तित्व का संकट। ग्रेस कुजूर की कविता के अंश हैं- 'हे संगी क्यों घूमते हो/झुलाते हुए खाली गुलेल/ क्या तुम्हें अपनी धरती की/सेंधमारी सुनायी नहीं दे रही.....?' आदिवासी स्वभाव से बहुत भोले होते हैं सब तरह से मैल-वंचित। वे नहीं समझ पाते उन चालाकियों को जो उनके विरूद्ध पनपती रही हैं। आदिवासी कविता बाहरी लोगों की साजिशों को पहचानने लगी है। निर्मला पुतुल लिखती हैं- 'इन खतरनाक शहरी जानवरों को पहचानो चुड़का सोरेन/.....तुम्हारे भोलेपन की ओट में/इस पेचदार दुनिया में रहते/ तुम इतने सीधे क्यों हो चुड़का सोरेन?' आज आदिवासी अस्तित्व का संकट गहरा रहा है। आदिवासियों की मूल समस्या अंततः अस्तित्व के संकट की बन चुकी है। ग्रेस कुजूर के यहाँ झारखण्ड है तो भुजंग मेश्राम

के यहाँ महाराष्ट्र में भी अस्तित्व के संकट का वैसा ही दर्द अभिव्यक्त होता दिख रहा है। जिस संकट से आदिवासी गुजर रहा है, उसका कोई निवारण नहीं होता देखकर कवि आदिवासियों के महानायक बिरसा का आह्वान करता है- 'बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा। प्रभात राजस्थान के जाने पहचाने कवि हैं। प्रकृति और आदिवासी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए वे लिखते हैं कि 'क्या प्रकृति की गंध जैसी चीज भी उड़ जायेगी, हमारी धरती से चील की तरह ?'

ह.स.मीना - हिन्दी कविता में आदिवासी व गैर आदिवासी कविता की रचनाशीलता में मुख्य अंतर क्या है ?

हरिराम मीणा- मैं इस मुद्दे पर इतना ही कहना चाहूँगा कि जहाँ तक आदिवासी कविता की विषयवस्तु का प्रश्न है तो काव्याभिव्यक्ति के लिए आदिवासी जीवन का आधिकारिक अनुभव महत्त्वपूर्ण तत्व होगा। अगर गैर आदिवासी के रूप में चंद्रकांत देवताले बस्तर के गहन अनुभव के आधार पर कविता रचते हैं तो उनकी कविता मुझे उतना ही प्रभावित करेगी जितना कि आदिवासी समाज में जन्मी निर्मला पुतुल अथवा अनुज लुगुन की कविताएँ। अगर कोई आदिवासी होकर भी आदिवासी जीवन के प्रति संवेदनशील नहीं है तो उसकी कविता को आदिवासी कविता कैसे कहा जा सकता है? हाँ, एक बात यह है कि भोगा हुआ यथार्थ और देखकर अनुभूत किये गए यथार्थ में अगर कहीं कोई अंतर दृष्टिगत होता है तो उसे रेखांकित किया जाना चाहिए। जहाँ तक रचना के शिल्प का सवाल है तो आदिवासी और गैर-आदिवासी कवियों की आदिवासी जीवन पर लिखी गयी कविताओं में भाषिक मुहावरे का फर्क अवश्य नज़र आएगा।

ह.स.मीना - हिन्दी जगत में आदिवासी कविता की शुरुआत आप कहाँ से मानते है?

हरिराम मीणा- आदिवासी कविता की मौखिक परम्परा तो उतनी ही प्राचीन है जितना मानव की कविताई। मैं यहाँ आदिवासी भाषाओं की मौलिक रचनाओं की बात नहीं कर रहा हूँ। जब हम समकालीन आदिवासी कविता पर चर्चा करते हैं तो सीधे हिन्दी में अथवा आदिवासी भाषाओं से अनूदित होकर जो कविता हमारे सामने आती हैं उन्हें हम विगत दो दशक की अवधि में देख सकते हैं। रामदयाल मुंडा, रोज केरकेट्टा, हरिराम मीणा, वाहरू सोनवणे, भुजंग मेश्राम, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, प्रभात, और सबसे ताज़ा स्वर अनुज लुगुन का।

ह.स.मीना - आपने अपने कविता लेखन में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति के सवाल को किस रूप में अभिव्यक्त किया है ?

हरिराम मीणा- वैसे स्वयं की रचनाओं को लेकर कुछ भी कहा जाना आत्म-केन्द्रित होगा। आप पूछ ही रहे हैं तो बड़ी झिझक के साथ मैं इस सवाल का ज़वाब देने का प्रयास कर रहा हूँ। मैंने आदिवासी जीवन को लेकर जो कुछ भी लिखा है उसका अधिकांश मेरी उन यात्राओं पर आधारित है जो मैंने आदिवासी क्षेत्रों में जाकर संपन्न की है और आदिवासी जीवन को निकट से देखने व महसूस करने का यत्न किया है। इस प्रक्रिया में मैंने पूर्वोत्तर के सिक्किम से लेकर पश्चिमी बंगाल, ओड़िशा, बिहार, झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, हिमाचल, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, तेलंगाना, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु व अंडमान द्वीप समूह तक की यात्रायें की हैं। इन्हीं पर केन्द्रित मेरे तीन यात्रावृतांत प्रकाशित हैं। भ्रमण की इस प्रक्रिया के दौरान जहाँ जब भी मेरा मन कविता में रमता रहा, मैंने कवितायें लिखीं। मुझे यह अनुभव हुआ

कि भारत का कोई भी आदिवासी समुदाय किसी भी अंचल में निवास कर रहा है, प्रकृति से उसका निकट का वास्ता रहा है। सामूहिकता व सहजता जैसी प्रवृत्ति के साथ निजता, व्यावसायिकता, चालाकियों की मानसिकता का अभाव जैसे गुण नज़र आये हैं। अंडमान के आदिवासी तो अभी भी ठेठ आदिम दशा में जीवन जी रहे हैं। सबसे बड़ी समस्या यह है कि आधुनिक विकास से उन्हें कैसे जोड़ा जाए? बहुत सारी चुनौतियाँ आज आदिवासी समाज के सामने हैं, जिन्हें साहित्य का विषय बनाया जाना चाहिए ताकि हम साहित्य को आदिवासी जीवन का दर्पण बनाते हुए गलत का प्रतिरोध और सुखद परिवर्तन हेतु जागृति उत्पन्न कर सकें।

ह.स.मीना - वर्तमान समय में आदिवासी साहित्य के सामने मुख्य चुनौतियाँ क्या रही है?

हरिराम मीणा- भारत का आदिवासी समाज अलग थलग भौगोलिक अंचलों में बिखरा हुआ है । अधिकांश साहित्य मौखिक-वाचिक परम्परा में समाहित है, जिसका संकलन-संपादन एक बड़ा काम है जिसे करना चाहिए, अन्यथा यह धरोहर विलुप्त होती जाएगी। दूसरे, आदिवासी साहित्य हमें आँचलिक आदिम भाषाओं में रचित है। उस साहित्य के खासकर हिंदी में अनुवाद की दूसरी बड़ी चुनौती हमारे सामने है। तीसरी बात यह कि आदिवासी के नाम पर जो कुछ भी लिख अथवा बोल दिया गया । उसकी परख की आवश्यकता है ताकि आधिकारिक अनुभव पर आधारित रचनाओं को ही इसमें शामिल किया जा सके। इसके बगैर अनेक तरह की भ्रान्तिया पैदा होने का खतरा बना रहेगा। सर्वोपरि चुनौती यह है कि आदिवासी

साहित्य की समीक्षा की जानी चाहिए। इसके लिए भी आदिवासी जीवन की परख आवश्यक है ताकि आदिवासी साहित्य को ढंग से समझा जा सके।

ह.स.मीना - भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी कविता का परिदृश्य किस रूप में बदला है?

हरिराम मीणा- भूमंडलीकरण का सबसे अधिक दबाव आदिवासी समाज पर पड़ता जा रहा है। प्राकृतिक सम्पदा का जितना दोहन हो रहा है वह करीब सारा का सारा आदिवासी इलाकों में है। आदिवासी समाज के जीवनयापन के परम्परागत साधन छीनते जा रहे हैं। विकास के नाम पर विस्थापन की त्रासदी को सर्वाधिक आदिवासी समाज ही भोग रहा है। उसके अस्तित्व को गहरा संकट उत्पन्न होता जा रहा है। यह सबकुछ आदिवासी कविता में अभिव्यक्त हो रहा है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

ह.स. मीना – हिंदी कविता में आदिवासी स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति कैसे हुई है?

हरिराम मीणा- बिना किसी विश्लेषण के आदिवासी कविता में ही आदिवासी स्त्री का स्वर सुनिए। निर्मला पुतुल कहती है- 'ये वो लोग हैं जो हमारे बिस्तर पर करते हैं हमारी बस्ती का बलात्कार / और हमारी ही जमीन पर खड़ा हो पूछते हमारी औकात। विकास के नाम पर जिस कदर झारखंड को लूट का अखाड़ा बना रखा है उससे परेशान है वहाँ की स्त्री। मंजू ज्योत्सना की कविता में यह हकीकत अभिव्यक्त होती है-'मुझे झारखंड मत ले जाना बन्धु। लखनलाल पाल के यहाँ आदिवासी स्त्री उसके शराबी पति से दुखी है जो 'सांझ को हडिया में लिप्त पुरुष चीथता मांस।'

आदिवासी स्त्री की सबसे बड़ी त्रासदी है रोजगार के लिए विस्थापन और भटकाव। अशोकसिंह की कविता इस व्यथा का उदाहरण है- 'संताल परगना के दुखी है / कि यहाँ के जंगल उजड़ते जा रहे हैं / गायब होते जा रहे हैं यहाँ के पहाड़ / गायब होती जा रही हैं यहाँ की पहाड़ी लड़कियां।'

ह.स.मीना - आदिवासी भाषाओं के अस्मिता के संकट पर आपके क्या विचार है ?

हरिराम मीणा- आदिवासी भाषा के अस्तित्व का सवाल आदिवासी संस्कृति व परम्परा से जुड़ा हुआ है। तथाकथित विकास या कहे बाहरी दबाव के चलते आदिम जीवन शैली में परिवर्तन अवश्यम्भावी है जिसका प्रभाव संस्कृति व परम्परा व अन्ततः भाषाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। आदिवासी भाषाओं का संरक्षण तभी सम्भव होगा जब आदिवासी संस्कृति व परम्परा पर गर्व किया जाये और आदिवासी समाज में जो भी ज्ञान का परम्परागत संचयन है उसे आदिवासी भाषाओं में लिपिबद्ध कर संकलित किया जाये। यूनेस्को की वर्ष 2009 की रिपोर्ट में विश्व की कुल 6000 भाषाओं में से गत 75 वर्षो में 200 भाषाओं के लुप्त हो जाने का तथ्य उजागर हुआ है। साथ ही 2500 भाषाओं को खतरे में बताया गया है। इनमें से 196 भाषाएँ भारत की हैं जिनमें अधिकांश आदिवासी भाषाएँ हैं। आदिवासी भाषाओं के लुप्त होने का प्रमुख कारण आदिवासी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाना है. दूसरा प्रमुख कारण लिपियों का अभाव है। उदाहरणार्थ संथाली भाषा आँचलिक लिपियों को अपनाती है जो दूसरी भाषाओं से सम्बन्धित है। अर्थात् बंगाल में बांग्ला, उड़ीसा में उड़िया, धर्मान्तरित संथालों में अंग्रेजी तथा बिहार, झारखण्ड में देवनागरी। डेविट क्रिस्टल' एक शब्द की मृत्यु को एक व्यक्ति की मौत के समान मानते थे। अंग्रेज

कवि ऑडेन बोली के शब्दों को इरादतन अपनी कविता में शामिल करते थे कि कहीं वे शब्द मर न जायें। महाकवि टी.एस. इलियट प्राचीन शब्द जो शब्दकोष में निश्चेष्ट पड़े शब्दों को उठाकर समकालीन बनाते थे।

ह.स.मीना - भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी समाज के विकास और संस्कृति संरक्षण के लिए आदिवासियों का कितना स्थान है?

हरिराम मीणा- भूमंडलीकरण के सन्दर्भ में जब हम आदिवासी समाज के विकास और संस्कृति के संरक्षण की बात करेंगे तो पूँजीवादी राष्ट्रों की अगुवाई में विस्तारित सांस्कृतिक साम्राज्यवाद से आँचलिक संस्कृतियों के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न होगा। सांस्कृतिक वर्चस्ववाद ने अतीत में भी आँचलिक संस्कृतियों को लीलते रहने की भूमिका निभाई है। लेकिन किसी न किसी रूप में आँचलिक संस्कृतियों ने अपनी पृथक स्वायत्तता एवं प्रतिरोध के बल पर अपनी अस्मिता को कमोबेश बचाये रखा। वैश्वीकरण के दौर में भौतिक व तकनीकी स्तर पर विकसित राष्ट्रों तथा पूँजी की ताकत के आधार पर उनके वर्चस्व-विस्तार की सम्भावनाओं के आगे कम विकसित व विकासशील राष्ट्र-समाजों तथा विश्व की अन्य आँचलिक संस्कृतियों के लिए खतरा पैदा किया है। इस खतरे के विरूद्ध मोर्चाबन्दी भी आसान नहीं होगी। पूँजी संचालित वैश्विक वर्चस्ववादी संस्कृति एकजुट है एवं कम विकसित व विकासशील राष्ट्र-समाजों तथा विश्व की अन्य आँचलिक संस्कृतियों से सम्बन्ध रखने वाले मानव समुदायों के बीच कोई भी सामंजस्य नहीं है जिससे कि वे एकजुट होकर वर्चस्ववाद या नवसांस्कृतिक साम्राज्यवाद का सामना कर सके। आँचलिक संस्कृतियों की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावित होने वाला समाज आदिवासी लोगों का है।

विकास के नाम पर जिस कदर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा रहा है उससे आदिवासी समाज के अस्तित्व को भयंकर खतरा पैदा होता जा रहा हैं। उसकी भौगोलिकता, संस्कृति, स्वायत्तता, परम्परा व अतीत, जीवन-शैली, सामाजिक संरचना एवं मूल्यों पर विकट संकट आ गया है। वैश्वीकरण की प्रवृत्तियों में बाजार, व्यापार, पूँजी, संचार, मीडिया, तकनीकी व विज्ञान है और इन प्रवृत्तियों से आदिवासी समाज अनभिज्ञ है। इन माध्यमों से होने वाले जिस विकास का ढोल पीटा जा रहा है उससे आदिवासी समाज का भला नहीं होने वाला है। कुल मिलाकर भूमंडलीकरण आदिवासियों के लिए बहुआयामी आक्रमण के रूप में सामने आ रहा है जो इनके अस्तित्व के ठोस धरातल को नष्ट कर रहा है।

(साक्षात्कार-2)

(शोधार्थी हनुमान सहाय मीना की आदिवासी वरिष्ठ कवि एवं चिंतक महादेव टोप्पो से बातचीत 13-7-2018)

ह.मीना- हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श के मायने क्या है ?

महादेव टोप्पो- हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श एक नई विमर्श परंपरा है। आदिवासी समुदाय व जीवन से संबधित मुद्दों, समस्याओं को जिस लेखन-कर्म में आदिवासी नजरिये से समझने का प्रयास किया जा रहा हो वही आदिवासी विमर्श है। अगर आदिवासी जीवन-मूल्यों से यह अलग है तो इसे आदिवासी विमर्श नहीं मानेंगे। आदिवासी समाज की समस्याएँ व जीवन, परिवेश सभ्य समाज से अलग हैं। अतः साहित्य में इनका चित्रण भी कुछ अलग तरीके से होगा। क्योंकि धरती, प्रकृति,

मनुष्य व जीव जंतुओं के प्रति आदिवासियों का नजरिया हमेशा लाभ देखने का नहीं है। अतः स्वाभाविक है कि यह सभ्य समाज से अलग दृष्टिकोण रखता है।

ह.स. मीना- आदिवासी कविता की परम्परा किस रूप में विकसित हुई है ?

महादेव टोप्पो- आरंभ में आदिवासी कविता मुख्यतः विकास के सवाल पर केन्द्रित लगता था। इसे आदिवासी पर शोषण, अत्याचार के प्रतिरोध में उपजा साहित्य माना गया। लेकिन अब यह मनुष्य को समझने के लिए एक संभावनाशील विचारधारा में उभरता दिख रहा है। जहाँ आदिवासी साहित्य,मनुष्य, प्रकृति व धरती को बचाने के लिए भी चिन्तित दिख रहा है। यह अनेक आदिवासी कवियों के कविताओं में उभर कर आ रही है।

ह.स. मीना- हिन्दी आदिवासी कविता में आदिवासी विमर्श की मुख्य वैचारिकी क्या रही है ?

महादेव टोप्पो- आदिवासी कविता मनुष्य के विनाशकारी विकास, आत्मघाती लालसा, प्रकृति को लाभकारी वस्तु के रुप में देखने से सावधान करती हुई भी दिख रही है। आज मुख्यधारा के कवि भी इस तरह की कविताएँ लिखने लगे हैं तो इसकी शुरूआत दरअसल आदिवासी कविता या साहित्य ही है।

ह.स. मीना- हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन की विषयवस्तु क्या है?

महादेव टोप्पो- हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन की परेशानियाँ, जद्दोजहद, संघर्ष, उपेक्षित, शोषित, पीड़ित, अपमानित होने का दंश, आत्मसम्मान की खोज, इतिहास में उपेक्षित रहने का दर्द, लोकतंत्र में अपने अधिकार व अस्तित्व आदि की तलाश,

आदिवासी जीवन-मूल्यों की पहचान व व्याख्याओं का वर्णन मिलता है । इससे लगता है कि आदिवासी रचनाकार आदिवासी जीवन की समृद्ध मूल्यों जैसे सामूहिकता, प्रकृति से उतना ही लेना जितना जरुरत है, आस-पास के परिवेश वनस्पति-जीव-जंतुओं का सम्मान आदि कुछ ऐसे दृष्टिकोण हैं जो इनकी रचनाओं की विषयवस्तु हैं।

ह.स.मीना- हिन्दी कविता में आदिवासी व गैर आदिवासी कविता की रचनाशीलता में मुख्य अंतर क्या है ?

महादेव टोप्पो- आदिवासी कविता ने उपेक्षित मनुष्य के सम्मान की तलाश के साथ प्रकृति, धरती के सम्मान का भी सवाल उठाया । जबकि गैर-आदिवासी कविता में अधिकांश समय में मनुष्य के बेहतरी के सवाल ही उठाए गए। आदिवासी प्रकृति से जुड़ा रहता है और वह सामूहिक जीवन जीता है । अतः आदिवासी कविता में ये सवाल प्रखरता के साथ उठाए जा रहे हैं। इस तरह मनुष्य द्वारा इस धरती में जीने के लिए महत्त्वपूर्ण किंतु अब तक उपेक्षित मुद्दों व सवालों को आदिवासी कविता ने केन्द्र में लाने का महती कार्य किया है। आदिवासी मनुष्य ही नहीं धरती व प्रकृति के सम्मान की बात अपनी रचनाओं में करता दिखता है।

ह.स.मीना. हिन्दी जगत में आदिवासी कविता की शुरुआत आप कहाँ से मानते है ?

झारखंड में 1930 के आस पास आदिवासियों का लेखन कार्य आरंभ हो गया था और वे कुछ समाचार पत्र आदि प्रकाशित करने लगे थे । उस समय आदिवासी महासभा के कार्यक्रमों में आदिवासियों को जगाने के लिए इक्का-दुक्का जागरण-

गीत आदिवासी भाषाओं में गाए जाने लगे थे । इस प्रकार की रचनाएँ झारखंड आंदोलन में गाए जाते थे। लेकिन 1970 के बाद जब महाराष्ट्र में दलित आंदोलन उभरा तो कुछ आदिवासी, इन आंदोलनों में शरीक हुए और उन्होंने अनुभव किया कि कहीं पर उनकी बातें उपेक्षित हो रहीं हैं तो उन्होंने इन मुद्दों को उठाने के लिए अलग संगठन बनाया और 1983-84 के लगभग महाराष्ट्र में आदिवासी रचनाकारों के सम्मेलन होने आरंभ हुए, जिसका अन्य राज्यों के बुद्धिजीवियों पर असर पड़ा। लेकिन इसके पूर्व 1981 में राँची में क्षेत्रीय एवं जनजातीय भाषा विभाग भी डॉ. रामदयाल मुण्डा के नेतृत्व में काम करना आरंभ कर चुका था। इस तरह 1980 के बाद ऐसा माहौल बन चुका था जो आदिवासी साहित्य सृजन के लिए उत्प्रेरक का काम कर रहा था।

ह.स. मीना- आपने अपने कविता लेखन में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति के सवाल को किस रूप में अभिव्यक्त किया है ?

महादेव टोप्पो- बचपन में पढ़ा था साहित्य समाज का दर्पण होता है। हिन्दी साहित्य पढ़ना आरंभ किया तो वहाँ अपना आदिवासी-समाज गायब देखा या उनकी आधी-अधूरी जानकारी से लिखे कुछ रिपोर्ताज पढ़े तो दुःख हुआ और इसी दुःख व सवाल ने मुझे आदिवासियों के बारे में लिखने और सोचने के लिए विवश भी किया प्रेरित भी किया। ऐसा लगता है मैंने अपनी कविताओं में आदिवासियों की हर तरह की तकलीफों, अपमान, दंश, उपेक्षा, शोषण, सभ्य समाज द्वारा आदिवासियों को देखने के अनुभवों के साथ -साथ विकास, इतिहास आदि के मुद्दों पर आदिवासियों की तकलीफों व नजरिये को रखने का प्रयास किया है। यह सब मेरे संग्रह "जंगल पहाड़

के पाठ'' संग्रह में देख, महसूस कर सकते हैं। आपको बताते खुशी हो रही है कि इस संग्रह का अनुवाद संताली एवं मराठी में हो चुका है और अब मलयालम में अनुवाद की प्रक्रिया चल रही है। तो इस तरह लगता है हमने कहीं पर सही सवाल व मुद्दे खड़े किए।

ह.स.मीना- हिंदी कविता लेखन में दलित स्त्री और आदिवासी स्त्री किस रूप में व्यक्त हुई है?

महादेव टोप्पो- सच कहा जाय तो पुरूषों से ज्यादा महिलाएं लेखन में सक्रिय दिखती हैं और इन्होंने स्त्री के सवालों को व्यापक संदर्भों में देखने का प्रयास किया है. यह सराहनीय है।

ह.स.मीना- वर्तमान समय में आदिवासी साहित्य के सामने मुख्य चुनौतियाँ क्या है?

महादेव टोप्पो- ज्यादा से ज्यादा साहित्य रचना, हालाँकि आदिवासी-भाषाओं में बहुत कुछ लिखा जा रहा है- संताली, बोड़ो, खासी, नगा, मिजो, गोंडी, उराँव, मुण्डा, खड़िया में भी काफी कुछ लिखा जा रहा है लेकिन हिन्दी में उतनी मात्रा में नहीं। झारखंड में तीन आदिवासी लेखकों ने अंग्रेजी में भी लिखा और चर्चित भी हुए हैं। लेकिन हिन्दी में जितना आदिवासी साहित्य की चर्चा है उतना लेखन कम है। हालांकि कविता काफी लिखी जा रहीं हैं लेकिन उपन्यास, नाटक गिने चुने हैं। यह चिन्ता का विषय है। अभी तो यही बड़ी चिंता है कि हमारे आदिवासी लेखक उपन्यास, नाटक भी हिन्दी में लिखें, प्रकाशन की भी समस्या है। दूर दराज के आदिवासी लेखकों को प्रकाशन में काफी कठिनाई होती है।

ह.स.मीना- भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी कविता का परिदृश्य किस रूप में बदला है?

महादेव टोप्पो- आज जो आदिवासी कविता उभरी है दरअसल यह भूमंडलीकरण की ही उपज है।

ह.स.मीना- हिंदी कविता में आदिवासी स्त्री कैसे अभिव्यक्त हुई है?

महादेव टोप्पो- आदिवासी स्त्री की हर तरह की पीड़ा के अलावा उनके आत्मसम्मान की बात भी कविताओं में सशक्त ढंग से उभरी है। निर्मला पुतुल के अलावा जसिन्ता केरकेट्टा की कविताओं में भी हम यह अच्छी तरह देख महसूस कर सकते हैं।

ह.स.मीना- आदिवासी भाषाओं के अस्मिता के संकट पर आपके क्या विचार है ?

महादेव टोप्पो- आदिवासी भाषाओं पर संकट ही संकट हैं। आधुनिकता और कैरियर उन्मुख नई पीढ़ी को अपनी भाषाओं से कैरियर बनता नहीं दिखता फलतः वह तेजी से हिन्दी, अंग्रेजी या अन्य विकसित भारतीय भाषा अपना रही है। बुजुर्ग पीढ़ी ने उन्हें अपनी भाषाओं को बचाने के लिए प्रेरित नहीं किया तो भाषा के साथ आदिवासी पारंपरिक ज्ञान, अनुभव व अन्य जानकारियाँ भी इन भाषाओं के साथ लुप्त हो जाएंगी जो समस्त मानव समाज के लिए नुकसानदायक होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था ने इसे गंभीरता से समझ लिया है शायद इसीलिए अंतरराष्ट्रीय आदिवासी वर्ष मनाने की शुरूआत की है। आशा है भारत में भी आदिवासी भाषाओं के संरक्षण, संवर्द्धन के लिए इससे अनुकूल वातावरण बनेगा।

ह.स.मीना- भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी समाज के विकास और संस्कृति-संरक्षण के लिए आदिवासियों का कितना स्थान है?

महादेव टोप्पो- भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासियों का विनाश ही विनाश है। लेकिन विश्व भर के आदिवासियों की प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने विकास के सवालों को लगातार घेरे में ला खड़ा किया और इसे धरती, प्रकृति और मनुष्य के संतुलित विकास के सवाल से इसे जोड़ा। इसी का नतीजा है कि न्यूजीलैंड में एक नदी को इन्सान का दर्जा देने के आदिवासियों के 160 साल पुराने माँग को मान लिया गया। भारत ने इसका अनुकरण किया। भारत में भी आदिवासी जल, जंगल, जमीन के सवाल उठाते रहे हैं। लेकिन अब जमीर व जबान के संरक्षण की बात भी उठने लगे हैं और उनके द्वारा उठाये सवाल व मुद्दे विश्व समुदाय के लिए लाभकारी हैं इसलिए आज विश्व समुदाय आदिवासी-जीवन-दर्शन को लगातार समझने का प्रयास कर रहा है। तो इस तरह हम कह सकते हैं कि भूमंडलीकरण के खतरों से सावधान करने और इसके लिए नया रास्ता दिखाने के लिए प्रेरक वातावरण बनाने का काम आदिवासियों ने ही अपने साहित्य के माध्यम से किया है।

(साक्षात्कार-3)

(युवा आलोचक एवं रचनाकार केदारप्रसाद मीणा से शोधार्थी हनुमान सहाय मीना की बातचीत, 08-06-2018)

ह.स.मीना - साहित्य में आदिवासी विमर्श के बारे में आपका क्या दृष्टिकोण है?

के.प्र.मीणा- साहित्य में आदिवासी विमर्श जो है ये ऐसे हैं जैसे कि समाज में कोई नया तरीके का सामाजिक आन्दोलन हो। यह आदिवासी विमर्श कहने में हम इसको विमर्श (डिस्कोर्स) कहते हैं। असल में यह एक साहित्यिक आन्दोलन है। लेकिन आन्दोलन शब्द की बहुत सारी सीमाएं होती है और जिस तरह से समाज में और राजनीति में आन्दोलन होते हैं। उस रूप में इसे हम सीधे-सीधे आन्दोलन नहीं कह सकते । 'विमर्श' में 'आन्दोलन' शब्द कहने से एक तरह से अर्थ संकोच हो जाता है। जैसे कि आन्दोलन का अर्थ सामान्यत: लोग यह लगा लेते हैं जैसे कि- लोगों का सड़कों पर आ जाना , किसी प्रकार की व्यवस्था के खिलाफ बोलना । लेकिन साहित्यिक आन्दोलन की प्रकृति दूसरे किस्म की होती है। साहित्यिक आन्दोलन को इस रूप में कह सकते हैं कि साहित्य की प्रचलित धारणाएँ होती है जो उसकी एक परम्परा में बनी होती है। जबकि आदिवासी विमर्श ऐसा नहीं है कि केवल हिन्दी साहित्य में ही है, बल्कि दुनिया भर की दूसरी भाषाओं में भी है। आप इसको अफ्रीका में भी देख सकते हैं, आप इसको अमरीका में भी देख सकते हैं , वहाँ नीग्रो साहित्य या ब्लैक लिटरेचर के रूप में हम जानते हैं। भारत में इसको हम आदिवासी विमर्श कहते हैं , हिन्दी में विशेषकर आदिवासी विमर्श हम कहते हैं। यह जो आदिवासी विमर्श है यह हिन्दी साहित्य में और भारतीय साहित्य में एक नई चौकाने वाली चीज है । लेकिन आदिवासी विमर्श दलित विमर्श से भी अलग हटकर है, हालाँकि इन दोनों के उद्देश्य वैसे ही है जैसे समतामूलक समाज के हो। मगर आदिवासी विमर्श इन सबमें यानी पूरे साहित्यिक विमर्श में एक नई चेतना की चीज है, एक नई किस्म की चीज है। यह उन लोगों का विमर्श है जो बुनियादी तौर पर इस मुख्यधारा के समाज से ही सदियों से दूर

रहे हैं। मुख्यधारा का समाज आदिवासियों के बारे में या तो जानता नहीं , अगर कुछ जानता भी है तो वह गलत जानता है। इस आदिवासी विमर्श का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इसने साहित्य के अन्दर उन लोगों के बारें में सही परिप्रेक्ष्य से जानकारियाँ रखी है। आदिवासी विमर्श के आने से यह जानकारियाँ भी अपने आप बहुत नयी, रोचक और महत्त्वपूर्ण है। प्राथमिक तौर पर आदिवासी विमर्श ने साहित्य की दुनिया में आकर मुख्यधारा के पूरे विमर्श को सही किया है कि आपकी जानकारियाँ आदिवासी समाज के बारे में गलत है , तथ्यात्मक रूप से गलत है। प्राथमिक तौर की जानकारियों ने आदिवासी विमर्श के साहित्य को बदल के रख दिया। इस पूरे साहित्य के अंदर ऐसी भूमिका अदा की कि आज कहीं भी हाशिये के समाज पर अगर बात हो रही हो, कोई महत्त्वपूर्ण नए विमर्शों के बारे में कहीं पर बात हो रही हो तो आदिवासी विमर्श पर बात किये बगैर पूरी बातचीत अधूरी है।

ह.स.मीना- आदिवासियों में शिक्षा की परम्परा किस रूप में रही है ?

के.प्र.मीणा- सामान्यतया लोग यही मानते हैं कि आदिवासी पढ़े-लिखे नहीं हैं। मुख्यधारा का समाज आदिवासियों को पढ़ा-लिखा नहीं मानता क्योंकि उनमें पढ़ने-लिखने की कोई परम्परा ही नहीं रही है। लेकिन जब आप आदिवासी विमर्श को पढ़ते है, आदिवासी साहित्य को पढ़ते है, जिसमें इतिहास, समाज की गहन जानकारियाँ आप जानना शुरू करते हैं। तब आपको पता चलता है कि आदिवासियों में शिक्षा की परम्परा किस रूप में रही है ? लेकिन आप उसको तब समझ पायेंगे, जब आपके पास उसको समझने की एक दृष्टि हो। यदि आपके पास दृष्टि नहीं है तो तथ्यात्मक रूप से उनकी व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि आपके पास आदिवासी दृष्टि नहीं है।

आदिवासी दृष्टि रहेगी तो आप आदिवासी समाज, संस्कृति और उनके अध्ययन की परम्परा को समझ पायेगे। मैं आपको एक उदाहरण के माध्यम से समझाना चाहूँगा कि आदिवासियों की शिक्षा की परम्परा कैसी रही ? हर समाज की एक शिक्षा की परम्परा होती है। आज से हजारों सालों की परम्परा को जानेंगे तो वहाँ भी आपको उनकी नई पीढ़ी को पढ़ाने-लिखाने , समाज के रीति-रिवाज, संस्कार , संस्कृति इन सबको सिखाने की एक अलग परम्परा रही हैं। भारत में एक संस्था है जिसको मुख्यधारा का समाज जानता हैं लेकिन काफी गलत जानता है। घोटुल एक संस्था है , घोटुल जैसी बहुत सारी संस्थाएँ और भी है । आदिवासी दरअसल किसी विधिवत स्कूल के माध्यम से शिक्षा नहीं लेते हैं , जैसे कि हम लोग लेते हैं। आदिवासी के यहाँ इस तरह की अध्ययन की पद्धति नहीं रही है । उनके यहाँ सामाजिक संस्थाएँ रही और उन सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से ही अपने आने वाली पीढ़ी को अपने समाज के रीति-रिवाज और संस्कार सिखाये जाते हैं । उन्होंने अपने ज्ञान को इसी तरह की संस्थाओं के माध्यम से एक पीढ़ी से अगली पीढ़ियों में स्थानान्तरित किया है। और इस ज्ञान को सहेजने के लिए या बनाए रखने के लिए उन्होंने व्यावहारिक पद्धतियों को अपनाया। जैसे कि आर्यों की और हिन्दू समाज की परम्परा को देखते हैं तो उसमें आप देखते है जैसे वेद,स्मृतियाँ , पुराण, आदि को इन्होंने अपनी अगली पीढ़ी को देने के लिए उन्होंने सबको इन दोहों को रटाया, आश्रमों में शिक्षा पद्धति में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में ज्ञान को स्थानांतरित किया। संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी को संस्कारों रीति-रिवाजों का अध्ययन करवाया। घोटुल उनमें एक प्रचलित संस्था है, इसमें विवाह से पूर्व युवक-युवतियाँ घोटुल में रहेंगे रात में वही

सोंयेगे और उनके नाच-गान के रीति-रिवाजों को व्यवहार में अपनाते हैं । लेकिन मुख्यधारा के समाज ने घोटुल के बारें में गलत धारणा विकसित की गई कि घोटुल जो हैं यौन क्रीड़ाओं का स्थल है, जहाँ युवक-युवतियाँ उन्मुक्त यौन सम्बन्ध बनाते हैं, उन पर कोई अनुशासन नहीं है, लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। आदिवासियों के जो संस्थान है उनमें घोटुल प्रमुख है , घोटुल के कई नाम थे जैसे एक जगह गोंडों में 'घोटुल' कहा जाता है, उरांव में 'गीतिओड़ा' कहा जाता है और इसके कई-कई नाम हैं। पूर्वोत्तर भारत में कई तरह के घोटुल रहे हैं जिनमें युवाओं के अलग, युवतियों के अलग और कई जगह युवक-युवतियों के समान ही होते थे। 'घोटुल' शब्द प्रचलित हैं यह गोंडी भाषा का है और गोंड़ आदिवासियों का है । कुछ दूसरे समुदाय के इसे घोटुल ही कहते हैं। इस तरह की संस्थाएँ आदिवासियों में हर जगह रही हैं। जिसके माध्यम से उन्होंने अपने आने वाली पीढ़ी को अपने समाज के रीति-रिवाज, संस्कार और संस्कृति इन सबको सिखाया है । दूसरा मौखिक ज्ञान लोककथाओं के माध्यम से और लोकगीतों के माध्यम से उन्होंने अपने आने वाली पीढ़ियों को दिया है । आदिवासियों के यहाँ लिपि का आविष्कार बहुत बाद में हुआ वो भी चुनिंदा भाषा में हुआ, जैसे संथाली में पं. रघुनाथ मुर्मू ने ओलचिकी की लिपि का आविष्कार किया। आदिवासियों में अध्ययन की परम्परा मौखिक ही रही हैं और इनकी सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से रही है।

ह.स.मीना- वर्तमान समय में आदिवासी लेखन की दशा और दिशा के बारें में आपकी क्या राय है ?

के.प्र.मीणा – यदि हम आदिवासी लेखन की बात करें तो इस समय बहुत सारा लेखन गैर-आदिवासियों के द्वारा हो रहा है। लेकिन साथ ही साथ बहुत सारे आदिवासी लेखक देखने को मिले हैं जैसे कि राजस्थान, मध्यप्रदेश से लेकर झारखण्ड तक और दूसरी तरफ पूर्वोत्तर भारत में जो आदिवासी लेखक है वे भी लेखन कार्य कर रहे हैं। जैसे राजस्थान में हरिराम मीणा, विजयसिंह मीणा हैं और भी कई पुराने लेखक इसमें सक्रिय है। झारखंड में आप देखे तो महादेव टोप्पो , निर्मला पुतुल , अनुज लुगुन बहुत सारे लेखक हैं जिंनकी एक लंबी सूची तैयार हो सकती है। महाराष्ट्र में वाहरू सोनवणे, भुजंग मेश्राम लेखन कार्य कर रहे हैं जिनमें महाराष्ट्र में हिन्दी कविता में वाहरू सोनवणे का बड़ा नाम है। गैर-आदिवासी, आदिवासियों पर जो लेखन कार्य कर रहे हैं उसमें में भी दो चीजें देखने को मिलती है एक वे लेखक जो हाल ही में लिखना शुरू किये हैं। एक वो है जो आदिवासी विमर्श के चर्चा में आने से पहले आदिवासियों के बारें में लिख रहे हैं। गैर-आदिवासी लेखकों में विनोद कुमार शुक्ल , ज्ञानेंद्रपति, चन्द्रकांत देवताले ये इस तरह के कवि है, जो आदिवासी विमर्श से परिचित नहीं रहे। लेकिन इन्होंने बिना किसी आदिवासी विमर्श के आदिवासियों के बारे में साहित्य लिखा। एक मुख्यधारा का समाज आदिवासियों को सहानुभूति की दृष्टि में रखकर साहित्य लिख रहा है। इन लोगों का जो लेखन है उनमें आदिवासी के बारें में सहानुभूतिपूर्ण तो लिखा गया है। लेकिन उस सहानुभूति के भीतर बहुत सारी चीजें अज्ञानता से भरी हुई है। आदिवासी कैसे सोचते हैं, कैसे जीते हैं, संस्कृति क्या है, दर्शन क्या है उनके जीने के तौर-तरीके क्या हैं, वे किस तरह से गैर-आदिवासी समाज को देखते हैं ये सारी चीजें आपको उनमें देखने को नहीं मिलेगी और उसमें केवल

आपको सहानुभूति ही मिलेगी और आपको यह देखने को मिलेगा कि आदिवासी कितने गरीब हैं , आर्थिक विपन्नता कितनी है ? पढ़े-लिखे नहीं हैं इस दृष्टि से उनको देखा गया है। इन सारी चीजों का महत्त्व है हम इनको नकार नहीं सकते , मगर इनकी सीमाएं भी है । अगर मुख्यधारा के इन कवियों के द्वारा गैर-आदिवासी कवियों के द्वारा लिखा हुआ साहित्य उस दृष्टि से नहीं लिखा होता तो शायद साहित्य में आदिवासी विमर्श चीज ही नहीं हो पाती। क्योंकि आदिवासियों के अपने भीतर के सवाल थे वे सवाल सामने नहीं आ पाये और उन्हीं सवालों को सामने रखने के लिए आदिवासी विमर्श जैसी चीज पैदा हुई है। दूसरी तरफ खुद आदिवासी द्वारा लिखा हुआ लेखन है , अब खुद आदिवासी द्वारा जो लिखा हुआ है उसमें भी कई चीजे देखने को मिलती है। एक वे आदिवासी लोग हैं जो मुख्यधारा के समाज से अभी भी बहुत दूर हैं और उनकी धार्मिक पहचान अभी भी बिलकुल अलग है । वे हिन्दू समाज से इतर अपनी सामाजिक पहचान रखते हैं और अलग धार्मिक कोड की माँग कर रहे हैं। इस तरह का समाज है उनमें आप देखेंगे उसका रूप उन लोगों आदिवासी लेखको से भिन्न है जो अपने को लगभग हिन्दी के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। और अपनी किसी भी प्रकार से अलग सामाजिक या सांस्कृतिक पहचान का दावा नहीं करते हैं, जैसे कि मीणा आदिवासी समाज में हरिराम मीणा, विजयसिंह मीणा भी लिखते हैं। दोनों बड़े समाज का हिस्सा है और दोनों बड़े अधिकारी है और पढ़े-लिखे वर्ग से आते हैं अब उनकी कोई अलग सामाजिक पहचान नहीं है, अलग धार्मिक कोड की उनकी कोई माँग नहीं है, अलग अस्मिता के विमर्श की उनकी कोई माँग नहीं है वे दावा कर भी नहीं सकते क्योंकि वे कई साल पहले मुख्यधारा के समाज से घुलमिल गए हैं ।

ह.स.मीना- दलित विमर्श आदिवासी विमर्श से किस रूप में भिन्न रहा हैं? इस पर आपका क्या दृष्टिकोण है ?

के. प्र. मीणा- दलित और आदिवासी विमर्श हिन्दी में हम देख रहे हैं इनकी अवधारणा में राजनैतिक अंतर है , भाषाई अंतर है , सांस्कृतिक अंतर है। दलित समाज हमेशा से मुख्यधारा के समाज के साथ रहा है , यह अलग बात कि वह बगल की बस्ती में रहा है , हाशिये पर रहा है और मुख्यधारा का समाज से छुआछूत का बर्ताव कर रहा है । दलित का गैर-आदिवासी परम्परा के साथ रोज मिलना-जुलना होता है । गैर-आदिवासी समाज के साथ मुख्यधारा के समाज के साथ दलित का सदियों से सम्पर्क है। वे वही भाषा बोलते हैं , वे उसी समाज के आसपास जीते हैं , उनकी भाषा वहीं है, संस्कृति रीति-रिवाज भी लगभग वैसे ही हो गए हैं। लेकिन आदिवासी समुदाय अपनी अलग संस्कृति के साथ एकांत में रहे हैं , जंगलों में रहे हैं। ये मुख्यधारा के समाज के नजदीक या सम्पर्क में नहीं रहे हैं। आदिवासियों से सहानुभूति रखने वाले बहुत सारे लेखक , सामाजिक कार्यकर्ता, इस रूप में दावा ठोकते हैं कि आदिवासी पिछड़े रह गए , उनको मुख्यधारा में लाना है , उनका विकास करना है ये दावे किये जाते हैं । लेकिन दलितों के बारे में इस तरह का दावा नहीं किया जाता, दलितों को आर्थिक रूप से समृद्ध बनाने की बात तो की जाती है मगर दलितों को मुख्यधारा में लाना है यह कभी नहीं कहा जाता है। आदिवासी वह समाज है जो मुख्यधारा के भारतीय समाज से सदियों तक दूर रहा है । इन दोनों विमर्श के अंतर है वह भाषाई तौर पर भी है , धार्मिक तौर पर भी है । दलित लगभग हिन्दू है, डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के एक बड़े हिस्से को बौद्ध धर्म में बदलने की कोशिश की। आज भी जितने भी दलित विचारक

हैं वे बौद्ध धर्म की संकल्पना को लेकर चलते हैं और बौद्ध धर्म को मानते हैं। कई जगह इस्लाम धर्म को भी दलितों ने स्वीकारा हैं। जबकि आदिवासियों में बहुत छोटा हिस्सा जैसे कि मुंडा और संथालों का , सम्पूर्ण मीणा आदिवासी और थोड़े से हिस्से भील समुदाय के हैं। ये हिन्दू समाज संस्कृति के प्रभाव में आ चुके हैं। आदिवासी विमर्श में आपको भिन्न समाज, भिन्न संस्कृति , भिन्न दर्शन, भिन्न तरीके की नेतृत्व की अवधारणाएँ आपको मिलेगी। लेकिन दलित समाज में ऐसा कुछ भी नहीं है । दलित विमर्श जो हैं मुख्यधारा के साहित्य को चुनौती देना चाहता है और उसके समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज कराना चाहता है । आदिवासी विमर्श इस मुख्यधारा से कोई चुनौती नहीं देना चाहता है बल्कि इससे दूर रहना चाहता है। अब राजनैतिक , आर्थिक रूप से उसके अलग पक्ष है। विमर्श के संदर्भ में आप देखते हैं तो विमर्श का रूप यह है कि आदिवासी मुख्यधारा के विमर्श में शामिल नहीं होना चाहते हैं। उसको अपना अलग धार्मिक कोड चाहिए ,पिछले दस साल से अलग धार्मिक सरना कोड की माँग चल रही है। यह माँग अंग्रेजों के समय में 1939 से चल रही है। उस समय आदिवासियों ने इसकी माँग की थी ,वह मिला भी था बाद में फिर से बदल दिया गया था। अब फिर से आदिवासी सरना कोड की माँग कर रहे हैं लेकिन वो नहीं मिल रहा है। आदिवासी अपनी अध्ययन की परम्परा और रीति-रिवाज , धार्मिक संस्थाएँ आदि को कायम रखना चाहता है। आदिवासी अपनी नदियों को रखना चाहता है, अपने पहाड़ बचाना चाहते हैं, अपने जंगल बचाना चाहते हैं। आदिवासियों के पूरे विमर्श में आपको जल-जंगल-जमीन के सवाल बार-बार मिलेंगे। रामदयाल मुंडा तो कहते ही थे कि 'नाची तो बाची' कि जो नाचेगा वह बचेगा। मतलब यह है कि

आदिवासी अपनी संस्कृति को बचाना चाहता है। मुख्यधारा का समाज उनके बारे में क्या सोचता है यह आदिवासियों की चिंता नहीं, लेकिन आप दलित समाज के संदर्भ में आप देखेंगे तो दलित इस बात की बहुत चिंता करता है कि सवर्ण समाज उनके बारे में क्या सोचता है? डॉ. अम्बेडकर कहते थे कि दलितों को शहरों में चला जाना चाहिए इसका सीधा तात्पर्य है की दलितों को गाँव छोड़कर शहरों में जाना चाहिए। दूसरी तरफ आदिवासी कहते हैं की गाँव नहीं छोड़ेंगे, जंगल नहीं छोड़ेगे। आदिवासियों में न छोड़ने पर जिद्द है, यहाँ छोड़ने पर जिद्द है। आदिवासी विमर्श यह कहता है कि गाँव, जंगल और जमीन बचनी चाहिए और दलित-विमर्श यह कहता है कि दलितों को मुख्यधारा के समाज में बराबरी का हक़ मिलना चाहिए। दोनों चीजे अपने-अपने रूप में है , दोनों का अपना महत्त्व है। मुख्यधारा की दृष्टि से देखेंगे तो दलितों की माँग बिलकुल जायज है और आदिवासियों की माँग आपको अप्रासंगिक लगेगी। ज्यों आप आदिवासियों को उस दृष्टि से देखेंगे उसमें आपको फर्क नज़र आएगा इन दोनों विमर्शों में यह बुनियादी अंतर है।

के.प्र. मीणा- ह.स.मीना- लोकतंत्र में आदिवासियों की सहभागिता एवं नेतृत्व कहाँ तक उभरा है?

के.प्र.मीणा- वास्तव में अगर हम देखें तो लोकतंत्र आदिवासियों की देन है । आदिवासियों ने ही लोकतांत्रिक पद्धतियों को लम्बे समय से कायम रखा है। जब भारत की मुख्यधारा का समाज सामंती व्यवस्था में जी रहा था ,राजा का बेटा राजा बन रहा था, उस ज़माने में भी पूर्वोत्तर के मिजोरम के आदिवासियों ने मतदान की व्यवस्था की थी। अलग-अलग मुद्दों को लेकर वहाँ वे अपने समाज में मतदान करते थे और भिन्न-

भिन्न रंग की लकड़ियों के माध्यम से,उन लकड़ियों के रंगों के माध्यम से वे तय करते थे कि किस रंग का प्रतिनिधि बनेगा,और किस रंग का प्रतिनिधि नहीं बनेगा । ये लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ तो बुनियादी तौर पर आदिवासियों की ही देन है । परिवार में लोकतंत्र का आशय बेटा-बेटी एक समान और सबके समान अधिकार होने चाहिए । आदिवासियों में यह परम्परा बहुत लम्बे समय से रही है । आदिवासियों में स्त्री को किसी भी प्रकार से दोयम दर्जे का नहीं माना जाता । हालाँकि जो अध्येता रहते हैं ये इसे सांस्कृतिक चीज मानते हैं, लेकिन यह एक लोकतांत्रिक चीज भी है, इससे पता चलता है कि आदिवासियों में लोकतंत्र कितना था । वहाँ स्त्री-पुरुष समान है ,वहाँ स्त्री के अधिकार सुनिश्चित है । मुख्यधारा के समाज की तरह स्त्री के अधिकारों का हनन आदिवासियों में नहीं होता। यह एक लोकतंत्र की पहचान है । आदिवासी राजनीति ने इस देश से अधिक लोकतंत्र की माँग की है । यह धारणा बनी हुई है कि इस लोकतंत्र के सांचे में सामंती व्यवस्था काम कर रही है यह आदिवासियों ने माना है । बहुत सारे इलाकों में इस व्यवस्था को लम्बे समय से नकारा, इस देश की जो लोकतांत्रिक व्यवस्था है,उससे आदिवासी खुश नहीं हुआ । जबकि आदिवासियों की लोकतांत्रिक अवधारणा वह सही मायने में लोकतांत्रिक है । किसी भी वर्ग को भाषा, धर्म, भौगौलिक स्थिति के आधार पर नकारा नहीं जाएगा । जबकि इस भारतीय लोकतंत्र के अंदर बहुत सारे क्षेत्रों को भौगोलिक परिस्थितियों के चलते नकार दिया गया और यह एक लोकतंत्र की कमजोरी है । इस देश में बहुत सारे हिस्सों को भारतीय लोकतंत्र में शामिल करने के लिए सेनाओं का इस्तेमाल किया गया । कई तरह की राजनैतिक प्रक्रियाओं का इस्तेमाल किया, सरदार पटेल का भी जमाना याद कीजिये तो उन

प्रदेशों को लोकतंत्र में शामिल करने के लिए इतनी जद्दोजहद की गई। तो यह कैसे संभव था कि भौगोलिक स्थिति की वजह से उनकी बातें नकार दी गई कि उनका विकास नहीं किया जा सकता । जिन क्षेत्रों को भारतीय लोकतंत्र में शामिल किया गया, उनको किसी आधार पर भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर नकारने के बाद उनका विकास होना चाहिए था। इस आधार पर आदिवासियों में असंतोष लम्बे समय से रहा और यही वजह है कि नक्सलवाद –माओवाद को इन्हीं परिस्थितियों के कारण कुछ इलाकों में पनपने की जगह मिली । हालाँकि भारतीय लोकतंत्र ने उन क्षेत्रों में अपनी जड़े गहरी की और आदिवासियों में सकारात्मक सुधार शुरू किये । इसके पनपने की यह वजह थी की भारतीय लोकतंत्र में आदिवासियों को अपना प्रतिनिधित्व नहीं मिला । यही वजह की आदिवासियों ने अपना नेतृत्व इस देश के अन्दर लोकतांत्रिक व्यवस्था के माध्यम से खड़ा किया। आप जयपाल सिंह मुंडा,शिबू सोरेन को देख लीजिये, भिन्न -भिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के दलों के साथ आदिवासी नेतृत्व उभरा है। दूसरा आदिवासियों ने अपना खुद का नेतृत्व तैयार किया। उस समय बिरसा मुंडा से पहले सरदार आन्दोलन चला था , सरदार आन्दोलन की यही मुख्य माँग थी कि हमें मुख्यधारा में शामिल किया जाए और हमें संसाधन मिलने चाहिए और हमारे ऊपर अत्याचार कम किये जाए और उन्होंने ईसाई मिशनरियों के माध्यम से सत्ता में अपनी बात पहुँचाई। तब एक सवाल उभरा था आदिवासियों में अब हम अपना नेतृत्व स्थापित करे और बाद में बिरसा मुंडा का आन्दोलन हुआ था, बिरसा मुंडा के नेतृत्व में आदिवासी इक्कट्ठे हुए और उन्होंने उस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया। क्योंकि वो लोकतांत्रिक व्यवस्था नहीं थी , उपनिवेशवाद का दौर था। उसी

तर्ज पर लोकतांत्रिक प्रणाली अपनाली गई। 1947 के बाद उसमें में भी असंतोष जारी रहा ,वह असंतोष अलगाववाद, माओवाद के रूप में फूटा। बहुत सारे आदिवासी बुद्धिजीवी कार्यकर्ताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं ने लोकतंत्र के ही भीतर अपनी पैठ बनाने के लिए लोकतांत्रिक पद्धतियों का ही इस्तेमाल किया। वह यह है कि उन्होंने अपने नेता बनाए,अपने राजनैतिक दल बनाए, अपने खुद के संगठन बनाए । उदाहारण के तौर पर जैसे कि जयपाल सिंह मुंडा ने अपनी झारखण्ड पार्टी बनाई , जो आदिवासी वर्चस्व की पार्टी थी । उसने आदिवासियों में अच्छा काम किया, और बहुत बड़ा जनाधार विकसित किया। लोकसभा और विधानसभा में बहुत अच्छी सीटें जीती। 1952 के चुनाव में झारखण्ड पार्टी ने लोकसभा में अच्छी सीटें जीती थी। उसके बाद फिर शिबू सोरेन का उदय हुआ। शिबू सोरेन ने भी अपनी पार्टी बनायीं 'झारखण्ड मुक्ति मोर्चा'। शिबू सोरेन ने भी आदिवासियों का नेतृत्व विकसित किया। शुरुआत में वामपंथियों के साथ रहा, बाद में उन्होंने कांग्रेस का साथ लिया ,लेकिन उन्होंने अपना नेतृत्व विकसित किया। आदिवासियों की सहभागिता लोकतंत्र में आजादी के बाद क्रमशः बढ़ी है और आदिवासियों का नेतृत्व जहाँ-जहाँ विकसित हुआ , उसको मुख्यधारा के नेतृत्व ने कई तरीके से दबाने की कोशिश की, जिसका सबसे बड़ा उदाहरण यही है जयपाल सिंह मुंडा की झारखण्ड पार्टी अच्छी स्थिति में थी। उसको कांग्रेस पार्टी ने कहीं प्रकार से प्रलोभन देकर अपने भीतर विलीन कर लिया। यही कोशिशे शिबू सोरेन की पार्टी झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के साथ रही । लेकिन आदिवासियों की जिस तरह की अपेक्षाएं है उस रूप में नेतृत्व नहीं पनपा। समस्या यहाँ यह हो गई कि आदिवासियों के नेतृत्व को तोड़ने में मुख्यधारा की राजनीति

हमेशा सक्षम रही । जयपाल सिंह मुंडा की पूरी पार्टी हथिया ली गई । आदिवासी नेतृत्व को मुख्यधारा के नेतृत्व ने कई तरीके से कमजोर किया। जबकि पूर्वोत्तर के आदिवासी सबसे ज्यादा लोकतांत्रिक माने गए हैं । 1947 के बाद भारतीय लोकतंत्र कायम हुआ, इसमें उनकी भी असंतुष्टियाँ बहुत रही, बहुत सारे अलगाववादी संगठन बनते रहे, टूटते रहे । भारतीय सेना के साथ उनके संघर्ष चले, जिनमें बहुत सारे आदिवासी मारे गए। लोकतंत्र में अपनी भागीदारी निभाने के लिए लोकतांत्रिक पद्धतियों का ही इस्तेमाल किया और चुनाव की राजनीति में आए । और वहाँ बहुत सारी पार्टियों ने अपनी सरकारें बनाई । यह तो नहीं कहा जा सकता कि आदिवासी नेतृत्व नहीं पनपा लेकिन वह मुख्यधारा के नेतृत्व का शिकार हुआ ।

ह.स.मीना- आदिवासी समाज का विकास एवं संस्कृति-संरक्षण पर आपका क्या दृष्टिकोण है ?

के.प्र. मीणा- आदिवासी समाज अपनी जल-जंगल और संस्कृति को बचाना चाहता है। जो समाज अपनी संस्कृति को बचाना चाहता है , वह समाज आर्थिक रूप से बहुत पिछड़ा है । वह जब अपनी संस्कृति को बचाने की कोशिश करता है तो अभिजात्य वर्ग के माध्यम से वह सरकारी व्यवस्था तक अपनी बात पहुँचाना चाहता है । यह अभिजात्य वर्ग ही आदिवासी समाज में हीनभावना पैदा करता है और संस्कृति को छोड़ने की बात करता है । क्योंकि यह अभिजात्य वर्ग सामंती व्यवस्था में घुलमिल गया है , यह अपनी संस्कृति के प्रति कोई लगाव नहीं रखता, अपने धार्मिक पहचान के प्रति कोई लगाव नहीं रखता । जो गरीब पिछड़ा वर्ग इनके माध्यम से अपनी चीजों को बचाना चाहता है ,उनको यही लोग हतोत्साहित कर देते हैं। जिसका नतीजा यह हुआ

है कि बड़ी संख्या में आदिवासी कार्यकर्ता निराश हुए हैं । जितने भी सामाजिक कार्यकर्ता हम देखते हैं वे राजनीतिक रूप से महत्त्वकांक्षी हो गए हैं । ऐसी स्थिति में संस्कृति संरक्षण की बात आदिवासी के लिए बहुत दूभर चीज हो गई । जो वास्तव में आदिवासी संस्कृति संरक्षण को बचाना चाहता है, क्योंकि उनके पास राजनैतिक ताकत नहीं है।

ह.स.मीना- भारतीय समाज की मुख्यधारा आदिवासियों के प्रति किस तरह का दृष्टिकोण रखती है ?

के.प्र. मीणा- भारतीय समाज की मुख्यधारा आदिवासी को असभ्य, जंगली मानती है। मुख्यधारा का समाज आदिवासियों के प्रति सहानुभूति तो रखता है लेकिन उसमें भेदभाव दिखाई पड़ता है । मुख्यधारा का समाज सामन्ती समाज है जो आदिवासियों को पूरी तरह से अपने अधिकार देने में संकोच करता है । आज भी मुख्यधारा का समाज यह नहीं मानता कि ये आदिवासी सभ्य लोग भी हैं, उनके साथ उठना-बैठना उन्हें अच्छा नहीं लगता है । रंग के आधार पर भेदभाव है, भाषा के आधार पर, आदिवासियों को हीन समझने की प्रवृत्ति है । इस तरह का भेदभाव मुख्यधारा आज भी करती है । महादेव टोप्पो ने तो बहुत सारी कविताएँ लिखी हैं जिनमें वे बताते हैं कि मुख्यधारा का समाज आदिवासियों के साथ किस तरह का बर्ताव करता है , उनमें जो आदिवासी पात्र होते हैं वे मुख्यधारा को अपनाने से इंकार कर देते हैं ।

ह.स.मीना- वैश्वीकरण के दौर में आदिवासियों का कितना स्थान हैं ?

के.प्र. मीणा- विस्थापन जो बड़ी समस्या के रूप में उभरा है, यह वैश्वीकरण की देन है। यह वैश्वीकरण आज से नहीं है , आदिवासी के संदर्भ में वैश्वीकरण बहुत पहले के ज़माने से है। आर्यों के समय से आदिवासियों के साथ जो संग्राम हुए वे भी वैश्वीकरण का ही हिस्सा ही माने जायेंगे। जिसे हम आज के संदर्भ में वैश्वीकरण कहते हैं, यानी ग्लोबलाइजेशन। 1991 के बाद खुली आर्थिक नीतियों के आधार पर अपनाया गया। इसके चलते सबसे नुकसान आदिवासी वर्ग का हुआ है। वैश्वीकरण के बाद तमाम तरीके की लूट आदिवासियों के साथ मची है। जितनी भी बाजार में कीमती वस्तुएँ नज़र आती हैं वे सब आदिवासियों की देन हैं। इस वैश्वीकरण के चलते आदिवासी क्षेत्रों में तेजी से उत्खनन कार्य किया जा रहा है , जंगल काट-काटकर महानगरों में फर्नीचर के रूप में स्थापित कर दिए गए हैं। 'महुआ माजी के उपन्यास में वैश्वीकरण के दौर में विकिरणों से होने वाले दुष्परिणाम को चिंता का विषय बनाया है। वैश्वीकरण का जो पूरा फायदा वहाँ के महानगरीय लोगों को ज्यादा हुआ है। महानगरीय लोगों को एक ही जगह सब सुविधाएँ मिली लेकिन वैश्वीकरण के चलते इसका सबसे ज्यादा नुकसान आदिवासी समुदाय को हुआ, क्योंकि उनके जल-जंगल जीने के जो साधन थे वे सब समाप्त कर दिए गए । जैसे कि रणेंद्र के उपन्यास 'गायब होता देश'में आदिवासियों के गाँव किस तरह उजाड़ दिए गए है ? ऐसे में आदिवासी महानगरों में किस तरह से व्यवस्थित जीवन जी सकेगा ? जो आदिवासी प्रकृति के साथ रहकर अपना जीवनयापन करता था , आज वह महानगरों में घुटनभरी जिन्दगी जीने को मजबूर है। ऐसे में आदिवासी को वैश्वीकरण के दौर में कहीं स्थान नहीं मिला बल्कि स्थान देने की बजाय उनको अपने जल-जंगल-जमीन से बेदखल कर दिया गया। जब

से झारखंड बना तब से पन्द्रह लाख आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। वैश्वीकरण में आदिवासी के लिए कोई स्थान नहीं है जहाँ पर उन्हें मूलभूत आवश्यकता की चीजें उपलब्ध हो सके। सरकार ने भी विस्थापित हुए आदिवासियों के लिए पुनर्वास की कोई व्यवस्था नहीं की गई।

ह.स.मीना- संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल की कविताओं के बारें में साहित्य में क्या उपयोगिता रही है , उनके बारे में आपके क्या विचार है?

के.प्र. मीणा- निर्मला पुतुल ऐसी कवयित्री है जिसकी आदिवासी हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक चर्चा हुई है। निर्मला पुतुल की कविताओं के माध्यम से शहर में बैठे आदिवासी बुद्धिजीवियों ने आदिवासी समाज के बारे में धारणाएँ विकसित की हैं कि आदिवासी किस तरीके से जीते हैं। अगर इसका दूसरी तरह से मूल्यांकन करें तो उसके सामने बहुत ही कम है। निर्मला पुतुल की कविताओं की चर्चा इतनी अधिक हुई है कि उस पर नए तरीके से विश्लेषण करना कठिन है। निर्मला पुतुल की कविताओं को साहित्य अकादमी ने सराहा है । शहरों में जहाँ-जहाँ सेमीनारों एवं गोष्ठियों में आदिवासी विमर्श की कविताओं की चर्चा हुई उनमें निर्मला पुतुल सबसे ज्यादा याद की जाती रही है , मुख्यधारा के कवियों के द्वारा, साहित्यकारों के द्वारा। निर्मला पुतुल खुद आदिवासी है, उनकी कविताओं के पात्र आदिवासी है , उनकी कविताओं के अन्दर सामाजिक संस्थाएँ, प्रशासनिक व्यवस्थाएं वे सब आदिवासी इलाकों की है। लेकिन निर्मला पुतुल की कविताएँ ये ठोस आदिवासी दर्शन की कविताएँ कम और मुख्यधारा का जो स्त्री विमर्श है उसकी कविताएँ अधिक हैं। यही वजह कि मुख्यधारा के स्त्री विमर्श ने निर्मला पुतुल की कविताओं को सर्वोपरि स्थान दिया है। ग्रेस कुजूर,

महादेव टोप्पो, वंदना टेटे जैसे बहुत सारे कवि/कवयित्री है जो निर्मला पुतुल की ऊँचाइयों तक नहीं आ सके। मुख्यधारा का समाज आदिवासी साहित्य व आदिवासी दर्शन को नहीं स्वीकारता , उसने निर्मला पुतुल को इतना तवज्जो कैसे दिया यह अपने आप में सवाल है। इसका जवाब यह है कि निर्मला पुतुल की कविताएँ स्त्री विमर्श की कविताएँ ज्यादा है और आदिवासी विमर्श की कविताएँ कम हैं। इनके पात्र, इनकी भौगोलिक जगह, दूसरी जितनी चीजें हैं कविता के अन्दर वह सब आदिवासी की है। अगर इसमें आदिवासी का कुछ नहीं तो वह दर्शन हैं। आदिवासी स्त्रियाँ उस तरह की माँग नहीं करती, जिस तरह की निर्मला पुतुल की कविता की स्त्रियाँ माँग करती हैं। आदिवासी स्त्रियाँ उस तरह की क्रांतिकारी नहीं है , जिस तरह की निर्मला पुतुल की कविताओं में क्रांतिकारी है। यह सब तो प्रचलित मुख्यधारा का आदिवासी विमर्श है। निर्मला पुतुल की कविताओं में दरअसल मुख्यधारा के समाज की स्त्रियों का स्वर है। वहाँ जो पुरुषों के प्रति आक्रोश है, नशे के प्रति, दलाल के प्रति वह सब जायज है, लेकिन यह सब मुख्यधारा से लिया गया है। वहाँ उस कविता के अन्दर बेटी कहती है मुझे दूर मत ब्याहना यह सब मुख्यधारा से है। मुख्यधारा के समाज में बेटियों को दूर ब्याह दिया जाता है जहाँ वह अपने पीहर नहीं जा सकती। आदिवासी समाज में ऐसा नहीं है , आदिवासी समाज में बेटी को एक पहाड़ से दूर ब्याहा नहीं जाता है। निर्मला पुतुल की कविताओं में देखेंगे तो बाप को अपनी बकरी बेचकर दहेज़ देने की बात का जिक्र आया है। निर्मला पुतुल की कविताएँ आदिवासी विमर्श के खोल की कविताएँ है, इनकी कविताओं के माध्यम से आदिवासी समाज के आक्रोश को देखा जा सकता है। निर्मला पुतुल का काफी योगदान है जिन्होंने आदिवासी जगत को इतने बड़े पैमाने

पर प्रचारित किया है। निर्मला पुतुल की आदिवासी कविताएँ इतनी अधिक चर्चित हुई कि मुख्यधारा के समाज के लोग यह नहीं जानते थे कि मुर्मू आदिवासियों का एक गोत्र है , उन लोगों ने भी इन कविताओं को अपने अध्ययन का विषय बनाया । इनकी कविता 'बिटिया मुर्मू' जिसमें बिटिया आदिवासी लड़की का नाम है, और मुर्मू उसका गोत्र है । लेकिन मुख्यधारा के समाज को यह पता नहीं है कि मुर्मू एक गोत्र है और बिटिया एक नाम है। इस तरह की गलतियाँ मुख्यधारा के समाज ने आदिवासियों को समझने में की है । दूसरा पक्ष यह है कि निर्मला पुतुल की कविताएँ इतनी अधिक चर्चित हुई उसने मुख्यधारा के साहित्य और विमर्श में ठोस जगह प्राप्त की जिससे सभाओं, सेमिनारों में मुख्यधारा के समाज ने इनकी कविताओं का ध्यान में लिया गया। लेकिन मुख्यधारा में अनुज लुगुन और निर्मला पुतुल की कविताओं को सबसे ज्यादा अहमियत मिली ।

ह.स. मीना- वर्तमान समय में आदिवासी समाज में स्त्री की स्थिति कैसी है?

के.प्र. मीणा- आदिवासी समाज में आदिवासी स्त्री की स्थिति बाकि समाज से अच्छी है । आदिवासी समाज में प्रेम करना अपराध नहीं माना जाता, क्योंकि वहाँ लड़का-लड़की को समान अधिकार मिलते थे । आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष की समानता रही है । आदिवासी समाज में 'लिव इन रिलेशनशिप' पहले से रहे हैं । आदिवासी में सदियों से स्त्री को काफी सहूलियत रही है, स्त्री को बराबर का अधिकार दिया गया है। आदिवासी स्त्रियाँ आज काफी अच्छी है पहले की तुलना में, क्योंकि वे अब आर्थिक रूप से मजबूत है

संस्थापक : स्व. बी.पी.'वर्मा'पथिक ISSN: 2250-3080 जुलाई, 1988 से सतत प्रकाशित

अरावली उद्‌घोष

सामाजिक साहित्यिक जनचेतना की शोध पत्रिका

32 वर्ष अप्रैल-सितम्बर, 2018 संयुक्तांक क्रमांक-119-120

प्रबन्धन
सर्वथा अवैतनिक एवं अव्यावसायिक
श्री धर्मसिंह एवं श्रीमती विमला वर्मा

✦

त्रैमासिक
साल भर में 4 अंक
सामान्यत: जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्टूबर में प्रकाश्य

✦

सहयोग राशि
(व्यक्तिगत)

सदस्य (5 वर्ष)	:	550 रुपये
सहयोगी सदस्य (आजीवन)	:	2000 रुपये
वरिष्ठ सहयोगी सदस्य (आजीवन)	:	5000 रुपये

✦

संस्थागत एवं पुस्तकालय

वार्षिक सदस्यता	:	500 रुपये
आजीवन सदस्यता	:	5000 रुपये

▸▸ सारे भुगतान मनिऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट द्वारा 'अरावली उद्‌घोष' के नाम से ही किये जायें।

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक श्रीमती विमला वर्मा की ओर से हिंगलाज ऑफसेट प्रिंटर्स, 28 ओल्ड स्टेडियम जोधपुर से मुद्रित व 448 टीचर्स कॉलोनी, अम्बामाता, उदयपुर से प्रकाशित, सम्पादक: डॉ. जनकसिंह मीना

संस्थापक
स्व. बी.पी. वर्मा 'पथिक'

✦

सम्पादक
डॉ. जनक सिंह मीना
मो. 9672751940
ई मेल- **jsmeena2020@gmail.com**

✦

सम्पादक मण्डल: शंकरलाल मीणा, हरिराम मीणा, प्रो. एस.के.मीणा डॉ. रमेश चंद मीणा, डॉ. कुलदीपसिंह मीणा,

सभी प्रकार का पत्र-व्यवहार करने और धन राशि भेजने का पता:
अरावली उद्‌घोष
सी-3/175, सेक्टर-3, चित्रकूट, गाँधी पथ,
जयपुर- 302021, मोबाइल : 9413388166
वेबसाइट- www.arawaliudghosh.com

''अरावली उद्‌घोष'' में प्रकाशित लेखों/ रचनाओं में व्यक्त विचार/ तथ्य लेखकों के अपने हैं। सम्पादक तथा सम्पादक मण्डल से इनकी सहमति होना आवश्यक/अनिवार्य नहीं है और न ही सम्पादक/ सम्पादक मण्डल इसके लिए उत्तरदायी है।

आगामी अंक (क्रमांक 121) जनवरी 2019 में प्रकाशित होगा

आदिवासी विमर्श पर केन्द्रित शोध पत्रिका

कहाँ क्या है?

सम्पादकीय	:	(आबू पर्वत के गुरु शिखर से)-संपादकीय : एससी-एसटी एक्ट: प्रावधान एवं उभररती प्रवृत्तियाँ : डॉ.जनकसिंह मीना	03
आलेख	:	1. अनु.जाति.जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम और सामाजिक न्याय: हरिराम मीणा	09
	:	2. मीणी भाषा की उत्पत्ति और विकास: पिंटू कुमार मीना	17
	:	3. महान् क्रांतिकारी बिरसा मुण्डा: -बाबूलाल चांवरिया	27
	:	4. आदिवासी समाज बनाम विकास : सपना वर्मा	32
	:	5. अदला-बदली का विस्थापन : डॉ. धर्मचंद विद्यालंकार	38
	:	6. हिन्दी आदिवासी कविता : इतिहास और प्रवृतियाँ : हनुमान सहाय मीना	43
	:	7. भक्त शिरोमणी मीराँ :-डॉ. कान्ति लाल यादव	48
	:	8. मीना समाज की आस्था का अद्‌भुत संगम और अनोखा मेला : मीरा रामनिवास	53
	:	9. पंचायती राज के माध्यम से ग्रामीण विकास: ममता कुमारी तिवाड़ी, डॉ. अनिल कुमार पारीक	55
	:	10. सामाजिक व आर्थिक विकास में शिक्षा की अहम् भूमिका : कृष्ण कुमार यादव	61
	:	11. भील आदिवासी समुदाय में महिला स्वास्थ्य: रक्ताल्पता के प्रश्न : डॉ. रणजीत कुमार मीणा	64
	:	12. डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन का परिदृश्य : डॉ. गीता कुमारी	67
	:	13. धरती पुत्रों की खिसकती धरती: के.आर. कमलेश, डॉ. संतोष मीना	69
पुस्तक समीक्षा	:	दलित साहित्य का आईना -सरिता	72
कहानी	:	अमरबेल- सुरेन्द्र अंचल	77
कविता	:	कविता पवन पटेल- इंसानियत-	68

शोध आलेख

हिन्दी आदिवासी कविता : इतिहास और प्रवृत्तियाँ

हनुमान सहाय मीना

हिन्दी लेखन की परम्परा में आदिवासी साहित्य की अभिव्यक्ति विविध परिदृश्य के रूप में हुई है जिनमें कविता विधा के रूप में कवियों ने आदिवासी प्रतिरोध की नई जमीन तैयार की है। इसी आदिवासी चेतना से लैस कविता आदिवासी दर्शन की विचारधारा के साथ आगे बढ़ रही है। इसी रचनात्मक ऊर्जा के साथ आदिवासी साहित्य नए विमर्शों के दौर में बेहतर साबित हो रहा है। क्योंकि जिस रूप में आदिवासी चेतना का बिम्ब हमें कविता के रूप में नए कवियों ने आदिवासी दर्शन के साथ दिया है , जिसका सीधा प्रभाव उनकी मौखिकी परम्परा के रूप में सामने आया है। इसी संदर्भ में आदिवासी साहित्य की वाचिक परम्परा लोकगीतों के रूप में विद्यमान है। हमें उनकी दृष्टि के साथ आदिवासी चेतना को उनके अस्तित्व व अस्मिता के साथ जोड़कर देखना चाहिए। यदि परम्परा की बात करें तो आदिम साहित्य से लेकर अब तक की परम्परा में आदिवासी दर्शन को नकारने की कोशिश की गई। यहाँ तक गैर-आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी कविता को कवितापन ही नहीं माना बल्कि उन्हें साहित्य से ख़ारिज करने की कोशिश की गई ।

हिन्दी में आदिवासी कविता की परम्परा की शुरुआत नब्बे के दशक से पहले से शुरू हो जाती है। सन् 1930 के दशक में जब हिन्दी और आधुनिक कविता शैशवावस्था में थी ,उस समय सुशीला सामद ही हिन्दी में कविताएँ लिख रही थी। क्योंकि उस दौर में भारतीय पटल पर कविता के क्षेत्र में गिनी-चुनी कवयित्रियों की ही उपस्थिति थी। सुशीला सामद जब तीस के दशक में कविताएँ लिख रही थी, उस समय के दौर में साहित्यिक इतिहास में बहुत कम महिलाओं का जिक्र मिलता था । हिन्दी जगत में आदिवासी कविता की क्रांति की शुरुआत हिन्दी की पहली आदिवासी कवयित्री सुशीला सामद ने की जिनका पहला काव्य संग्रह 'प्रलाप' (1935) हिन्दी में प्रकाशित हुआ । 'प्रलाप'(1935) के बाद 'सपने का संसार' सुशीला सामद का दूसरा काव्य-संग्रह है जो 1948 में प्रकाशित हुआ। वह केवल कविताएँ ही नहीं लिख रही थी, बल्कि साथ-साथ एक साहित्यिक-सामाजिक पत्रिका 'चाँदनी' का संपादन-प्रकाशन भी कर रही थी । इसके बाद कवि दुलाय चन्द्र मुंडा का मुंडारी भाषा में मुंडारी कविताओं का संग्रह 'बम्बरू' (1966) में प्रकाशित होता है । दुलाय चन्द्र मुंडा आधुनिक मुंडारी साहित्य के आधार स्तंभ हैं। उनका 'बम्बरू' कविता-संग्रह में 37 गीतों का संकलन है। 'बम्बरू' का हिन्दी रूपांतर 'मशाल' है । इस संग्रह में मुंडारी भाषाओं की कविताओं का संकलन है । दुलाय चन्द्र मुंडा का दूसरा कविता संग्रह 'नव पल्लव' 1966 में बिहार सचिवालय मुद्रणालय से प्रकाशित हुआ । इसके बाद रामदयाल मुंडा का 'सेलेद'(विविधा) नामक कविता संग्रह 1966 में प्रकाशित हुआ । इस संग्रह में मुंडारी, नागपुरी और हिन्दी कविताएँ प्रकाशित हुई । इनका दूसरा कविता संग्रह 'नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य गीत' (1980) में झारखण्ड साहित्य परिषद से प्रकाशित हुआ। इसके बाद विनोद दास का कविता संग्रह 'खिलाफ़ हवा से गुजरते हुए का प्रकाशन सन् 1986 में भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ । सन् 1990 के दशक के बाद धीरे-धीरे हिन्दी पट्टी में अनेक नाम आने शुरू होते हैं जिनमें से आदिवासी चिन्तक व समाजसेविका महिला के रूप में रमणिका गुप्ता का नाम आता है, जिन्होंने आदिवासी भाषाओं में महत्वपूर्ण

संकलन तैयार किया। उन्होंने आदिवासी कविता संग्रह व पत्रिकाओं के सम्पादन का आरम्भ 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी (2002) से शुरू किया। इसी के साथ सितम्बर 2003 में समकालीन जनमत में निर्मला पुतुल की कविता 'बुधन हांसदा और दो अन्य कविता' के अलावा 'हो', 'संथाली', और 'मुण्डारी गीत' प्रकाशित होते हैं। 'अरावली उद्घोष' का सितम्बर 2008 में कविता विशेषांक आता है, जिसमें वाहरू सोनवणे, निर्मला पुतुल, प्रभात और महादेव टोप्पो आदि की कविताएँ प्रकाशित होती हैं । आदिवासी चिन्तक रमणिका गुप्ता की पुस्तक 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' में रामदयाल मुण्डा, सरिता बडाइक, ग्रेस कुजूर, महादेव टोप्पो आदि की कविताएँ संकलित की गई हैं जिनमें ग्रेस कुजूर 'एक जनी शिकार' व अन्य सात कविता के साथ प्रकाशित होती है । रामदयाल मुण्डा की 'विकास का दर्द के साथ', 'वापसी', परिवर्तन व 'कथन शालवन के अन्तिम शाल का' आदि प्रकाशित होती है । महादेव टोप्पो की 'बिना मुर्गे के झारखण्ड में, सुबह के साथ ग्यारह कविता आती है और इनके अलावा लक्ष्मण सिंह, सहदेव सोरी, मोती लाल, निर्मला पुतुल आदि की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। इसी क्रम में हरिराम मीणा का पहला काव्य संग्रह 'सुबह के इंतजार में' (2006), 'समकालीन आदिवासी कविता' (संपादन) 2013 का प्रकाशन होता है। निर्मला पुतुल का पहला काव्य संग्रह 'अपने घर की तलाश में' (2004) और 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' (2005) कविता प्रकाशित हुई । उनकी 'अपने घर की तलाश' कविता संथाली और हिन्दी दोनों में ही प्रकाशित होती है। निर्मला पुतुल ने सबसे पहले संथाली में लिखा है फिर हिन्दी में लिखना शुरू किया। इसी क्रम में अनुज लुगुन का कविता संग्रह 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' (2017) वाणी प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ।

1930 के दशक में हिन्दी आदिवासी कविता दस्तक देना शुरू हो जाती हैं। जिनमें सबसे पहले नाम आदिवासी कवयित्री सुशीला सामद का आता है, जिनका 1935 में 'प्रलाप' कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। इसके बाद उनका दूसरा कविता संग्रह सन् 1948 में 'सपने का संसार' छपा । 'प्रलाप' कविता संग्रह का संपादन वंदना टेटे ने किया है। यह भारत की पहली हिन्दी आदिवासी कवयित्री का पहला काव्य संग्रह माना जाता है।

1990 के बाद की कविता लेखन में बहुत सारे नाम आते हैं,जैसे : अनुज लुगुन, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, वाहरू सोनवने, रणेंद्र, हरिराम मीणा, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, एकांत श्रीवास्तव, चंद्रकांत देवताले, रमणिका गुप्ता, उज्ज्वला ज्योति तिग्गा आदि है। जिनमें अनुज लुगुन का नाम सबसे पहले आता है, क्योंकि अनुज लुगुन की कविता में मानवीय संवेदना की गहरी समझ है । उनकी कविता आत्मविश्लेष्ण की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती है । आदिवासी कवयित्री रमणिका गुप्ता की 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' पुस्तक आदिवासी चिंतन के विकास में नयी वैचारिकी का दस्तावेज माना जाता है , जो आदिवासी विमर्श को नया आयाम देने का काम करती है। रमणिका गुप्ता की यह पुस्तक विविध विधाओं का एक संग्रह है, जिसमें इन्होंने मूल भाषा और भारतीय भाषाओं की रचनाओं को एक जगह समेटकर जनमानस तक पहुँचाने का काम किया। रमणिका गुप्ता ने इस पुस्तक में विशेष रूप से मूल भाषा के आदिवासी साहित्य को ही लिया, इसलिए भी यह पुस्तक आदिवासी विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । रमणिका गुप्ता ने इस पुस्तक के संपादकीय में भी लिखा है– 'इसके पीछे हमारी मंशा बहुमुखी है–एक तो यह कि उनकी समस्याओं पर उनमें ही विश्लेषण करने और समाधान का रुझान पैदा हो, ताकि वे स्वयं नेतृत्वकारी भूमिका अदा कर अपने विकास की संभावनाओं को हर क्षेत्र में तलाशें और बहस चलायें । आज तक दूसरे ही लोग इन्हें उपदेश देते रहे हैं, ये स्वयं क्या चाहते हैं, इसकी बजाय केवल यही कहते रहे हैं– 'बस सुनो ; जो हम कहते हैं– यही तुम्हारे हैं– हमारे अनुभव से लाभ उठाओ ' उन्हें न तो वे अपने अनुभवों से सीखने का अवसर देते हैं और ना ही कुछ कहने का वाहरू सोनवणे ने 'स्टेज' कविता में इस प्रवृति को हू–ब–हू रखा है–

'हम स्टेज पर गए ही नहीं
और हमें बुलाया भी नहीं
उंगली के इशारे से
हमारी जगह हमें दिखाई गयी
वे स्टेज पर खड़े हो हमारा दु:ख
हमें ही बताते रहे
हम बडबडाए कान देकर वे सुनते रहे
और हमारे कान पकड़ कर
हमें ही धमकाया माफ़ी मांगो नहीं तो.."

रमणिका गुप्ता ने 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी' पुस्तक के माध्यम से आदिवासी विजन को नए रूप में दिखाने का प्रयास किया है, साथ ही साथ उन्होंने आदिवासी समाज के पहलुओं को अभिव्यक्ति की ताकत के जरिये से जोड़ने का प्रयास भी किया है । इस पुस्तक में रमणिका गुप्ता ने ग्रेस कुजूर, हरिराम मीणा, शंकर लाल मीणा, सरिता सिंह बड़ाईक, डॉ. रामदयाल मुंडा, महादेव टोप्पो, लक्ष्मण सिंह कावडे, सहदेव सोरी इत्यादि कवियों की कविताओं को शामिल किया है । इसके अलावा भी उन्होंने अनेक भाषाओं से अनुदित कविता, कहानी, नाटक आदि को भी इस पुस्तक में रखा है। ग्रेस कुजूर की कविता 'एक और जनी-शिकार' में एक जनी-शिकार को प्रतीकात्मक रूप में दिखाया है । यहाँ लेखक ने जनी-शिकार की परम्परा और झारखण्ड के यथार्थ को भी दिखाने का प्रयास किया है ।

वर्तमान में आदिवासी अस्तित्व संकट के साथ पहचान की समस्या भी लगातार गहराती जा रही है, लोग उन्हें सामान्य मनुष्य की तरह नहीं बल्कि जंगली, वनवासी, असभ्य और संविधान में आरक्षित मनुष्य के रूप में परिभाषित करते हैं ।

निर्मला पुतुल मूलत: आदिवासी कवयित्री है इनका जन्म संथाली परिवार 1927 में हुआ इन्होंने संथाली भाषा में ही रचनाएँ की हैं । इनके दो काव्य-संग्रह अलग-अलग नामों से अलग-अलग प्रकाशन से प्रकाशित हुए हैं। जिनका अनुवाद अशोक सिंह ने किया है । लेकिन बड़े प्रकाशनों की राजनीति के चलते दूसरे काव्य संग्रह में से अनुवादक का नाम हटा दिया गया । इनके काव्य संग्रह इस प्रकार हैं-

1. नगाड़े की तरह बजते शब्द (भारतीय ज्ञानपीठ, 2004, दिल्ली)
2. अपने घर की तलाश में (रमणिका फाउंडेशन, 2004, दिल्ली)
3. बेघर सपने (आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2014)

इनके दोनों काव्य-(नगाड़े की तरह बजते शब्द, अपने घर की तलाश में) संग्रह का अनुवाद अशोक सिंह ने किया है । इनका पहला काव्य-संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' काफ़ी लोकप्रिय रहा है । इनका तीसरा काव्य-संग्रह 'बेघर सपने' आधार प्रकाशन हरियाणा पंचकूला से प्रकाशित हुआ हुआ है । इनके काव्य-संग्रह में आदिवासी जीवन स्थिति का यथार्थ चित्रण बखूबी ढंग से किया है । निर्मला पुतुल की कविता में शोषण के खिलाफ तीखा प्रतिरोध का स्वर सुनाई पड़ता है । इनकी कविताओं में आदिवासी स्त्री की अस्मिता के सवाल को बखूबी ढंग से उठाया गया है । इनकी कविता आदिवासी समाज के साथ स्त्री के विविध पहलुओं पर भी टिप्पणी करती है। उन्होंने झारखण्ड के वर्तमान पर आये विस्थापन के संकट को दर्शाया है । विकास की इस अंधी दौड़ में विनाशकारी शक्तियाँ झारखंड को लील गयी है ,क्या अब भी झारखंड में प्राकृतिक संसाधनों का खजाना बच पाया है ? वर्तमान समय में झारखंड के अस्तित्व पर संकट मंडराने लगा है उसकी भयावहता को कवयित्री ने अपनी कविता के माध्यम से बताने की कोशिश की है ।

हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन की अनुभव की प्रमाणिकता पर बल दिया गया है। आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री के दु:ख-सुख, आशा-आकांशा की अभिव्यक्ति हुई है । आदिवासी कविता में स्त्री की चीख और आर्त पुकार को पर्याप्त जगह मिली है। आदिवासी कविता की धारा शुरूआती दौर में चल रही है । आदिवासी इलाकों में बाहरी तत्त्वों की घुसपैठ सबसे बड़ी समस्या

रही है । दूसरी तरफ आदिवासी समाज की स्त्री दोहरे शोषण से पीड़ित है, क्योंकि एक तरफ दिकु समाज इनका शोषण करते हैं दूसरी ओर इन्हें सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया है । जहाँ एक स्त्री की पीड़ा, शोषण और अत्याचार के खिलाफ़ प्रतिरोध का स्वर निर्मला पुतुल की कविता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है–

'क्या तुम जानते हो पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकांत ?
तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गाँठ खोलकर
कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का खौलता इतिहास ?[2]

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था ने जंगलों का भारी दोहन किया है। देश के विकास के नाम पर चाहे उद्योग, कारखाने स्थापित हो, शहरों में मल्टीप्लेक्स बनाए हों, बहुउद्देशीय परियोजनाओं के तहत खनिज पदार्थों का उत्खनन किया हो जिनमें आदिवासी जमीन और जंगल से उखड़ते, उजड़ते रहे । दूसरे शब्दों में कहें तो विस्थापित आदिवासियों को केवल उनकी जड़ों से ही नहीं काटता, अपितु उनकी रोजी–रोटी का साधन (जंगल,जमीन) भी छीनता है और उन्हें पलायन के लिए मजबूर करता है। पलायन से आशय उसकी भाषा, संस्कृति और जमीन से बेदखल करना है। आदिवासी साहित्य इसी बेदखली, अस्मिता और पलायन की मज़बूरी के प्रति सचेत है और संघर्षरत है और प्रतिरोध के साथ अपनी आवाज बुलंद करता है–

कवि बिरसा के संघर्ष को दर्शाते हुए मुक्ति चेतना का आह्वान करते हैं, वे आदिवासी समाज की अस्मिता को बिरसा के आन्दोलन का रूप देना चाहते हैं । चकाचौंध के विकास में आदिवासी कहीं खो गया है, उन्हें कवि अपनी वाणी के द्वारा सचेत करने का प्रयास करता है । इसी आत्मविश्वास से प्रेरित होकर महादेव टोप्पो भी आदिवासी मुक्ति की बात करते हुए उलगुलान का आन्दोलन छेड़ देते हैं और कविता के माध्यम से अपनी कलम की प्रत्यंचा को कसकर संघर्ष की आधारभूमि तैयार करते है:

'वह धनुष उठाएगा
और जंगल के हरेपन की खातिर जंगल का कवि
मांदर बजाएगा–बांसुरी बजाएगा
चढ़ाकर प्रत्यंचा पर कलम'

आदिवासी अपने विस्थापन और सभ्यता से दूर रखे जाने के षड़यंत्र को धीरे–धीरे समझ रहा है, साथ ही साथ अपने समाज को सचेत करने की कोशिश कर रहा है । हरिराम मीणा का संवाद अंडमान निकोबार तक के आदिम मनुष्यों से होता है, वे उनकी खत्म होती हुई नस्लों पर चिंतित हैं । आदिवासी समाज की परम्परागत जीवन शैली खतरे में पड़ गई है, विस्थापन ने आदिवासी अस्तित्त्व को संकट में डाल दिया है और आदिवासी समाज की भाषाई अस्मिता पर संकट गहराता जा रहा है, इस चिंता को हरिराम मीणा अपनी कविता के केंद्र में रखकर आदिवासी समाज को सचेत करने की कोशिश करते है।

रणेंद्र ने 'पानी और स्त्री' शीर्षक कविता में पानी और स्त्री के अस्तित्त्व के संकट को मापने का प्रयास किया है – पानी और स्त्री को प्रतीकात्मक रूप में रखकर कवि ने आदिवासी जीवन –दर्शन को प्रकृति से जोड़कर देखा है – वे कहते हैं–

'भर बित्ता कीच में डूबी
रोपनी करती स्त्रियों की गीतों का
आखिरी बंद तक
साथ देता है पानी
पानी की कीमत
थार की स्त्रियाँ जानती हैं
या पहाड़ की,
भर फफोले तलाशते
उतर जाता है देह का पानी...[3]

हाल में ही पक्षधर पत्रिका के जुलाई–दिसम्बर अंक में विनोद तिवारी ने अनुज लुगुन की आदिवासी पर सबसे लम्बी कविता प्रकाशित की है,जिसका शीर्षक' बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' है। यह कविता हिन्दी की सबसे लम्बी कविता की श्रेणी में अपना स्थान रखती है । इस कविता में अनुज लुगुन ने सभ्यता के विकास में हो रहे बाघों की कमी को चिंता का विषय बनाया है, उन्होंने बाघ को प्रतीकात्मक रूप में मानकर प्रतिरोध के द्वारा वर्चस्व की सत्ता को चुनौती देने का काम किया है। 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' लम्बी कविता में 'बाघ' शीर्षक कविता के माध्यम से पूंजीपति व्यवस्था पर सीधा प्रहार करते हुए कहते हैं–

विश्व मानव–सभ्यता के इतिहास में इतना भयावह एवं क्रूर समय आदिवासियों के लिए कभी नहीं रहा जितना की पिछले तीस वर्षों का समय रहा है । राज्यसत्ता, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ मानव समुदाय के एक विशिष्ट तबके को समूल नष्ट करने पर तुली हुई है ।

रामदयाल मुंडा आदिवासी–जनमानस के पुत्र ही नहीं बल्कि वे आदिवासी मन के कवि भी हैं । उनकी कविता में आदिवासी समाज के अस्तित्व व पहचान का संकट, विस्थापन, घुसपैठ, बेरोजगारी, भूख आदि समस्याओं का जिक्र किया है । सरकारी नीतियों के कारण आदिवासी समाज के सामने रोजगार, उसकी भाषा, जीवन–शैली व संस्कृति और इतिहास पर आज संकट मंडरा रहा है। दिकु आदिवासी समाज को बहला फुसलाकर उनका धर्मांतरण करवा रहे हैं और उनकी संस्कृति को विकृत करने की लगातार कोशिश की जा रही हैं।

इस तरह संताली भाषा में निर्मला पुतुल, शिशिर टुडू व शिवलाल किस्कू आदि नाम कविता के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। ये अपनी आदिवासी भाषा संताली के साथ–साथ हिन्दी में भी लेखन करते रहे हैं अर्थात् इन्होंने अपनी मातृभाषा के साथ हिन्दी के क्षेत्र में अपना नाम कमाया है। संताली में सबसे अधिक चर्चित नाम निर्मला पुतुल का है जिनकी कविताओं ने हिन्दी जगत में एक तरह से नई क्रांति को जन्म दिया। इनके शुरू के दो संकलन 'नगाड़े की तरह बजते शब्द', 'अपने घर की तलाश में 'संताली से अनुवाद होकर हिन्दी में आए हैं बाद में इनका एक और 'बेघर सपने' नाम से कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। इसी तरह खड़िया भाषा में रोज केरकेट्टा, सरोज केरकेट्टा, ग्लेडसन डुंगडुंग ने भी अपनी मातृभाषा के साथ–साथ हिन्दी में भी कविताएँ लिखी है। खड़िया भाषा रोज केरकेट्टा झारखंड की सबसे पुराने हस्ताक्षरों में से एक है। इन्होंने कविता के साथ–साथ कहानियाँ भी लिखी हैं। इन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों का अनुवाद खड़िया भाषा में किया है। इनकी कविताएँ स्त्री एवं आदिवासी चेतना को लेकर लिखी गई है। 'पहरेदार' कविता पुरुषवादी समाज में स्त्री के साथ हो रहे बलात्कार के डर से आदिवासी समाज की औरतें अपने बच्चों को घर से बाहर नहीं निकलने देती हैं।

सरिता सिंह बड़ाईक नागपुरिया भाषा की आदिवासी कवयित्री है। वे हिन्दी–नागपुरिया दोनों भाषाओं में समान रूप से कविताएँ लिखती रही हैं। इनकी कविता में स्त्री मुक्ति के सवाल को बखूबी ढंग से उठाया गया है।

अत: कहा जा सकता है कि आदिवासी कविता का इतिहास साहित्य में नब्बे के दशक से शुरू होता है। इसी शुरुआत के साथ कवियों ने आदिवासी कविता को प्रतिरोध का नया हथियार बनाकर पूंजीवादी व्यवस्था पर तीखी चोट की हैं। क्योंकि आदिवासी कविता बिरसा की विचारधारा से लैस होकर जनजागृति का सन्देश देती है। इसी क्रम के साथ आदिवासी कविता की परम्परा और इतिहास आदिवासी साहित्य के लेखन के साथ विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है ।

संपर्क: पीएचडी, दलित-आदिवासी अध्ययन एवं अनुवाद केंद्र, हैदराबाद विश्वविद्यालय , हैदराबाद

○○○

ISSN 2320-0359
वर्ष-6, अंक-59, (अंक-179) अक्टूबर-दिसंबर, 2018

युद्धरत आम आदमी

वंचित समुदाय की सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक पत्रिका

संपादक
रमणिका गुप्ता

सहयोग राशि : 40 रु.

आवरण फोटो : सुनील अभिमान अवचार

Scanned by CamScanner

अनुक्रम अक्टूबर-दिसंबर, 2018

खरी-खरी बात

मोदी जी का अनुशासन भी एक जुमला ही है क्या? — रमणिका गुप्ता — 05

अनूदित कहानी

अंतिम निर्णय (गुजराती) — संजय चौहान, अनु. मीनाक्षी जोशी — 08

चिंगारी (गुजराती) — हिमांशी शैलत, अनु. रानू मुखर्जी — 11

कहानी

मेरा जुर्म क्या है — सुशांत सुप्रिय — 14

नई किरण — छाया सिंह — 16

मैं सीता नहीं हूं — प्रतिभा गगन सिंह — 20

गड़बड़झाला — मजीद अहमद — 23

रमणिका फाउंडेशन मासिक गोष्ठी (9 जून 2018)

कहानी

व्यतिरेक — हीरालाल — 25

कविता

अनिल गंगल — 31

रानी कुमारी — 35

आलोचना

समकाल पर धारदार अभिव्यंजना का सफल समुच्चय — जगदीश पंकज — 39

गोष्ठी : कविता-पाठ (14 अप्रैल-2018)

स्मिता सिन्हा — 43

आरती यादव — 45

चन्द्रदेव यादव — 46

मासिक गोष्ठी की रपट

रमणिका फाउंडेशन काव्य-गोष्ठी 14 जुलाई, 2018 — प्रस्तुति : टेकचंद — 50

मासिक गोष्ठी, 11 अगस्त, 2018 — प्रस्तुति : रानी कुमारी — 52

अनूदित साहित्य (अश्वेत कविताएं) — जॉर्जिया डगलस जॉनसन, अनु. विपिन चौधरी — 53

बंजारा कविता

ओम नागर — 54

जन कविता

सुरेशचन्द शुक्ल — 56

जसवीर त्यागी — 57

पुरुषोत्तम व्यास — 59

दलित कविता

मदनवीरा — 61

नीरा परमार — 62

कुसुम वियोगी — 64

सुदेश तनवर — 65

Scanned by CamScanner

शिव बोधि 66

ग़ज़ल

आर.डी. आनंद 68
शेखर चन्द्र 69
अमर पंकज झा 70

दस्तावेज

लघु पत्रिकाओं के समक्ष : चुनौतियां और कठिनाइयां — हरीश अड्यालकर 71
लघु पत्रिका आंदोलन : एक वास्तविक संकट — सदानंद शाही 73
लघु पत्रिकाएं और पाठक वर्ग : हमारे सपनों के मर जाने से बेहतर — अकिंचन 75
लघु पत्रिकाएं : नई चुनौतियां और दिशाएं — शंभुनाथ 76

आदिवासी दुनिया

आदिवासी अस्मिता और हिंदी कविता — श्रीलेखा के.एन. 78
आदिवासी कविता : इतिहास और वर्तमान — हनुमान सहाय मीणा 80

दलित दुनिया

1857 की क्रांति और दलित वीरांगना रणबीरी वाल्मीकि — नरेन्द्र वाल्मीकि 83
डॉ. अम्बेडकर एवं कार्लमार्क्स : वर्ण बनाम वर्ग — संजीव खुदशाह 84

स्त्री दुनिया

नारी सशक्तीकरण बनाम अशक्तीकरण — आकांक्षा यादव 87

संस्मरण

वह कमली — अनिता यादव 90

साक्षात्कार

संताली भाषा-साहित्यि के भीष्म पितामाह डॉमन साहू 'समीर' से युवा पत्रकार अशोक सिंह की बातचीत — अशोक सिंह 92
जम्मू मेरा है, फिरकापरस्तों का नहीं — दीपिका सिंह राजावत, अनु.-प्रमोद मीणा 96

लघुकथा

दलित प्रेम, एक कटोरा पानी, ईंट का मजहब, सीढ़ी सामाजिक दायित्व — मार्टिन जॉन 24, 63, 77, 86, 108

रपट

फासीवाद विरोधी मोर्चा संगोष्ठी सफलतापूर्वक संपन्न — प्रस्तुति : भगत सिंह छात्र मोर्चा 99
अभी इतना ही कहना है — इन्द्रेश मैखुरी 103
अन्तर्राष्ट्रीय जन लेखक संघ नेपाल का पुनर्गठन एवं स्रष्टा मिलन समारोह — प्रस्तुति : डम्बर पहाड़ी 104

रीडिंग रूम

आदिवासियत स्त्री चेतना की कहानियां : एक दृष्टि — लक्ष्मण लाल योगी 105
आज की दलित कविता : अनुभव और चिंतन — टेकचन्द 109
दलित कविता : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन — रणजीत सिंह 112
दिल्ली में गांव की कविताएं — पंकज चौधरी 114
लोक और वेद की शल्य-क्रिया करती एक पुस्तक — धर्मचन्द्र विद्यालंकार 116

Scanned by CamScanner

के साथ राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में भी इन जन-समुदायों का शोषण हो रहा है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी जीवन के इसी दुःख-दर्दपूर्ण स्थिति को अपनी कविताओं के केंद्र में रखा। यहीं नहीं लोककथा, लोकगीत और लोकभाषा तक सीमित इस साहित्यिक चिंतन को वैश्विक स्तर पर ले जाने में भी हिन्दी भाषा और हिंदी तथा अन्य भाषाओं के साहित्यकारों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। इसलिए आदिवासी अस्मिता और हिन्दी कविता प्रत्येक युग विशेष में प्रासंगिक है।

सन्दर्भ :

1. सं. रमणिका गुप्ता, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, पृ.-231
2. वहीं, पृ.-121
3. वहीं, पृ.-235
4. वहीं, पृ.-275
5. वहीं, पृ.-265
6. निर्मला पुतुल, अपने घर की तलाश में, रमणिका फाउंडेशन, पृ.-110
7. सं. रमणिका गुप्ता, कलम को तीर होने दो, पृ.-171

संपर्क : कोच्चिन विश्वविद्यालय, केरल
मो. : 8157845328

आदिवासी दुनिया

आदिवासी कविता : इतिहास और वर्तमान

हनुमान सहाय मीणा

आदिवासी साहित्य का लेखन मुख्यतः दो रूपों में सामने आता है–1. मौखिक साहित्य (लोककथा, लोकवार्ता, लोकगीत) 2. लिखित साहित्य। आदिवासी समाज में साहित्य की एक मौखिक परम्परा रही है। वर्तमान में अनेक आदिवासी लोकगीत, लोककथाएं, मिथक आदि संकलित और अनुदित होकर सामने आये हैं इनमें आदिवासी इतिहास, संस्कृति, मूल्य-मान्यताओं की झलक देखी जा सकती है। अतीत के अपने विकृत चित्रण को सही करने हेतु आदिवासी रचनाकार अपने समाज के लोकगीतों, लोककथाओं, मिथकों और स्मृतियों का सहारा ले रहे हैं। भगवानदास पटेल द्वारा संकलित 'भीलों का भारथ' भील लोकगीतों पर आधारित है ग्रंथ है, जिसमें महाभारत की सम्पूर्ण कथा न केवल अलग ढंग से कही गयी है अपितु वह महाभारत की जानी मानी कहानी के एकदम उलट है। रामदयाल मुंडा का ग्रंथ 'आदिधरम' भी आदिवासी समाज की प्राचीनता को सामने रखता है।

रमणिका गुप्ता आदिवासी साहित्य को परिभाषित करती हुई आदिवासी साहित्य के पहलुओं पर भी गौर करती हैं कि आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से सम्बंधित साहित्य है। आदिवासी-साहित्य, उन वन-जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है, जिनके आक्रोश पर मुख्यधारा की समाज-व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं धरे। यह गिरि-कंदराओं में रहने वाले अन्यायग्रस्तों का क्रांति-साहित्य है। सदियों से जारी क्रूर और कठोर न्याय-व्यवस्था ने, जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह का मुक्ति-साहित्य है आदिवासी साहित्य। *"वनवासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति की गोद मे छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम-वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है।"* अर्थात् आदिवासी साहित्य विद्रोह का साहित्य नहीं बल्कि प्रतिरोध का साहित्य भी है जो अपने समाज, संस्कृति, सभ्यता की बात करता है। वास्तव में आदिवासी साहित्य की अभिव्यक्ति में वेदना, विद्रोह एक प्रतिरोध की नयी जमीन तैयार करने का काम करता है। आदिवासी साहित्य मुक्ति की बात करता है, वह मुक्ति जो सत्ता के लुटेरों ने छीन ली है, जिसके लिए वे आज तक संघर्ष कर रहे है। आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी पुस्तक वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से 2002 में प्रकाशित हुई इसका संपादन रमणिका गुप्ता ने किया।यह पुस्तक आदिवासी चिंतन के विकास में नयी वैचारिकी का दस्तावेज है, जो आदिवासी विमर्श को नया आयाम देने का काम करती है। रमणिका गुप्ता की यह पुस्तक विविध विधाओं का एक संग्रह है जिसमें इन्होंने मूल भाषा और भारतीय भाषाओं की रचनाओं एक जगह समेटकर जनमानस तक पहुँचाने का काम किया। रमणिका गुप्ता ने इस पुस्तक में विशेष रूप से मूल भाषा के आदिवासी साहित्य को ही लिया इसलिए भी यह पुस्तक आदिवासी विमर्श का नया पहलू भी है। रमणिका ने इस पुस्तक

Scanned by CamScanner

के संपादकीय में भी लिखा है–"इसके पीछे हमारी मंशा बहुमुखी है–एक तो यह कि उनकी समस्याओं पर उनमें ही विश्लेषण करने और समाधान का रुझान पैदा हो, ताकि वे स्वयं नेतृत्वकारी भूमिका अदा कर अपने विकास की संभावनाओं को हर क्षेत्र में तलाशें और बहस चलायें। आज तक दूसरे ही लोग इन्हें उपदेश देते रहे हैं, ये स्वयं क्या चाहते हैं इसकी बजाय केवल यही कहते रहे हैं– *"बस सुनो य जो हम कहते हैं–यही तुम्हारे है–हमारे अनुभव से लाभ उठाओ।"* उन्हें न तो वे अपने अनुभवों से सीखने का अवसर देते हैं और ना ही कुछ कहने का। वाहरू सोनवणे ने 'स्टेज' कविता में इस प्रवृति को हू-ब-हू रखा है–

"हम स्टेज पर गए ही नहीं/और हमें बुलाया भी नहीं/उंगली के इशारे से/हमारी जगह हमें दिखाई गयी/वे स्टेज पर खड़े हो हमारा दुःख/हमें ही बताते रहे/हम बडबडाए कान देकर वे सुनते रहे/और हमारे कान पकड़ कर/हमें ही धमकाया माफी मांगो नहीं तो... ।"[2]

वर्तमान में आदिवासी अस्तित्त्व संकट के साथ पहचान की समस्या भी लगातार गहराती जा रही है। लोग उन्हें सामान्य मनुष्य की तरह नहीं बल्कि जंगली, वनवासी, असभ्य और संविधान में आरक्षित मनुष्य के रूप में परिभाषित करते हैं। आदिवासी समाज की इस विडम्बनापूर्ण महादेव टोप्पो की कविता 'त्रासदी' अभिव्यक्त करती है–

इस देश में पैदा होने का/मतलब क्या है/जानते हो मेरे भाई? नहीं?/इस देश में पैदा होने का मतलब है–/आदमी का जातियों में बंट जाना/और गलती से अगर हो गए पैदा/जंगल में/तो तुम कहलाओगे / आदिवासी - वनवासी -गिरिजन/वगैरह वगैरह/आदमी तो कम से कम/कहलाओगे नहीं ही... ।[3]

निर्मला पुतुल की कविता में शोषण के खिलाफ तीखा प्रतिरोध का स्वर सुनाई पड़ता है। इनकी कविताओं में आदिवासी स्त्री की अस्मिता के सवाल को बखूबी ढंग से उठाया गया है। इनकी कविता में आदिवासी समाज के साथ स्त्री के विविध पहलुओं पर भी टिप्पणी करती है। निर्मला पुतुल की कविता 'अपने घर की तलाश' में 'तुम कहाँ हो माया' शीर्षक कविता में स्त्री की अस्मिता का सवाल उठाया गया है–

"दिल्ली के किस कोने में हो तुम?/मयूर विहार, पंजाबी बाग या शाहदरा में?/कनाट प्लेस की किसी दुकान में/सेल्सगर्ल हो या/किसी हर्बल कंपनी में पैकर?/कहाँ हो तुम माया? कहाँ हो?"[4]

इस कविता के माध्यम से निर्मला पुतुल ने झारखंड की सच की यथास्थिति का बयान बखूबी ढंग से किया है। उन्होंने झारखण्ड के वर्तमान पर आये विस्थापन के संकट को और विकास की इस अंधी दौड़ में विनाशकारी शक्तियाँ लील गयी है। क्या अब भी झारखंड में प्राकृतिक संसाधनों का खजाना बच पाया है? वर्तमान समय में झारखंड के अस्तित्व पर संकट मंडराने लगा है उसकी भयावहता को कवयित्री ने अपनी कविता के माध्यम से बताने की कोशिश की है। उनकी एक कविता का अंश 'झारखंड का सच' नाम से है जो इस प्रकार है–

यहाँ चारों तरफ लूट मची है/जो जहाँ बैठा, वही से लूट रहा है/और बात-बात पर एक दूसरे पर दोषारोपण करते/सरकार गिराने की बात करता है।/अजीब तमाशा हैं हमारे झारखंड की राजनीति का/कोई सरकार बनाने की बात करता है तो कोई/सरकार गिराने की/तो कोई बचाने के लिए करता है सौदा/ऐसे में तो पाटों के बीच पीस रही है जनता/और विकास के नाम पर विस्थापन झेल रही है..."[5]

समकालीन हिंदी कविता आदिवासी स्त्री की तथाकथित स्त्री की आजादी पर प्रश्नचिह्न लगाती है। हिंदी कविता में आदिवासी जीवन के आधार और अनुभव की प्रमाणिकता पर रहा है। आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री के दुःख-सुख, आशा-आकांशा की अभिव्यक्ति हिंदी कविता में हुई है। आदिवासी कविता में स्त्री की चीख और आर्त पुकार को पर्याप्त जगह मिली है। हरिराम मीना लिखते हैं–"आदिवासी कविता अभी शुरुआती दौर में चल रही है। आदिवासी इलाकों में बाहरी तत्त्वों की घुसपैठ सबसे बड़ी समस्या रही है। यहीं से आदिवासी जीवन की पवित्रता में प्रदुषण शुरू होता है और अंत में आदिवासी अस्तित्व का संकट।" इस तरह आदिवासी समाज की स्त्री दोहरे शोषण से पीड़ित है क्योंकि एक तरफ दिकु समाज के लोग इनका शोषण करते है दूसरी ओर इन्हें सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया है। एक स्त्री की पीड़ा, शोषण और अत्याचार के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर निर्मला पुतुल की कविता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है–

"क्या तुम जानते हो पुरुष से भिन्न/एक स्त्री का एकांत?/तन के भूगोल से परे/एक स्त्री के के/मन की गाँठ खोलकर/कभी पढ़ा है तुमने/उसके भीतर का खौलता इतिहास?"[6]

महाराष्ट्र के आदिवासी कवि भुजंग मेश्राम अपनी कविता के

Scanned by CamScanner

द्वारा बिरसा की यशोभूमि का गान करते हुए मुक्ति की बात करते है, वे बिरसा को याद करते हुए कहते है–

"बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा/घास काटती दरांती हो या लकड़ी काटती टांगी/यहाँ-वहां पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण/खेतों की बयार बन कर/कहीं से भी आ मेरे बिरसा लोग तेरी बाट जोहते।"

आदिवासी अपने विस्थापन और सभ्यता से दूर रखे जाने के षडयंत्र को धीरे-धीरे समझ रहा है, साथ ही साथ अपने समाज को सचेत करने की कोशिश कर रहा है। हरिराम मीणा का संवाद अंडमान निकोबार तक के आदिम मनुष्यों से होता है, वे उनकी खत्म होती हुई नस्लों पर चिंतित हैं, जमीनों से उनकी बेदलखी पर वे कह उठते हैं–

"कैसे करोगे साबित/सभ्यता की इस अदालत में/कि यह भौम (जमीन) तुम्हारी थी।"

आदिवासी समाज की परम्परागत जीवन शैली खतरे में पड़ गई है, विस्थापन ने आदिवासी अस्तित्त्व को संकट में डाल दिया है। और आदिवासी समाज की भाषाई अस्मिता पर संकट गहराता जा रहा है, इस चिंता को हरिराम मीणा अपनी कविता के केंद्र में रखकर आदिवासी समाज को सचेत करने की कोशिश करते है–

"एकांत को बनना चाहिए कोई विकल्प/विराट ऊर्जा का स्रोत.../वे ऐश्वर्य ओढ़कर सोते हैं निश्चित/हम संघर्ष की सूली पर चढ़कर/भविष्य के आकाश में तलाशते है–/स्वयं का परिचय और स्थान तनिक सोचो/इस निर्जन एकाकी कारा में भी/मैं कहाँ हुआ निरुत्साहित।"

सत्ता के नाम विकास का ढोंग रचने वाले ये जन-लुटेरे अपनी जेब भरने के लिए कुकर्म करने से भी नहीं कतराते। समय की भयावहता कवि विनोद दास ने अपनी कविता 'आदिवासियों का गीत : तीन कविताएँ' में जन-लुटेरे के कुकृत्यों का पर्दाफाश करते हैं–

"यही वह वक्त होता है/आती है शहर से एक जीप/उड़ाती हुई धूल हमारी इच्छाओं पर/उतरते हैं टाई पहने साहब/हुक्म देते हैं हम देखेंगे नाच... ।"

रणेंद्र ने 'पानी और स्त्री' शीर्षक कविता में पानी और स्त्री के अस्तित्त्व के संकट को मापने का प्रयास किया है। पानी और स्त्री को प्रतीकात्मक रूप में रखकर कवि ने आदिवासी जीवन-दर्शन को प्रकृति से जोड़कर देखा है। वे कहते हैं–

"भर बित्ता कीच में डूबी/रोपनी करती स्त्रियों की गीतों का/आखिरी बंद तक/साथ देता है पानी/पानी की कीमत/धार की स्त्रियाँ जानती हैं/या पहाड़ की,/भर फफोले तलाशते/उतर जाता है देह का पानी... ।"

हाल में ही पक्षधर पत्रिका के जुलाई-दिसम्बर अंक में विनोद तिवारी ने अनुज लुगुन की आदिवासी समुदाय पर सबसे लम्बी कविता प्रकाशित की है जिसका शीर्षक' बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' यह कविता हिंदी की सबसे लम्बी कविता की श्रेणी में अपना स्थान रखती है। इस कविता में अनुज लुगुन ने सभ्यता के विकास में हो रहे बाघों की कमी को चिंता का विषय बनाया है उन्होंने बाघ को प्रतीकात्मक रूप में मानकर प्रतिरोध के द्वारा वर्चस्व की सत्ता को चुनौती देने का काम किया है। 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' लम्बी कविता में 'बाघ' शीर्षक कविता के माध्यम से पूंजीपति पर सीधा प्रहार करते हुए कहते हैं–

"जंगल पहाड़ी के इस ओर है और/बाघ पहाड़ी के उस पार/पहाड़ी के उस पार महानगर है,/उसने अपने नाखून बढ़ा लिए हैं/उसकी आंखे/पहले से ज्यादा लाल और प्यासी हैं/वह एक साथ/कई गाँवों में हमला कर सकता है/उसके हमलों ने/समूची पृथ्वी को दो हिस्सों में बाँट दिया है. .. ।"

आदिवासी कविताएँ आदिवासी अस्मिता, पहचान, संस्कृति तथा जल, जंगल, जमीन को बचाने की मुहिम का हिस्सा नहीं बल्कि आदिवासी चेतना का प्रतीक भी है। आदिवासी कविता आदिवासियों के इतिहास से भी परिचित कराती हुई लोकमानस में जनसंचार की भावना पैदा करती है।

संदर्भ :

1. रमणिका गुप्ता, आदिवासी साहित्य-यात्रा, पृ.-24
2. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, 2002, नयी दिल्ली, (संपादकीय से)
3. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, 2002, नयी दिल्ली, पृ.-49
4. निर्मला पुतुल, 'अपने घर की तलाश में', पृ.-31
5. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, पंचकूला, हरियाणा प्रकाशन, 2014, पृ.-85
6. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, 2002, नयी दिल्ली, पृ.-25
7. रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, पृ.-19

❑

संपर्क : 146, ए ब्लॉक, शिवशक्ति नगर, मॉडल टाउन, जगतपुर रोड, जयपुर-302017, मो.-09079419050

Scanned by CamScanner

क्रम सं. 56

हिन्दी विभाग

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

द्वारा आयोजित एवं

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली तथा

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित

Indian Council of Social Science Research

द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी

'आदिवासी लेखन : अस्तित्व एवं अस्मिता का सवाल'

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/श्रीमती/प्रो./डॉ. हनुमान सहाय मीणा

पद शोधार्थी हिन्दी संस्था हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने हिन्दी विभाग जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा दिनांक 08-09 मार्च, 2014 को आयोजित 'आदिवासी लेखन : अस्तित्व एवं अस्मिता का सवाल' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में मुख्य अतिथि/सत्राध्यक्ष/विषय-विशेषज्ञ/पत्र-वाचक/सक्रिय प्रतिभागी के रूप में उपस्थित होकर आदिवासी अस्मिता और समकालीन हिन्दी कविता विषयक पत्र-वाचन कर संगोष्ठी को गरिमा प्रदान की।

(प्रो. रामवीर सिंह शर्मा)	(डॉ. प्रवीण चंद)	(डॉ. कुलदीप सिंह मीणा)
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग	आयोजन सचिव	निदेशक, राष्ट्रीय संगोष्ठी

Scanned by CamScanner

राष्ट्रीय संगोष्ठी

आदिवासी जीवन और साहित्य

03-04 दिसम्बर 2017

आयोजन

हिन्दी विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी एवं साहित्यिक पत्रिका 'अनिश'

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि डॉ. / श्री / श्रीमती / कुमारी ...हनुमान सहाय मीणा,... शोध छात्र, हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने हिन्दी विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी और साहित्यिक पत्रिका 'अनिश' के संयुक्त तत्वावधान में 'आदिवासी जीवन और साहित्य' विषय पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में भागीदारी की और ...हिन्दी आदिवासी कविता में प्रतिरोध का स्वर... शीर्षक से अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

डॉ. बिपिन कुमार
संयोजक

डॉ. प्रभाकर सिंह
आयोजन सचिव

प्रो. अशोक सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग / संरक्षक

Scanned by CamScanner